पाश्चात्य तर्कशास्त्र

पहिला अध्याय

परिचय-प्रकरण

		पृष्ठ
§ १.	विषय-प्रवेश	१
	रूपविषयक शास्त्र	३
§ २.	विचार	४
§ ३.	तीन वाद	६
	(१) वस्तुवाद	६
	(२) कल्पनावाद	७
	(३) नामवाद	८
§ ४.	विचार और भाषा	९
§ ५.	विचार के रूप और विषय	[illegible]
§ ६.	'रूपविषयक' कहाँ तक ?	१[illegible]
	रूपविषयकता पर अनुचित जोर	१५
	उनकी गलती	१[illegible]
§ ७.	ज्ञान	१६
§ ८.	ज्ञान के मार्ग	
	(क) प्रत्यक्ष	
	(ख) अनुमान	

पृष्ठ

(ग) आप्तवचन २१

तर्कशास्त्र का सम्बन्ध किससे ? २२

§ ९. अनुमान की दो विधियाँ २३

(क) निगमन विधि २३

(ख) व्याप्ति विधि २५

§ १०. अनुमान के पहले २६

§ ११. कुछ दूसरे आवश्यक प्रकरण २७

§ १२. तर्कशास्त्र या तर्कविद्या २८

तर्कशास्त्र पर आक्षेप २९

§ १३. दार्शनिक लॉक की आपत्ति ३०

§ १४. विज्ञान-शास्त्र और विधानशास्त्र ३१

§ १५. मानसशास्त्र और तर्कशास्त्र ३२

§ १६. तर्कशास्त्र और तत्वशास्त्र ३४

§ १७. तर्कशास्त्र के कुछ लक्षण ३५

दूसरा अध्याय

पद-प्रकरण

१. प्राक्कथन ३९

२. 'पद' क्या है ? ४१

३. पद के दो बोध ४२

. दोनों बोधों का परस्पर सम्बन्ध ४४

पृ०

§ ५. नये पदों की उत्पत्ति — ४७
§ ६. 'बोध' का अर्थ ४८
§ ७. परस्पर ह्रास-वृद्धि का कोई निश्चित नियम नहीं ४८
§ ८. पदों का विभाजन — ४९

(क) एकशब्दात्मक—अनेकशब्दात्मक ५०
(ख) व्यक्तिवाचक—जातिवाचक ५०
(१) सार्थक व्यक्तिवाचक ५१
(२) यादृच्छिक व्यक्तिवाचक ५२
(ग) समूहवाचक-असमूहवाचक ५२
(घ) द्रव्यवाचक-भाववाचक ५३
(ङ) विधि-निषेध-अभाव ५४
(च) स्वतंत्र-सम्बद्ध ५५
(छ) स्वभाववाचक-निःस्वभाववाचक ५६

§ ९. पदों में परस्पर सम्बन्ध — ५७

(क) जाति-उपजाति ५
(ख) सजाति-सजाति ५
(ग) आसन्न जाति—आसन्न उपजाति १
(घ) दूरस्थ जाति—दूरस्थ उपजाति १५
(ङ) महा जाति
(च) अन्त्य जाति ६

§ १०. पदों में परस्पर भेद —

(क) भेदक
(ख) विरुद्ध

तीसरा अध्याय

लक्षण-प्रकरण

लक्षण-प्रकरण	६०
§ १. लक्षण की आवश्यकता	६२
§ २. तीन धर्म	६२
(१) स्वभाव धर्म	६३
(२) स्वभावसिद्ध धर्म	६३
(३) आकस्मिक धर्म	६३
§ ३. लक्षण का लक्षण	६४
§ ४. लक्षण के नियम और उसके दोष	६५
§ ५. लक्षण की सीमायें	६८

चौथा अध्याय

विभाग-प्रकरण

. विभाग के प्रकार	७०
(१) शारीरिक विभाग	७०
(२) आभिधर्मिक विभाग	७०
(३) शास्त्रीय विभाग	७०
२. विभाजक धर्म	७०
३. शास्त्रीय विभाग के नियम और दोष	७१
४. भावाभावात्मक विभाग	७३

पाँचवाँ अध्याय

वाक्य-प्रकरण

पहला भाग

(वाक्य का रूप)

	पृ०
§ १. पद और वाक्य	७६
विचार की इकाई	७६
§ २. विधेय पद के प्रकार	७७
§ ३. उद्देश पद के सम्बन्ध में विधेय पद	७८
§ ४. वाक्य क्या है ?—	७९
§ ५. वाक्य के अंग	८०
संयोजक का स्वरूप	८१
संयोजक में काल	८१
संयोजक और निषेध	८२
§ ६. लौकिक वाक्य और तार्किक वाक्य	८२
§ ७. वाक्य के अभिप्राय की परिधि	८५
§ ८. विधान के सिद्धान्त	८८
(१) विधान-वाद	८९
(२) व्यक्तिबोध-वाद	८९
(३) स्वभावबोध-वाद या धर्मवाद	८९
(४) समन्वयवाद	९०

छठा अध्याय

वाक्य-प्रकरण

दूसरा भाग

(वाक्य के प्रकार)

	पृ०
§ १. रचना की दृष्टि से, शुद्धवाक्य—मिश्रवाक्य	९२
§ २. सम्बन्ध की दृष्टि से	९३
(१) निरपेक्ष	९३
(२) सापेक्ष	९३
क. हेतुफलाश्रित वाक्य	९३
ख. वैकल्पिक वाक्य	९४
§ ३. गुण की दृष्टि से	९६
विधि-वाक्य—निषेध-वाक्य	९६
§ ४. अंश की दृष्टि से	९८
(१) सामान्य-वाक्य	९८
(२) विशेष-वाक्य	९८
एकवचनात्मक-वाक्य	९९
अनुक्तांश-वाक्य	१००
§ ५. गुण और अंश, दोनों की सम्मिलित दृष्टि से	१००
§ ६. बलाबल की दृष्टि से	१०२
निश्चित-प्रतिज्ञात-संदिग्ध	१०२

	पृ०
§ ७. तात्पर्य की दृष्टि से	१०२
शाब्दिक वाक्य	१०३
यथार्थ वाक्य	१०३
संश्लेषक वाक्य	१०४

सातवाँ अध्याय

वाक्य-प्रकरण

तीसरा भाग

(वाक्य में पदों के विस्तार)

§ १. वाक्य में पदों के विस्तार	१०५
§ २. विधेय के भी अंश का निर्देश कर वाक्य के आठ रूपों की स्थापना	१०८
§ ३. वाक्यों का चित्रीकरण	११
§ ४. वाक्यों के चित्रीकरण की समीक्षा	११५
§ ५. भेदसूचक वर्ग	११८
(१) विरोध	११९
(२) भेदकता	११
(३) उपभेदकता	१
(४) समावेशता	१

आठवाँ अध्याय

अनुमान-प्रकरण

निगमन-विधि

पहला भाग

अनन्तरानुमान

	पृ०
§ १. प्राक्कथन	१२०
§ २. पद-व्यत्यय	१२४
व्यत्यय के दो रूप	१२७
सम्बन्ध-व्यत्यय	१२८
§ ३. परिवर्तन	१२८
वस्तुभूत परिवर्तन	१३१
§ ४. परिवर्तित-व्यत्यय	१३१
परिवर्तित-व्यत्यय सीधा सम्भव नहीं	१३४
§ ५. विपर्यय	१३५
§ ६. वाक्य के बलाबल पर अनुमान	१४०
§ ७. वाक्य के सम्बन्ध का परस्पर रूपान्तर	१४१
(१) निरपेक्ष से हेतुफलाश्रित	१४२
(२) हेतुफलाश्रित से निरपेक्ष	१४३
(३) वैकल्पिक से हेतुफलाश्रित	१४४

पृष्ठ

(४) हेतुफलाश्रित से वैकल्पिक १४४

§ ८. विशेषण संयोगानुमान १४४

§ ९. मिश्रप्रत्ययानुमान १४६

नवाँ अध्याय

अनुमान-प्रकरण

निगमन-विधि

दूसरा भाग

परंपरानुमान

न्यायवाक्य

(क. शुद्ध)

§ १. न्यायवाक्य क्या है ? १४७

§ २. न्यायवाक्य का स्वरूप १४८

§ ३. प्राच्य और पाश्चात्य पद्धतियों में न्यायवाक्य १५१

§ ४. न्यायवाक्य के प्रकार १५५

(१) शुद्ध निरपेक्ष न्यायवाक्य १५५

(२) शुद्ध हेतुफलाश्रित न्यायवाक्य १५६

(३) मिश्र न्यायवाक्य १५६

(क) हेतुफलाश्रित निरपेक्ष १५६

(ख) वैकल्पिक निरपेक्ष १५६

(ग) मेण्डक-प्रयोग १५७

	पृष्ठ
§ ५. न्यायवाक्य में चार क्रम	१५७
§ ६. आधारवाक्यों के सम्भव संयोग	१६०
§ ७. न्यायवाक्य के साधारण नियम	१६१
§ ८. साधारण नियमों से सिद्ध संयोग	१७३
§ ९. पहले क्रम के सिद्ध संयोग	१७४
§ १०. पहले क्रम के अपने नियम	१७९
§ ११. दूसरे क्रम के सिद्ध संयोग	१८१
§ १२. दूसरे क्रम के अपने नियम	१८४
§ १३. तीसरे क्रम के सिद्ध संयोग	१८६
§ १४. तीसरे क्रम के अपने नियम	१९०
§ १५. चौथे क्रम के सिद्ध संयोग	१९३
§ १६. चौथे क्रम के अपने नियम	१९६
§ १७. संक्षेप	१९८
§ १८. सिद्ध-न्यायवाक्य-संयोगों का परस्पर रूपान्तर	२००
(क) रूपान्तर-करण	२०१
(ख) रूपान्तरकरण के संकेत	२०२
(ग) अनुलोम विधि से रूपान्तर-करण	२०४
(घ) प्रतिलोम विधि से रूपान्तर-करण	२०९
§ १९. 'आवश्यकमात्र' और 'आवश्यकाधिक' न्यायवाक्य	२२१
§ २०. 'मंद' और 'अमंद' न्यायवाक्य	२२२
§ २१. 'सबल' और 'यथाबल' न्यायवाक्य	२२३
§ २२. शुद्ध हेतुफलाश्रित न्यायवाक्य	२२४
§ २३. कुछ द्रष्टव्य उपनियम	२२६

निगमन-विधि

दूसरा भाग

परंपरानुमान

न्यायवाक्य

(ख. मिश्र)

	पृ०
§ १. हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष न्यायवाक्य	२३३
(क) विधायक हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष न्यायवाक्य	२३४
(ख) विघातक ,,	२३५
(ग) इन न्यायवाक्यों के दोष	२३६
§ २. वैकल्पिक-निरपेक्ष न्यायवाक्य	२३८
§ ३. मेण्डक-प्रयोग	२४०
१. मेण्डक-प्रयोग के रूप	२४१
(क) शुद्ध विधायक	२४२
(ख) युक्त विधायक	२४३
(ग) शुद्ध विघातक	२४३
(घ) युक्त विघातक	२४४
२. मेण्डक-प्रयोग का प्रत्याख्यान	२४४
३. मेण्डक-प्रयोग की शुद्धि	२४७
(क) रूपविषयक शुद्धि	२४७
(ख) विषयविषयक शुद्धि	२४९

निगमन-विधि

दूसरा भाग

परंपरानुमान

न्यायवाक्य

(ग. संक्षिप्त)

पृ०

§ १. संक्षिप्त न्यायवाक्य २५२

न्यायवाक्य

(घ. युक्ति-माला)

§ १. युक्ति-माला, अनुलोम और प्रतिलोम २५४

न्यायवाक्य

(ङ. संक्षिप्त युक्तिमाला)

§ २. संक्षिप्त-अनुलोम-युक्तिमाला २५६

(क) अरस्तू के मत से २५७

(ख) गोक्लेनियस् के मत से २५८

§ ३. दोनों प्रकारों में अन्तर २५९

§ ४. संक्षिप्त-अनुलोम युक्तिमाला के नियम २६०

§ ५. संक्षिप्त-प्रतिलोम-न्यायमाला २६१

(१) सरल-अनुभय २६२

(२) सरल-उभय २६३
(३) अनुभय-संकुल २६४
(४) उभय-संकुल २६५

१. परिशिष्ट

विचार की मर्यादा

§ १. विचार की मर्यादा के तीन नियम २६९
§ २. तदात्मभाव २७१
मिल महाशय की परिभाषा २७२
साधारण रूप २७३
आपत्ति २७४
समान-ग्रहण २७४
उपसंहार २७५
§ ३. तद्भिन्न-परिहार २७५
§ ४. झूठे हैं का कुतर्क २७७
समस्या २७७
समाधान २७८
§ ५. मध्ययोगपरिहार २७९
§ ६. मध्ययोगपरिहार पर आपत्ति २७९
§ ७. विचार की मर्यादा क्या विषय की भी मर्यादा है ? २८०
§ ८. नियमों में परस्पर सम्बन्ध २८१
§ ९. अनन्तरानुमान से इनका सम्बन्ध २८२
§ १०. परंपरानुमान से इनका सम्बन्ध २८५

२. परिशिष्ट

पृ०

नाम, पद और प्रत्यय २८७-२९२

३. परिशिष्ट

तर्कशास्त्र में चित्री-करण २९३-३०२

४. परिशिष्ट

अनन्तरानुमान

§ १. अरस्तू द्वारा प्रामाणिकता का प्रतिपादन ३०३
§ २. अनन्तरानुमान का परंपरानुमान में रूपान्तर ३०३
§ ३. इन विधियों में अनुमान की मात्रा कहाँ तक ? ३०५
समावेश ३०६
संकेतों के उपयोग से समस्या ३०६
दो दृष्टियाँ ३०७
व्यत्यय में अनुमान की मात्रा ३०८
परिवर्तन में अनुमान की मात्रा ३११

५. परिशिष्ट

न्यायवाक्य की उपयोगिता तथा प्रामाणिकता
पर मिल की आपत्ति ३१२-३१७

६. परिशिष्ट

निगमन-विधि में होने वाले दोष ३१८-३२१

७. परिशिष्ट

प्रश्नावली ३२२-३४७

पाश्चात्य तर्कशास्त्र

पहिला अध्याय

परिचय-प्रकरण

§ १—विषय-प्रवेश

पाश्चात्य तर्कशास्त्र का आदि प्रणेता प्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक अरस्तू (Aristotle) माना जाता है, जिसका काल चौथी शताब्दी ईसा पूर्व है। ग्रीक भाषा में तर्कशास्त्र को 'लॉजिक' (Logic) कहते हैं। इसकी व्युत्पत्ति 'लोगस' शब्द से है, जिसका अर्थ है 'वाणी' और 'विचार'। 'लॉजिक' शब्द का इस तरह द्व्यर्थक होना बड़ा सार्थक है, क्योंकि इस शास्त्र का मुख्य उद्देश्य न्यायसंगत 'वाणी' और 'विचार' का अध्ययन करना है, जिससे हम असत्य से बचकर सत्य का लाभ कर सकें।

शास्त्र का क्षेत्र

वनस्पतिशास्त्र, रसायनशास्त्र, वैद्यकशास्त्र आदि जितने शास्त्र हैं सभी के क्षेत्र अपने अपने भिन्न हैं। वनस्पतिशास्त्र वनस्पतिजगत् का अध्ययन करके यह समझने की कोशिश करता है कि उसकी व्यवस्था में कौन-कौन से सिद्धान्त काम कर रहे हैं। इसी तरह, दूसरे शास्त्र भी अपने अपने क्षेत्र की व्यवस्था को अधिक से अधिक जानना चाहते हैं।

बहुत निरीक्षण और परीक्षा करने के बाद हम एक सिद्धान्त बनाते हैं कि इस क्षेत्र में ऐसी-ऐसी अवस्थाओं में ऐसे परिणाम होते हैं। अमुक

रासायनिक द्रव्यों के अमुक अनुपात में सम्मिश्रण होने से अमुक गैस पैदा होते हैं, अमुक अमुक कुपथ्य होने से अमुक रोग होते हैं, इत्यादि। किंतु बहुधा ऐसा भी होता है कि एक सिद्धान्त स्थापित हो चुकने के बाद आगे चल कर ऐसे उदाहरण उपस्थित होते हैं जो उस सिद्धान्त के विरुद्ध ठहरते हैं, और वह सिद्धान्त दूषित ठहरता है। तब, इन नये उदाहरणों की दृष्टि से उस सिद्धान्त में फिर संशोधन करना होता है। बहुत दिनों तक ज्योतिष-शास्त्र यह सिद्धान्त मानता रहा कि सौर्यमण्डल का केन्द्र पृथ्वी है, और सूर्य पृथ्वी के चारों ओर घूमता है। फिर, बाद में यह सिद्ध हुआ कि सौर्य-मण्डल का केन्द्र पृथ्वी नहीं किंतु सूर्य है। इसी भाँति प्रत्येक शास्त्र में अनेक उदाहरण मिलेंगे कि सिद्धान्त स्थापित हो जाने के बाद भी आगे चल कर वे खण्डित हो जाते हैं। ज्ञान-विज्ञान के विकास का यही मार्ग है।

यदि इसे देख कर कोई यह कहे कि 'इन शास्त्रों का क्या विश्वास जो कभी कुछ कहते हैं और फिर बदल कर कभी कुछ' तो यह पण्डिताई की बात नहीं होगी। मनुष्य अत्यन्त अल्प प्राणी है। प्रकृति की गहन जटिल समस्याओं को समझने में यदि उसे बार बार गिरना पड़े तो इसमें क्या आश्चर्य है! इतना तो अवश्य है कि प्रत्येक बार गिर कर वह कुछ न कुछ सीखता ही है, और सत्य से निकटतर से निकटतम होता है। इसी प्रेरणा से अग्रसर होते संसार के जितने शास्त्र हैं इस विकास को प्राप्त हुए हैं।

हाँ, तो प्रस्तुत प्रश्न यह कि 'तर्कशास्त्र' का अपना विषय क्या है? संसार के किस क्षेत्र की व्यवस्था को 'तर्कशास्त्र' अध्ययन करता है?

तर्कशास्त्र "शास्त्रों का शास्त्र"[१] कहा गया है। इसका अर्थ यह नहीं कि तर्कशास्त्र जितने भी शास्त्र हैं सभी के विषयों को एक साथ अध्ययन करना चाहता है। शायद यह सम्भव भी नहीं है। इसको

---

[१] The Science of Sciences.

'शास्त्रों का शास्त्र' इसलिये कहा है कि यह उन सामान्य सिद्धान्तों का अध्ययन करता है जिनसे सभी शास्त्रों की विचार-पद्धति व्यवस्थित है। शास्त्रों के विषय अलग अलग होने पर भी उनके विचार करने की पद्धति समान सिद्धान्तों पर ही आश्रित है, जो विचार-व्यवस्था की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं कर सकतो। हमें किसी विशेष शास्त्र का ज्ञान भले ही कुछ न हो, किन्तु जिन तर्कों से वह एक बात का प्रतिपादन करता है वह न्यायसङ्गत है या नहीं इसकी हम अवश्य परीक्षा कर सकते हैं। विषय भिन्न भिन्न होने पर भी हमारे विचार की साधारण सरणी भिन्न नहीं होती। उसी साधारण सरणी के स्वरूप और मर्यादा का अध्ययन करना तर्कशास्त्र का अपना विषय है। जब कभी मनुष्य उन मर्यादाओं का, जान या अनजान, उल्लंघन कर देता है तो उसके निष्कर्ष झूठे उतरते हैं। मानव-इतिहास के प्रत्येक क्षेत्र से ऐसे उदाहरणों का संग्रह कर सकते हैं जो यह दिखाते हैं कि किस प्रकार विचार-संकलन के अयुक्त होने के कारण अनर्थ परिणाम हुए हैं। वैद्य के विचार में भूल हो जाने से रोगी का प्राणान्त हो जाता है; कप्तान के विचार में भूल होने से सारा जहाज संकटापन्न हो जाता है, इत्यादि। तर्कशास्त्र इन उदाहरणों का अध्ययन करता है और समझना चाहता है कि समंजस व्यवस्थित विचार के नियम क्या हैं, जिनका पालन करना सत्य-समाधान के लिये आवश्यक है, और जिनका उल्लंघन होने से कुपरिणाम होते हैं। ऐसे उदाहरण वनस्पतिशास्त्र, रसायनशास्त्र, भूगर्भशास्त्र, प्राणी-शास्त्र, अथवा किसी भी शास्त्र के विचारकों के विचार से लिये जा सकते हैं। इसी कारण 'तर्कशास्त्र' को 'शास्त्रों का शास्त्र' कहते हैं।

रूपविषयक शास्त्र

तब, कह सकते हैं कि तर्कशास्त्र के अपने अध्ययन का विषय 'विचार' है। 'विचार' का विषय क्या है इससे तर्कशास्त्र का सीधा सम्बन्ध नहीं।

इस अर्थ में तर्कशास्त्र अंकगणित के प्रकार का है। अंकों का हिसाब लगा देना भर गणित का काम है। उसे इसकी परवाह नहीं कि दो और दो मिल कर जो चार हुए वे बैल थे, या लड़के, या मिट्टी की गोलियाँ। चाहे विषय कुछ भी क्यों न हो, गणित का यह रूप कि '२ + २ = ४' सभी जगह समान रूप से सत्य है। उसी तरह, तर्कशास्त्र 'विचार' के उन रूपों का पता लगाता है जो, जिनके विषय चाहे कुछ भी क्यों न हों, सर्वथा सत्य न्यायसंगत निष्कर्ष दें। इसी कारण 'तर्कशास्त्र' बहुधा 'रूप-विषयक' (Formal) शास्त्र कहा जाता है।

किन्तु 'विचार' के 'रूप' को उसके 'विषय' से सर्वथा पृथक् कर अध्ययन करना कहाँ तक सम्भव है यह एक परीक्षणीय बात है। इसकी परीक्षा हम आगे चल कर करेंगे कि तर्कशास्त्र कहाँ तक 'रूप-विषयक' है और कहाँ तक 'विषय-विषयक'।[1]

§ २—विचार[2]

तर्कशास्त्र के अध्ययन का विषय है 'विचार'। तो जानना चाहिये कि 'विचार' क्या है।

सामने से हो कर एक चौपाया जानवर गुजरता है। उसे देख कर अंग-प्रत्यंगों सहित उसे हम स्पष्ट जान लेते हैं, और बाहर उसकी वास्तविक स्थिति का अनुभव करते हैं। उसके चले जाने पर मन में उसका एक प्रतिबिम्ब सा रह जाता है, जो कालान्तर में धुंधला हो जाता है। फिर भी, उसी तरह का एक दूसरा जानवर आता है, जो बहुत बातों में पहले से भिन्न होने पर भी वैसा ही है। इसके भी चले जाने पर इसका भी प्रतिबिम्ब मन में पहले प्रतिबिम्ब के साथ मिल जाता है। ऐसे पुनरावर्तन का फल यह होता है कि उन जानवरों में कुछ साधारण गुणों को ले कर

---

[1] देखो पृ० ८, १२-१८.

[2] Thought.

हम एक 'संकेत' बना लेते हैं कि ऐसे जानवरों को इन संकेतों से पहचानेंगे, और दूसरे जानवरों को इनसे अलग करेंगे। इसी प्रकार संसार की सभी चीजों का 'संकेत' हम मन में बनाते रहते हैं। और, उनके लिये पृथक् पृथक् नाम दे देते हैं। अभ्यास के कारण 'संकेतों' का स्मरण होते उनके नामों का, और उन नामों का स्मरण होते उन 'संकेतों' का उद्बोध हो जाता है। वे दूध-पानी की तरह इतना मिल जाते हैं कि एक को दूसरे के बिना ग्रहण करना असम्भव हो जाता है।

इन संकेतों का, अथवा नामों का, सब से बड़ा उपयोग यह है कि इनके सहारे (१) अवस्थायें बदल जानें पर भी हम किसी वस्तु को वही है करके पहचान लेते हैं, और (२) भिन्न व्यक्तियों को देख कर उनके एक जाति का होना जान लेते हैं।

एक बच्चा युवा होने पर बिल्कुल बदल जाता है, और वृद्ध होने पर और भी बदल जाता है। किंतु उसका जो 'संकेत' पकड़ लिया है, और उसे यज्ञदत्त या ब्रह्मदत्त जो नाम दे दिया है वह हमें उसे सभी अवस्थाओं में 'वही' करके पहचानने में सहायक होता है। उसी तरह, एक कुत्ता के दूसरे कुत्ते से रूप-रंग-आकार आदि अनेक प्रकार से अत्यन्त भिन्न होने पर भी, पूर्व में ग्रहण कर लिये 'संकेत' के आधार पर, उसे एक ही जाति का होना समझ लेते हैं।

इन्हीं 'नाम-संपृक्त संकेतों' से हमारे विचारों का निर्माण होता है। इन संकेतों को 'कल्पना'[1] कहते हैं। संसार में जितनी चीजें हैं, उनमें परस्पर जो सम्बन्ध है, अथवा प्रकृति के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में जो व्यवस्था चल रही है, सभी का प्रतिरूप हम अपने विचार में 'कल्पना' की भाषा में उतार लेने का प्रयत्न करते हैं। सूर्य क्या है, ग्रह क्या हैं, उपग्रह क्या हैं, एक दूसरे पर क्या प्रभाव डालता है, इत्यादि सारे सौरमण्डल की व्यवस्था

[1] कल्पना = प्रत्यय

को ज्योतिषशास्त्र विचार में तद्रूप 'कल्पनाओं' की व्यवस्था कर लेता है। दूसरे सभी शास्त्र अपने अपने क्षेत्र में यही बात करते हैं। 'कल्पनाओं का निर्मित यह विचार' कोई स्थायी चीज नहीं है, किंतु नये नये अनुभवों के साथ इसमें विकास होता रहता है। वस्तुस्थिति के अनुकूल रखने के लिये हम अपनी कल्पना में तथा विचार-व्यवस्था में निरन्तर संशोधन करने को तैयार रहते हैं, जिसमें ही उसकी सार्थकता है। वस्तुस्थिति से असम्बद्ध स्वच्छन्द विचार को 'निराधार कल्पना की उड़ान' कहते हैं। तर्कशास्त्र में ऐसे विचार का कोई स्थान नहीं है। 'कल्पनायें' जितनी अधिक साधार होंगी विचार उतना ही अधिक प्रामाणिक होगा। तर्कशास्त्र ऐसे ही विचार का अध्ययन करता है।

§ ३—तीन वाद

ऊपर देख चुके हैं कि वस्तुओं को पहचानने के लिये, तथा उन्हें दूसरों से अलग करने के लिये, उनके सामान्य-साधारण गुणों को ले कर हम मन में उनके 'संकेत' बना लेते हैं, और उन 'संकेतों' के अपने अपने नाम दे कर उन्हें स्थिर कर लेते हैं। फिर उस वस्तु की उपस्थिति या अनुपस्थिति में उन्हें उन्हीं नामों से याद करते हैं।

कुछ दार्शनिकों ने यहाँ प्रश्न उठाया है कि, तर्कशास्त्र का सीधा सम्बन्ध किस से है ? तर्कशास्त्र क्या वस्तुओं के स्वरूप तथा उनके परस्पर सम्बन्धों का अध्ययन करता है, अथवा विचारों के स्वरूप तथा उनके परस्पर सम्बन्धों का, अथवा उन्हें व्यक्त करने वाले नामों के स्वरूप तथा उनके परस्पर सम्बन्धों का ?

(१) वस्तुवाद[1]

कुछ दार्शनिक पहली अवस्था का प्रतिपादन करते हैं। इनका कहना

[1] Realism.

है कि तर्कशास्त्र का सीधा सम्बन्ध वस्तुस्थिति से है। अवास्तविक विचारों तथा शाब्दिक नामों से क्या !! तर्कशास्त्र के नियम वास्तविक प्रकृति के नियम पर ही आश्रित होने चाहिये। तर्क करके हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं वह यदि वास्तविक सत्य से भिन्न हुआ तो उसकी प्रामाणिकता कहाँ रही ! इस वाद का पोषक दार्शनिक स्पेन्सर तर्कशास्त्र की परिभाषा करते हुए कहता है—"यह वह शास्त्र है जो सची वस्तुओं के परस्पर सम्बन्ध के परम सामान्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है।"[१] इस वाद को वस्तुवाद,[२] या यथार्थवाद,[३] या विषयवाद[४] कहते हैं, क्योंकि इसके अनुसार तर्कशास्त्र का सीधा सम्बन्ध विचार के विषय यथार्थ वस्तु से ही है। Mensel, Sigwart, Kant, Ward, Stout

(२) कल्पनावाद[५]

हैमिल्टन, मैन्सल प्रभृति दूसरे दार्शनिकों का उक्त वाद के विरुद्ध कहना है कि यदि तर्कशास्त्र का सीधा सम्बन्ध वस्तु-विषय के साथ हो तो तर्कशास्त्र में वनस्पतिशास्त्र, रसायनशास्त्र आदि सभी शास्त्रों का समावेश हो जायगा। यह तो किसी प्रकार सम्भव नहीं है। अतः तर्कशास्त्र का सीधा सम्बन्ध 'विचार' के अन्तः-सामंजस्य से ही हो सकता है। 'विचार' का विषय क्या है यह तर्कशास्त्र के लिये गौण बात है। तर्कशास्त्र तो यही अध्ययन करेगा कि किन दोषों के कारण एक विचार के भीतर असंगति उत्पन्न हो जाती है, तथा उसका किस प्रकार निवारण

---

[१] "Logic is the science which formulates the most general laws of correlation among existences considered as objective."

[२] Objective view. [३] Realistic view.

[४] Material view. [५] Conceptualism.

करके संगत और समंजस विचार प्राप्त किया जाय। उदाहरणार्थ—यदि हम इस युक्ति का प्रयोग करें कि—

सभी मनुष्य अमर हैं,
मैं मनुष्य हूँ,
मैं अमर हूँ—

तो तर्कशास्त्र को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। यथार्थ में सभी मनुष्य अमर हैं या नहीं इसकी परीक्षा करना तर्कशास्त्र का काम नहीं है। तर्कशास्त्र को तो केवल इसकी परीक्षा करनी है कि इतनी वात से कि "सभी मनुष्य अमर हैं, और मैं मनुष्य हूँ" यह निष्कर्ष निकालना कि "मैं अमर हूँ" न्यायसंगत है या नहीं। इस विचार के भीतर कोई असंगति है या नहीं? यदि नहीं तो यह 'युक्ति-प्रयोग' विल्कुल ठीक है; भले ही वस्तुस्थिति इसके विरुद्ध हो। अर्थात्, इस वाद के अनुसार तर्कशास्त्र 'विचार' के केवल 'रूप' की सचाई देखता है, उसके 'विषय' की नहीं। इसी वात को साधारणतः इस तरह व्यक्त करते हैं कि तर्कशास्त्र 'रूपविषयक' शास्त्र है, 'विषय-विषयक' नहीं।

अतः हैमिल्टन तर्कशास्त्र की परिभाषा यों करते हैं—"तर्कशास्त्र विचारों के अपने नियमों का शास्त्र है, अथवा विचार के रूप-विषयक नियमों का शास्त्र है।"[१] इस वाद को विचारवाद, कल्पनावाद या रूपविषयकवाद कहते हैं।

Hobbes and Berkeley

(३) नामवाद[२]

भट्ले प्रभृति कुछ दूसरे दार्शनिकों का कहना है कि तर्कशास्त्र का सीधा सम्बन्ध उचित और सम्बद्ध शब्द तथा भाषा के प्रयोग से है,

---

[१] "The science of the laws of thought as thought or the science of the formal laws of thought."

[२] Nominalism.

क्योंकि जो वस्तु या विचार भाषा में व्यक्त नहीं किये गये हैं उनसे तर्कशास्त्र का कोई प्रयोजन नहीं। तर्कशास्त्र को वस्तु या विचार का परिचय भी न मिले यदि उन्हें व्यक्त करने वाली भाषा का उपयोग न किया गया हो। अतः, इस वाद के अनुसार तर्कशास्त्र 'पद', 'वाक्य' तथा 'युक्तियों' के उचित प्रयोग का शास्त्र है।

इस वाद को भाषावाद या नामवाद कहते हैं।

* * * *

ये तीनों वाद अंशतः सत्य हैं। पूर्ण सत्य तो तीनों के समन्वय से ही प्राप्त होगा। तर्कशास्त्र का सम्बन्ध 'भाषा' के उचित प्रयोग से अवश्य है, किंतु उतनी ही दूर तक जितनी दूर वह उस 'विचार' का व्यञ्जक है जिसका 'वस्तु' के साथ संवाद है। विचारशून्य भाषा से कोई प्रयोजन नहीं। और वह विचार भी निरर्थक है जिसका वस्तु के साथ संवाद नहीं। तर्कशास्त्र का तो आदर्श वास्तविक सचाई से पूर्ण विचार को उचित भाषा में व्यक्त करना है। हाँ, आगे चल कर हम देखेंगे कि 'निगमन विधि'[1] में विचार के 'रूप'[2] की प्रधानता है, और 'व्याप्ति विधि'[3] में विचार के 'विषय'[4] की। किन्तु पूरा अनुमान दोनों विधियों के मिलने से ही होता है, अतः यथार्थ 'सत्य' तो वही है जो 'रूप' और 'विषय' दोनों तरह से सच्चा है।

§ ४—विचार और भाषा

सभी प्राणियों में राग-द्वेष, प्रेम, क्रोध आदि भाव उत्पन्न होते हैं, और वे उन भावों को प्रगट करने के लिये मुँह से कुछ ध्वनि निकालते हैं, अथवा हाथ-पैर से कुछ संकेत करते हैं। मनुष्य जाति भी जब विकास

---

[1] Deduction. [2] Form. [3] Induction.
[4] Matter.

की प्रारम्भिक अवस्था में थी तब ऐसे ही कुछ ध्वनियों और संकेतों से एक दूसरे पर अपना विचार प्रगट करती थी। कालान्तर में उस जाति के विकास के साथ साथ उसकी बुद्धि और भाषा का विकास हुआ। देश, अवस्थायें, वंश आदि में भिन्नता होने के कारण अनेकानेक भाषाओं की उत्पत्ति हुई। भाषाओं की शब्दावली तथा रचनाशैली में बराबर विकास होता गया। जैसे नये नये ज्ञान-विज्ञानों का आविष्कार हुआ, भाषा में उनको व्यक्त करने के लिये नये नये शब्द गढ़े गये। शब्द में स्वयं ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि वह किसी विशेष अर्थ का ही बोधक हो। अमुक शब्द में अमुक अर्थ का आना तो मनुष्यों के अपने व्यवहार की रूढ़ि है। एक ही शब्द भिन्न भिन्न भाषाओं में भिन्न भिन्न अर्थों में भी रूढ़ हो जाता है। "उदाहरण के लिए सीधा-सीधा 'पास' शब्द लीजिए। हम हिन्दी वाले इसका अर्थ 'निकट', 'समीप' या 'नजदीक' समझते हैं। पुरानी हिन्दी में इसका अर्थ 'ओर' या 'तरफ' होता था। अब वह 'अधिकार या कब्जे में' के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। परन्तु भारत के समीपवर्ती फारस देश की फारसी भाषा में इसी शब्द का अर्थ होता है—(क) लिहाज या खयाल, (ख) तरफदारी या पक्षपात और (ग) पहरा-चौकी आदि। अंगरेजी में इसके अर्थ होते हैं—(क) उत्तीर्ण, (ख) दर्रा या खाड़ी और (ग) गुजरना या बीतना आदि। संसार की अन्यान्य भाषाओं में इसके न जाने और क्या क्या अर्थ होते होंगे। इससे यह सिद्ध होता है कि स्वयं 'पास' शब्द में कोई ऐसी विशेषता नहीं है, जिससे उसका कोई अर्थ सूचित हो। अलग-अलग देशों के निवासियों ने उसके अलग अलग अर्थ मान रखे हैं।"[1]

एक ही 'विचार' भिन्न-भिन्न 'भाषाओं में भिन्न-भिन्न शब्दावलियों' में भिन्न-भिन्न रचना-शैली से प्रकट किया जा सकता है। अतः 'विचार'

---

[1] रामचन्द्र वर्मा—अच्छी हिन्दी, पृ० ३.

का किसी खास भाषा से अविनाभाव का सम्बन्ध नहीं है। किंतु हाँ, यह एक विचारणीय प्रश्न है कि क्या 'विचार' बिना किसी भाषा के रह सकता है। हम लोग जब कुछ विचार करते हैं तब यथार्थ में अपने मन ही मन बात करते अपने को पाते हैं। साधारणतः बच्चे, और कभी-कभी बड़े भी, एकान्त में बोल-बोल कर विचार किया करते हैं। बिना मन में शब्द लाये हम कोई विचार कर सकते हैं इसकी कल्पना करना भी कठिन प्रतीत होता है—चाहे वह शब्द हिन्दी का हो, या अंगरेजी का, या संस्कृत का या किसी भी भाषा का।

इसके विरुद्ध, कुछ का कहना है कि 'विचार' के लिये भाषा अनिवार्य नहीं है। पशु, छोटे बच्चे, या गूँगे विचार तो अवश्य करते हैं, किंतु उन्हें कोई भाषा नहीं है। कभी-कभी हमी लोगों के मन में ऐसा विचार उठता है जिसके लिए शब्द नहीं मिलते। खोज करने के बाद उसके व्यञ्जक शब्द मिलते हैं।

'विचार' भाषा के बिना रह सकता है या नहीं यह विवाद तर्कशास्त्र का विषय नहीं है। हाँ, तर्कशास्त्र उन्हीं विचारों का अध्ययन करता है जो भाषा में व्यक्त किये जाते हैं—पशु-पक्षियों की चों-चीं में-में की भाषा में नहीं, बच्चे या गूँगे की अस्पष्ट ध्वनियों की भाषा में नहीं, किन्तु मनुष्य की गढ़ी-गढ़ाई गठित भाषा में। तर्कशास्त्र के लिए भाषा का जो महत्व है वह भाषा की दृष्टि से नहीं, किंतु यथार्थ 'विचार' के व्यञ्जक होने की दृष्टि से। यहीं तर्कशास्त्र और व्याकरण की दिशायें अलग हो जाती हैं। भाषा की बाह्य रचना व्याकरण का विषय है, और भाषा का आभ्यन्तरिक विचार तर्कशास्त्र का। भाषा और विचार में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण व्याकरण विचार की तथा तर्कशास्त्र भाषा-रचना की एकदम उपेक्षा नहीं कर सकता। किंतु व्याकरण की अशुद्धि से तर्कशास्त्र को, और तर्कशास्त्र की अशुद्धि से व्याकरण को कोई विशेष खतरा नहीं है। हाँ, तर्कशास्त्र

व्याकरण की उन अशुद्धियों से अवश्य बचेगा जिनसे अर्थ पर आघात आता हो।

भाषा के प्रयोग कभी-कभी अत्यन्त भ्रामक होते हैं। यह जानते हुए भी कि सूर्य अपने स्थान पर ही रहता है और यह कि पृथ्वी उसकी प्रदक्षिणा कर रही है, हम कहा करते हैं कि सूर्य निकला, सूर्य ऊपर उठा, सूर्य डूब गया। हम ही नहीं, ज्योतिषशास्त्र भी इसी भाषा में बात करता है। इससे किसी अनभिज्ञ पुरुष को भ्रम हो सकता है कि यथार्थ में सूर्य उठता और डूबता है; और वह इसकी पुष्टि के लिए ज्योतिषशास्त्र की किताब दिखा सकता है। ऐसे स्थलों पर तर्कशास्त्री को सावधान रहना होगा, और दिखा देना होगा कि भाषा के प्रयोग मात्र से वस्तु को वैसा समझना नहीं होगा।

कहने के लिए तो हम कहते हैं कि 'घड़े में गोलाई है, ललाई है, लम्बाई है, मोटाई है, भारीपन है, कड़ापन है इत्यादि', तो क्या इससे यह समझना होगा कि घड़े में इतनी चीजें भरी पड़ी हैं और उसमें पानी रखने की जगह नहीं है !!

भाषा और भी बहुत तरह से भ्रामक हो सकती है। तर्कशास्त्र को 'भाषा की बहक' से बचना होगा, और यथार्थ ग्रहण करने का प्रयत्न करना होगा।

§ ५—विचार के रूप और विषय[1]

विचार तो अमूर्त पदार्थ है, उसका कोई 'रूप' नहीं हो सकता। तो भी, जिस प्रकार उपाधि-भेद से अमूर्त आकाश के घटाकाश, मठाकाश आदि अनेक रूप हो जाते हैं, उसी तरह जिन पद, वाक्य तथा युक्ति-प्रयोगों में विचार उपस्थित होते हैं उनके विचार से 'विचार के रूप' होने की बात

[1] Form and Matter of Thought.

समझ में आ सकती है। उदाहरणार्थ, "सभी मनुष्य मरण-धर्मा हैं", और "कोई मनुष्य अमर नहीं है" इन दो वाक्यों के रूप भिन्न होने पर भी विषय में भेद नहीं है। फिर, "सभी मनुष्य मरण-धर्मा हैं", और "सभी देव अमर हैं" इन दो वाक्यों के 'रूप' समान होने पर भी दोनों के विषय दो हैं। इससे सिद्ध हुआ कि 'विचार' का एक ही 'विषय' भिन्न 'रूपों' में उपस्थित हो सकता है, और 'विचार' के एक ही 'रूप' में भिन्न 'विषय' उपस्थित हो सकते हैं।

रूप और विषय का यही सम्बन्ध स्थूल जगत में भी लागू होता है। एक ही विषय अनेक रूप ग्रहण कर सकता है, और एक ही रूप अनेक विषयों में व्यक्त हो सकता है। यथा, एक ही विषय सुवर्ण के कुण्डल, कङ्कण, केयूर आदि अनेक रूप हो सकते हैं; और सुवर्ण, रजत, पीतल आदि अनेक विषय कुण्डल का एक ही रूप ग्रहण कर सकते हैं। रूप विषय के बिना, और विषय रूप के बिना नहीं रह सकता है। तो भी, दोनों दो चीजें हैं, और हम उनकी परीक्षा पृथक् पृथक् कर सकते हैं। जब हमें कुण्डल के सोने का खरापन आँकना है तो उसकी काट-छाँट पर ध्यान नहीं देते, और जब उसकी काट-छाँट की बारीकी की परख करनी है तो इसका ख्याल नहीं करते कि उसका सोना कैसा है।

कुछ तर्कशास्त्रियों ने रूप और विषय का यह सम्बन्ध 'विचार' के क्षेत्र में भी हू-बहू सच्चा होना स्वीकार किया है। उनके मत से तर्कशास्त्र शुद्ध 'रूप-विषयक'[1] शास्त्र है। किन 'रूपों' में ढले हुए विचार सत्य-साधक होते हैं, और किन 'रूपों' में ढले हुए विचार भ्रामक तथा असंगत होते हैं—यही अध्ययन करना तर्कशास्त्र का कर्तव्य है। कुण्डल की काट-छाँट की बारीकी की परख करने वाला जैसे इसकी परवाह नहीं करता कि उसका सोना सच्चा है या नहीं, उसी तरह तर्कशास्त्र 'रूप-

---

[1] Formal.

विषयक' होने के कारण इसकी परवाह नहीं करता कि 'विचार का विषय' आम है या इमली।

बीजगणित भी इसी तरह सामान्य-सिद्ध ऐसे 'रूपों' का पता लगाता है जो, जिनके अंक जो भी हों, सर्वथा ठीक परिणाम देते हैं। यथा, इस प्रकार का एक रूप है—$क^2 - ख^2 = (क + ख)(क - ख)$। अब, 'क' और 'ख', एक या लाख, जो भी अंक हों समीकरण सर्वथा सत्य होगा। बाजार के बनिये भी हिसाब लगाने के लिये सामान्य-सिद्ध 'रूपों' का प्रयोग करते हैं। यथा, 'रुपये के जितने सेर, आने के उतने ही छटाँक' यह एक रूप है, जिसके उपयोग से चाहे चावल का क्रय-विक्रय कर लें, चाहे गेहूँ का, चाहे घास का, चाहे मिट्टी का।

इसी तरह तर्कशास्त्र 'विचार' के उन सामान्य-सिद्ध 'रूपों'[1] का पता लगाता है जो संगत तथा समंजस विचार के प्रतीक हैं। 'विषयों' के सत्यासत्य से इन रूपों की संगति तथा सामंजस्य में कोई आपत्ति नहीं आती। यथा, 'युक्ति-प्रयोग' के सामान्य-सिद्ध 'रूप' का एक प्रसिद्ध उदाहरण है—

सभी 'क' 'ख' हैं,
सभी 'ग' 'क' हैं,
∴ सभी 'ग' 'ख' हैं।

अब, 'क', 'ख' और 'ग' चाहे जो कुछ भी हों, 'युक्ति-प्रयोग' सर्वथा न्याय-संगत होगा। मान लिया कि 'क' = पशु, 'ख' = चतुष्पद और 'ग' = घोड़ा है। तो 'युक्ति-प्रयोग' का यह रूप ऐसा होगा—

सभी 'पशु' 'चतुष्पद' हैं,
सभी 'घोड़े' 'पशु' हैं,
∴ सभी 'घोड़े' 'चतुष्पद' हैं।

---

[1] Forms.

इस 'युक्ति' का 'रूप' भी सामान्य-सिद्ध है, और साथ ही साथ 'विषय' की वास्तविकता भी है। किंतु, इसी 'रूप' का दूसरा उदाहरण लें—

सभी 'मनुष्य' 'अमर' हैं,
सभी 'बनिये' 'मनुष्य' हैं,
∴ सभी 'बनिये' 'अमर' हैं।

इस 'युक्ति-प्रयोग' का रूप तो सामान्य-सिद्ध है, किंतु इस 'विषय' की सचाई नहीं है। भला मनुष्य अमर कहाँ है!

तर्कशास्त्र के लिये दोनों उदाहरण मान्य हैं। 'विचार' के क्षेत्र में ऐसे कितने सामान्य-सिद्ध 'रूप' स्थापित किये जा सकते हैं इसकी खोज तर्कशास्त्र करता है। इसी लिए तर्कशास्त्र को 'रूप-विषयक' शास्त्र कहा गया है। विचार के संगत तथा समंजस 'रूपों' को खोज निकालने में ही तर्कशास्त्र का महत्व है। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक हिगेल् कहता है, "यदि यह जानकारी कि सुग्गे साठ से भी अधिक प्रकार के होते हैं एक महत्वपूर्ण खोज समझी जाती हो, तो 'युक्ति-प्रयोग' के सामान्य-सिद्ध प्रकारों की खोज और भी अधिक महत्व की समझी जानी चाहिये। क्या सुग्गे के प्रकार से लाखों गुना अधिक महत्व 'युक्ति-प्रयोग' के प्रकार में नहीं है?"[1]

---

[1] "If it is held a valuable achievement to have discovered sixty and odd species of parrot...it should surely be held a far more valuable achievement to discover the forms of reason; is not a figure of the syllogism something infinitely higher than a species of parrot?"
Wissenschaft der Logik, p. 139

§ ६—'रूपविषयक' कहाँ तक ?

तर्कशास्त्र 'रूप-विषयक'[1] अवश्य है, किंतु इसके इस पहलू पर आवश्यकता से अधिक जोर देकर कुछ लोगों ने बड़ा अनुचित किया है। 'रूप' का अर्थ क्या है ? भिन्नताओं से पूर्ण व्यक्तियों में जो सामान्य एकता है वही न ? रंग, आकार आदि में अनेक भिन्नताओं से पूर्ण सभी घोड़ों में अंग-संस्थान की जो सामान्य एकता है वही न घोड़े का 'रूप' है ? इस तरह,तो सभी शास्त्र 'रूप विषयक' हैं, क्योंकि सभी शास्त्र अपने-अपने विषय में भिन्नताओं के बीच सामान्यता का अन्वेषण करते हैं। शास्त्र अनेकानेक उदाहरणों की परीक्षा तभी तक करता है जब तक उसे उनका सामान्य स्वरूप मालूम नहीं हो जाता। सामान्य स्वरूप मालूम हो जाने के बाद उसके विशेष उदाहरणों से शास्त्र को कोई दिलचस्पी नहीं रहती। किसी भी शास्त्र को अध्ययन करनेके लिए नये-नये प्रकार के उदाहरण चाहिए। एक ही प्रकार के अनेक उदाहरणों से उसे कोई लाभ नहीं होता।

उसी तरह, तर्कशास्त्र 'धर्म' और 'धर्मी' के सम्बन्ध बताने वाले 'विचार के' रूपों और 'प्रकारों' का अध्ययन करता है। एक बार एक 'प्रकार' को समझ लेने के बाद उसे उसके हजारों उदाहरण लेने की आवश्यकता नहीं रहती। उन अनेक उदाहरणों में भिन्नता केवल 'विषय' की रहती है कि किस 'धर्म' का सम्बन्ध किस 'धर्मी' के साथ स्थापित किया गया है। किंतु 'धर्म' और 'धर्मी' के सम्बन्ध के जो 'प्रकार' हैं वह सभी में वही हैं।

रूपविषयकता पर अनुचित जोर

जिन लोगों ने इस बात पर जोर दिया है कि तर्कशास्त्र 'रूप-विषयक ही शास्त्र है' उनका अभिप्राय यह नहीं है कि इस बात में

---

[1] Formal.

तर्कशास्त्र दूसरे शास्त्रों के समान ही है जो अपने-अपने विषय के 'रूप' या 'सामान्य' की खोज करते हैं; किंतु उनका अभिप्राय यह है कि तर्कशास्त्र विचार के उन रूपों का अध्ययन नहीं करेगा जो समस्त विषयों के 'विचार' में लागू न हो सकें।

यह तो वैसा ही हुआ कि कोई वनस्पतिशास्त्री कहे कि वह उन सिद्धान्तों का अध्ययन नहीं करेगा जो संसार के समस्त पेड़-पौधों में लागू न हो सकें। अथवा, कोई ज्यामितिशास्त्री कहे कि वह उन सिद्धान्तों का अध्ययन नहीं करेगा जो संसार के समस्त क्षेत्रों के साथ लागू न हो सकें। सारे पेड़-पौधे एक ही प्रकार के नहीं हैं। उनकी भिन्न-भिन्न जातियाँ हैं; उनकी व्यवस्थायें भी भिन्न-भिन्न हैं। वनस्पति-शास्त्र उनका अलग-अलग अध्ययन करता है। उन जातियों के भीतर भी जितनी उपजातियाँ निकाल सके उतनी ही उसकी सफलता है।

उनकी गलती

उन तर्कशास्त्रियों ने यही गलती की है कि 'विषयों' की भिन्नता होने से 'विचार' के 'रूपों' में जो प्रकार भिन्नता हो जाती है इसका ख्याल नहीं किया। उन्होंने यह समझा कि विचार के 'विषय' की बिल्कुल उपेक्षा करके ऐसे 'समान्य रूप' स्थापित किए जा सकते हैं जो समस्त 'विषयों' पर लागू हो सकें। किंतु, सच्ची बात तो यह है कि भिन्न-भिन्न प्रकार के विषयों पर हम भिन्न-भिन्न प्रकार से विचार करते हैं। अतः यदि अपने 'विचार' की व्यवस्था के सिद्धान्तों को जानना है तो 'विषय' की भिन्नता के कारण जो 'विचार' में भिन्नता हो जाती है उसकी भी कुछ परीक्षा करनी ही होगी। तभी हम ठीक-ठीक समझ सकेंगे कि तर्कशास्त्र कहाँ तक 'रूप-विषयक' है और कहाँ तक 'विषय-विषयक'।

'सामान्य-विधि' वाक्य[1] का 'रूप' है—"सभी 'क' 'ख' हैं।" इसके तीन उदाहरण लें—

(१) सभी 'घोड़े' 'पशु' हैं
(२) सभी 'फूल' 'सुन्दर' हैं
(३) सभी 'भारतीय' 'हिन्दुस्तानी' हैं

इन वाक्यों के 'रूप' समान होने पर भी, क्या उनके माने एक ही प्रकार के हैं? 'सभी भारतीय हिन्दुस्तानी हैं' का माने हुआ कि भारतीय और हिन्दुस्तानी में कोई भेद नहीं है। किंतु, पहले वाक्य का यह माने नहीं है कि 'घोड़े' और 'पशु' एक ही हैं। 'पशु' 'घोड़े' का विशेषण कहा जा सकता है; किंतु क्या 'पशु' 'घोड़े' का विशेषण उसी प्रकार है जिस प्रकार दूसरे वाक्य में 'सुन्दर' 'फूल' का है? बिना 'सुन्दर' हुए भी फूल फूल ही रहेगा; किंतु बिना 'पशु' हुए 'घोड़ा' घोड़ा नहीं रह सकता।

अतः इस सामान्य-सिद्ध 'रूप'—सभी 'क' 'ख' हैं—का मतलब जानने के लिए पहले हमें जानना होगा कि 'क' क्या चीज़ है और 'ख' क्या चीज़। विचार के 'रूपों' को समझने के लिए उसके 'विषयों' की भी परीक्षा करनी ही होगी।

तर्कशास्त्र के 'रूपविषयक' ही होने पर जोर देने वाले दार्शनिकों का यह प्रयास कि 'विचार' के 'विषयों' की सर्वथा उपेक्षा कर उनके सामान्य-सिद्ध 'रूपों' की स्थापना कर लेंगे, मिथ्या है। इस से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि तर्कशास्त्र के अध्ययन के विषय वे वस्तु भी होने चाहिए जिन पर विचार किया गया है। तर्कशास्त्र उन वस्तुओं को इसी लिए जानना चाहता है कि उनके सामान्य-सिद्ध 'रूप' कितने प्रकार से समझे जा सकते हैं। एक बार उन 'प्रकारों' का निश्चय कर लेने के बाद वस्तुओं से उसे सीधा सम्बन्ध नहीं रहता।

[1] Universal affirmative proposition.

अतः, यह कहा जा सकता है कि तर्कशास्त्र 'रूप-विषयक' शास्त्र है, किंतु यह नहीं कि वह सर्वथा 'विषय-विषयक' नहीं है।

§ ७ ज्ञान[1]

'ज्ञान' वह व्यवस्थित विचार है जिसका संवाद यथार्थ वस्तु-व्यवस्था से हो, और जिस संवाद में पूरा भरोसा हो। सूर्य-मण्डल का ज्ञान तभी होगा जब आकाश में सूर्य-ग्रह-उपग्रह की जैसी व्यवस्था है ठीक उसी का प्रतिरूप व्यवस्थित विचार हो और साथ-साथ उस विचार और वस्तु-स्थिति के संवाद में पूरी आस्था हो। अँधेरे में रस्सी को देख कर साँप समझ लेना 'ज्ञान' नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ विचार और वस्तुस्थिति में संवाद नहीं है। और, साँप को देख कर यह साँप है ऐसा समझ लेने पर भी यदि मन में कुछ खटका बना रहे कि शायद रस्सी तो नहीं है, तो उसे 'ज्ञान' नहीं कहेंगे।

वस्तु-व्यवस्था के अनुकूल विचार जितना अधिक व्यवस्थित होगा उतना ही वह 'ज्ञान' गम्भीर होगा, और जितना अधिक वह विचार शिथिल होगा उतना ही अधिक वह 'ज्ञान' छिछला होगा। उदाहरण के लिए एक 'फूल के पौधे' का ज्ञान तीन भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का लें। एक बच्चा भी फूल के पौधे को देख कर उसका ज्ञान कर लेता है; उसी पौधे का ज्ञान बगीचे के चतुर माली को भी है; और उसी पौधे का ज्ञान वनस्पति-शास्त्र में विख्यात एक प्रोफेसर को भी है। तीनों के ज्ञान ज्ञान ही हैं, क्योंकि पौधे के विषय में सभी के विचार का संवाद वस्तुस्थिति से है, और उन्हें उस संवाद में कोई खटका भी नहीं। किंतु, पौधे के विषय में तीनों के विचार समान रूप से व्यवस्थित नहीं हैं। बच्चा केवल यही जानता है कि पौधे की टहनियाँ, उसके पत्ते और फूल किस तरह आपस

---

[1] Knowledge.

में सम्बद्ध हैं। बगीचे का माली इतना जान कर यह भी जानता है कि वह पौधा कैसे लगाया जाता है, उसके लिए कैसी खाद चाहिए, भिन्न-भिन्न ऋतुओं का प्रभाव उस पर कैसा पड़ता है इत्यादि-इत्यादि। और, वनस्पतिशास्त्र का प्रोफेसर इन सभी बातों को जान कर वनस्पति-जगत् में उस पौधे के विषय में जितनी भी बातें हैं सभी जानता है। एक ही 'ज्ञान' के ये तीन उदाहरण इस बात को स्पष्ट करते हैं कि 'ज्ञान' के लिए वस्तु-स्थिति से संवाद होना आवश्यक होते हुए भी उसकी पूर्णता और प्रामाणिकता विचार के अधिकाधिक व्यवस्थित होने में ही है।

§ ८—ज्ञान के मार्ग[१]

'ज्ञान' के मार्ग तीन हैं—(क) प्रत्यक्ष[२] (ख) अनुमान[३] और (ग) आप्तवचन[४]।

(क) प्रत्यक्ष—स्थूल संसार में ज्ञान के विषय पाँच हैं—रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श। रूप को आँख से देख कर, शब्द को कान से सुन कर, गन्ध को नाक से सूँघ कर, रस को जीभ से चख कर, और स्पर्श को शरीर से छू कर जान लेते हैं। आनन्द, शोक, संतोष, असंतोष, क्रोध, प्रेम आदि जो अपने मन की अवस्थायें हैं उन्हें हम साक्षात् अपने मन से ही जान लेते हैं। इन छ इन्द्रियों से जो विषय का साक्षात् ज्ञान होता है उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान ठीक होने के लिए आवश्यक है कि (१) इन्द्रियाँ निर्दोष हों, (२) विषय सामने उपस्थित हो, (३) विषय के रूप को विकृत या अवरुद्ध कर देने वाला बीच में कोई व्यवधान न हो, और (४) प्रमाता का ध्यान दूसरी ओर लगा न हो।

प्रत्यक्ष ज्ञान ही ज्ञान के दूसरे मार्गों का आधार है। 'अनुमान' या

---

[१] Sources of knowledge.

[२] Perception. [३] Inference. [४] Authority.

'आप्तवचन' से प्राप्त ज्ञान में यदि कोई शंका उपस्थित हो तो उसका निराकरण विषय का प्रत्यक्ष कर के ही होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान ही की प्रामाणिकता सब से ऊँची है। प्रत्यक्ष ज्ञान का महत्त्व इसमें है कि इसी ज्ञान में 'विषय' की विशेषतायें स्पष्ट रूप से उपस्थित होती हैं। अनुमान या आप्तवचन से प्राप्त ज्ञान में 'विषय' के केवल सामान्य धर्मों का बोध होता है, विशेष धर्मों का नहीं।

(ख) अनुमान—किसी चीज के ज्ञान हो जाने पर उसके आधार पर दूसरी परोक्ष चीज का जो ज्ञान कर लेना है उसे 'अनुमान' कहते हैं। 'अनुमान' करने से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे 'अनुमिति' कहते हैं।

रात के सन्नाटे में दूर से 'राम नाम सत्य है' की आवाज आती है। उससे हम अनुमान कर लेते हैं कि कोई मुर्दा जा रहा होगा। यहाँ आवाज़ का ज्ञान प्रत्यक्ष हुआ; और उस आवाज़ से सम्बन्धित जो मुर्दे का जाना है सो मेरे परोक्ष रहने पर भी उसका ज्ञान हो गया।

अनुमिति ज्ञान में 'विषय' की अपनी असाधारण विशेषताओं का, प्रत्यक्ष ज्ञान की तरह, स्पष्ट बोध नहीं होता। किन्तु इसमें 'विषय' के केवल साधारण सामान्य धर्मों का बोध होता है। ऊपर के उदाहरण में 'कोई मुर्दा जा रहा है' ऐसा जो अनुमिति ज्ञान हुआ उसमें यह मालूम नहीं हुआ कि मुर्दा कैसे कपड़े से ढका है, उसके साथ कितने आदमी जा रहे हैं, मुर्दा लड़के का है या बड़े का, इत्यादि।

(ग) आप्त-वचन—विश्वसनीय व्यक्ति की बात सुन या पढ़ कर ही जो 'विषय' का ज्ञान होता है उसे 'आप्त-वचन' या 'शब्द' कहते हैं। नित्य-प्रति अखबार पढ़ कर हम जो संसार की घटनाओं का ज्ञान करते हैं वह इसी प्रकार का ज्ञान है। नौकर बाहर से आ कर खबर देता है कि अमुक सज्जन मिलने के लिए बाहर बैठे हैं। यह सुनते ही हम उनसे मिलने बाहर चले आते हैं। यहाँ, नौकर के कहने पर जो उन सज्जन के आने का ज्ञान हुआ वह भी इसी प्रकार का ज्ञान है। अखबार, नौकर,

मित्र, गुरु या कोई भी जो विश्वसनीय व्यक्ति है ऐसा ज्ञान करा सकता है।

आप्तवचन-जन्य-ज्ञान में भी 'विषय' के साधारण सामान्य धर्मों का ही बोध होता है, उसके स्वलक्षण विशेष धर्मों का नहीं। 'शब्द' केवल 'कल्पना' के ही व्यंजक हैं, और 'कल्पना' सामान्य का बोध कराती है, विशेष का नहीं। इस प्रकार, आप्तवचन-जन्य-ज्ञान अनुमिति-ज्ञान के समान ही हुआ।

तर्कशास्त्र का सम्बन्ध किस से ?

इन तीन प्रकार के ज्ञानों में तर्कशास्त्र का सीधा सम्बन्ध किस से है ? प्रत्यक्ष-ज्ञान की प्रामाणिकता इस बात पर निर्भर करती है कि हमारी इन्द्रिय निर्दोष हो और बाहर कोई ऐसी बात उपस्थित न हो जिससे ज्ञान विकृत होने का डर हो। आँख खराब होने से भी हम ठीक-ठीक नहीं देख सकते, और बाहर अँधेरा होने से भी कुछ को कुछ समझ लेने का डर रहता है। कान में कोई रोग हो तब भी अपने मित्र की बात ठीक-ठीक नहीं सुनते, और सड़क पर कोई बाजा बज रहा हो तब भी, इत्यादि। यदि इन्द्रिय निर्दोष हो, और बाहर किसी प्रकार का व्यवधान न हो तो ठीक प्रत्यक्ष-ज्ञान आप हो जाता है। केवल उस ओर ध्यान देने की जरूरत है, किसी बुद्धिमानी की नहीं। कोई आदमी आ कर सामने खड़ा होता है, और हम उधर ताकते ही उसे जान लेते हैं, हमें कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। बल्कि, शायद सामने खड़े मनुष्य को न जानने का प्रयास भी करें तो ऐसा नहीं कर सकते।

यही बात 'वचन-जन्य-ज्ञान' में भी है। नौकर की बात सुनते हम झट जान लेते हैं कि अमुक सज्जन बाहर बैठे हैं। बात सुन कर यह जानने के लिए हमें कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। बल्कि, बात सुन कर शायद इसे न जानने का प्रयास करें भी तो ऐसा नहीं कर सकते।

अनुमिति-ज्ञान की उत्पत्ति में वह बात नहीं है। यह 'ज्ञान' तो हम

अपनी बुद्धि दौड़ा कर प्राप्त करते हैं। जानी चीज या चीजों के आधार पर उछल कर अनजानी चीज तक पहुँचते हैं। तर्कशास्त्र इसी उछलन की विद्या को सिखाता है। इसमें जो निपुण नहीं हैं वे भयंकर भूल में पड़ सकते हैं।

भारतवर्ष की स्थितियों से अनभिज्ञ कोई विदेशी हिन्दू-मुसलमान के भेद को न समझ कर कह सकता है—सभी 'हिन्दू' 'हिन्दुस्तानी' हैं, और सभी 'मुसलमान' भी 'हिन्दुस्तानी' हैं, तब सभी 'मुसलमान' 'हिन्दू' हुए। साधारण मनुष्य को ऐसी भ्रामक युक्तियों में क्या दोष है जल्दी पता नहीं चलता। 'युक्ति' दोषपूर्ण है यह स्पष्ट कर लेने पर भी दोष के निश्चित स्थल का पता नहीं लगा सकते। ऐसे दोषों को साफ-साफ जान उनसे बच कर सत्य निष्कर्ष तक कैसे पहुँच सकते हैं इसकी परीक्षा तर्कशास्त्र करता है। अतः तर्कशास्त्र का सीधा सम्बन्ध 'अनुमान' से है। 'अनुमान' की परीक्षा के लिए जितनी दूर तक उसका 'प्रत्यक्ष' या 'आप्तवचन' से सम्बन्ध है उतनी दूर तक वह उन पर भी विचार कर लेगा।

§ ६—अनुमान की दो विधियाँ

'अनुमान' की दो विधियाँ हैं—(क) निगमन-विधि[1] और (ख) व्याप्ति-विधि[2]।

(क) निगमन-विधि—"जो बात जिस तरह किसी सारी 'जाति' के साथ लागू हो वही बात उसी तरह उन सभी के साथ लागू होगी जो उस 'जाति' में अन्तर्गत हैं।" यह एक ऐसा सिद्धान्त है जिसमें किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। 'अनुमान' की 'निगमन-विधि' इसी सिद्धान्त पर आश्रित है।

---

[1] Deduction. [2] Induction.

यदि सभी मनुष्य मरण-धर्मा हैं, और सभी राजा मनुष्य ही हैं, तो निश्चित रूप से अनुमान कर सकते हैं कि सभी राजा भी मरण-धर्मा हैं। अथवा, यदि कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है, और सभी राजा मनुष्य ही हैं, तो निश्चित रूप से अनुमान कर सकते हैं कि कोई राजा भी पूर्ण नहीं है। राजा मनुष्य-जाति के अन्तर्गत ही हैं; अतः यदि 'मरण धर्मत्व' सारी मनुष्य-जाति के साथ 'विधि-रूप' से लागू है, और 'पूर्णत्व' 'निषेध-रूप' से, तो वे सभी राजा के साथ भी उसी रूप से लागू होंगे।

'सामान्य' के ज्ञान के आधार पर अल्प सामान्य या विशेष के विषय में अनुमान करने की इस पद्धति को 'निगमन-विधि' कहते हैं। इस 'विधि' के 'युक्तिप्रयोग' का एक रूप निम्न प्रकार है—

सभी 'मनुष्य' 'मरण-धर्मा', हैं,
सभी 'राजा' 'मनुष्य' हैं,
∴ सभी 'राजा' 'मरण-धर्मा' हैं।

पहले दो वाक्यों को 'आधार-वाक्य'[1], और निष्कर्ष को 'निगमन-वाक्य'[2] कहते हैं। इस विधि में 'आधार-वाक्यों' के आधार पर ही 'निगमन-वाक्य' की निष्पत्ति होती है, इसी से इसे 'निगमन-विधि' कहते हैं।

'निगमन-वाक्य' की व्यापकता 'आधार-वाक्यों' से कभी अधिक नहीं हो सकती। 'आधार-वाक्यों' का जो विस्तार है उससे अधिक के विषय में कोई निष्कर्ष कैसे निकाला जा सकता है!

यही नहीं, 'निगमन-वाक्य' का कोई 'पद' भी वह 'आधार-वाक्य' में जितना व्यापक है उससे अधिक व्यापक नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, 'सभी घोड़े पशु हैं' इस आधार-वाक्य से यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि 'सभी पशु घोड़े हैं'। आधार-वाक्य में 'पशु' पद पूरी व्यापकता में ग्रहण नहीं किया गया है। 'सभी घोड़े पशु हैं' इसका अर्थ यह

[1] Premise. [2] Conclusion = निष्कर्ष

नहीं है कि सभी घोड़े सभी पशु हैं, किंतु इसका अर्थ है कि सभी घोड़े कुछ पशु हैं। तब, यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि 'सभी पशु घोड़े हैं'।

संक्षेप में, 'निगमन विधि' अनुमान की यही पहचान है कि इसका 'आधार' अपने 'निष्कर्ष' से व्यापकता में कभी कम नहीं हो सकता।

(ख) व्याप्ति-विधि[1]—कुछ विशेष उदाहरणों की परीक्षा करके, उनके आधार पर किसी सामान्य सिद्धान्त के अनुमान करने की पद्धति को 'व्याप्ति-विधि' कहते हैं।

रसोई घर में, लोहार की भट्ठी में, कारखाने में, हुक्के की चिलम पर, और भी अनेक जगह धूआँ आग से निकलता देख कर एक का दूसरे से अविनाभाव सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं, और ऐसा सामान्य सिद्धान्त बना लेते हैं कि—जहाँ-जहाँ धूँआ है वहाँ-वहाँ आग है। इस सामान्य सिद्धान्त को 'व्याप्ति'[2] कहते हैं; जो सभी जगह समान रूप से सत्य ठहरता है।

ऐसे तो अपने दैनिक व्यवहार के जीवन में जहाँ कहीं हम कुछ समान घटनायें देखते हैं कोई न कोई व्याप्ति बना लिया करते हैं। किसी विदेश के पाँच-दस आदमियों में कोई समानता देख कर समझ लेते हैं कि वहाँ के सभी आदमी ऐसे ही हैं। किसी पेड़ के एक दो आम मीठे निकले तो समझ लेते हैं कि उस पेड़ के सभी आम मीठे होते हैं। इस तरह अनायास बना ली गई व्याप्तियाँ बहुधा झूठी ठहरती हैं। तर्कशास्त्र के लिए इनका कोई महत्त्व नहीं।

तर्कशास्त्र तो वैसी व्याप्तियाँ बनाना चाहता है जो कार्य-कारण सम्बन्ध पर आश्रित हों, जिनका कभी व्यभिचार न हो। न्यूटन ने पेड़ से फल गिरते देख कर पृथ्वी की आकर्षण शक्ति का पता लगा लिया, और सिद्ध किया कि सभी चीजें पृथ्वी के केन्द्र की ओर आकृष्ट

[1] Induction. [2] Universal Real Proposition.

होती हैं। मलेरिया रोग के कुछ उदाहरणों की परीक्षा कर डाक्टरों ने पता लगा लिया कि इस रोग की उत्पत्ति अमुक प्रकार के मच्छरों के काटने से होती है। इस तरह, भिन्न-भिन्न शास्त्र जिस प्रक्रिया से कुछ को देख कर सब के विषय में जान लेते हैं वही सच्ची शास्त्रीय 'व्याप्ति-विधि' है।

§ १० अनुमान[१] के पहले

ऊपर देख चुके कि 'आधार-' वाक्य या वाक्यों से न्यायसंगत निष्कर्ष निकालना ही 'अनुमान' है। 'अनुमान' की निगमन-विधि[२] में आधार-वाक्य जितना व्यापक होता है निष्कर्ष उतनी ही या उससे कम व्यापकता का निकाला जाता है, उससे अधिक का नहीं। और, व्याप्ति-विधि[३] में आधार-वाक्य विशेष उदाहरण होते हैं, और निष्कर्ष होता है सामान्य-सिद्ध व्याप्ति।

आधार-वाक्य और निष्कर्ष-वाक्य (निगमन-विधि में 'निगमन-वाक्य', और व्याप्तिविधि में 'व्याप्ति-वाक्य') साथ मिला कर जो युक्ति का प्रयोग किया जाता है वही 'अनुमान' की सर्वाङ्गीण अभिव्यक्ति है। तर्कशास्त्र के अध्येय विषय का यही केन्द्र है।

अनुमान की अभिव्यक्ति वाक्यों[४] में होती है। और, वाक्य उद्देश-पद[५] का विधेय पद[६] के साथ सम्बन्ध का सूचक होता है। अतः तर्कशास्त्र में 'अनुमान-प्रकरण' के पूर्व 'पद-प्रकरण' और 'वाक्य-प्रकरण' का रहना आवश्यक है। 'पद' के स्वरूप, प्रकार, अर्थभेद, परस्पर सम्बन्ध आदि विचारणीय विषयों की चर्चा 'पद-प्रकरण' में कर ली जायगी। और, वाक्य के स्वरूप, प्रकार, आदि विषयों पर विचार 'वाक्य-प्रकरण' में होगा। 'पद' और 'वाक्य' के यथार्थ ज्ञान पर ही 'अनुमान' का ज्ञान होगा।

---

[१] Inference. [२] Deduction. [३] Induction.
[४] Proposition. [५] Subject Term. [६] Predicate Term.

§ ११—कुछ दूसरे आवश्यक प्रकरण

जब हम कोई 'युक्ति-प्रयोग' दूसरे के सामने उपस्थित करते हैं तब यह आवश्यक है कि वाक्य के 'पदों' को जिन अर्थों में हम कह रहे हैं ठीक-ठीक उन्हीं अर्थों में उन्हें वह भी समझे; नहीं तो परस्पर कोई समझौता हो ही नहीं सकता। भाषा में एक ही शब्द के कभी-कभी कई अर्थ होते हैं, और कभी-कभी तो परस्पर अत्यन्त भिन्न भी। कभी-कभी एक ही 'पद' को हम स्वयं ही भिन्न-भिन्न स्थलों में भिन्न-भिन्न व्यापकता में प्रयोग करते हैं।

उदाहरण के लिए, 'हिन्दू' पद ही लें। 'हिन्दू' कौन' है इसे भिन्न-भिन्न लोग भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न अर्थों में समझते देखे जाते हैं। कितने लोग कहते हैं कि वे सभी 'हिन्दू' हैं जिनकी मातृभूमि हिन्दुस्तान है। दूसरे लोग मुसलमान और ईसाई को 'हिन्दू' मानने को तैयार नहीं हैं; वे कहते हैं कि 'हिन्दू' वे हैं जो किसी भी भारतीय धर्म को मानते हैं। फिर, दूसरे लोग बौद्धों और जैनों को 'हिन्दू' मानने को तैयार नहीं हैं, वे कहते हैं कि वे 'हिन्दू' हैं जो वेद को प्रमाण मानते हैं। अब, यदि वक्ता अपनी युक्ति के प्रयोग में 'हिंन्दू' पद को एक अर्थ में समझे, और श्रोता दूसरे अर्थ में तो कैसे काम चलेगा ! !

इस कठिनाई से बचने के लिए तर्कशास्त्र ऐसे स्थलों में 'लक्षण'[१] का प्रयोग करता है। 'लक्षण' करने में 'पद' के उन धर्मों का निर्देश कर देते हैं जिससे वह ठीक-ठीक पकड़ा जा सके कि उससे किसका बोध होता है। अतः, शास्त्रीय लक्षण की भी विवेचना तर्कशास्त्र के एक स्वतंत्र प्रकरण में होनी चाहिए।

'लक्षण' उस निश्चित संकेत को बता देता है जिसके सहारे यह जाना

---

[१] Definition.

जा सके कि उस पद से ठीक-ठीक कौन वस्तु समझे जायेंगे। यथा, त्रिभुज का लक्षण किया कि—त्रिभुज वह क्षेत्र है जो तीन भुजाओं से घिरा हो। अथवा, पक्षी का लक्षण किया कि—पक्षी वह प्राणी है जो अपने पंख के सहारे हवा में उड़ सके। किन्तु, यह तो त्रिभुज या पक्षी का सामान्य ज्ञान भर हुआ। उनके विशेष ज्ञान के लिए जानना होगा कि त्रिभुज या पक्षी कितने प्रकार के होते हैं, और जाति-उपजाति-सजाति[१] के विचार से उनके 'विभाग'[२] तथा 'वर्ग'[३] किस तरह निर्धारित करेंगे। अतः तर्कशास्त्र में उन पर शास्त्रीय विचार करने के लिए स्वतंत्र 'विभाग-प्रकरण' और 'वर्ग-प्रकरण' भी होंगे।

§ १२—तर्कशास्त्र या तर्कविद्या[४] ?

कुछ लोगों का कहना है कि युद्ध-विद्या की तरह तर्क-विद्या भी कला है। लाठी-तलवार चलाने की कला से शत्रु को परास्त करना युद्धविद्या बताती है। और, दलीलों के प्रयोग की कला से प्रतिवादी को हरा देना तर्क-विद्या बताती है। अतः, 'तर्कशास्त्र' न कह कर 'तर्कविद्या' कहना अधिक अच्छा होता।

इस पर विचार करने के लिए स्मरण रखना होगा कि 'कला' शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है। 'वह मनुष्य संगीत-कला का विशेषज्ञ है'—इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि वह खूब अच्छी तरह गा-बजा सकता है, भले ही उसे इस विद्या के साहित्य का कोई अध्ययन न हो, और इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि इस विद्या के साहित्य का ही उसे गम्भीर अध्ययन है, भले ही वह 'सा-रे-ग-म-' का एक गत भी न गा न बजा सके।

---

[१] Genus—Species—Coordinate Species.
[२] Division. [३] Classification.
[४] Is Logic a Science or an Art ?

अतः कला शब्द का अर्थ व्यवहार-नैपुण्य भी हो सकता है, और सैद्धान्तिक-ज्ञान भी। सैद्धान्तिक-ज्ञान शास्त्र का अनुगामी होता है। इस अर्थ में तर्क-विद्या को अलबत्ता 'कला' कह सकते हैं। यह सूचित करता है कि वे सैद्धान्तिक-ज्ञान उस तर्कशास्त्र पर आश्रित हैं जो न्यायसंगत 'विचार' की शैली का निर्णायक है। तब, इतनी मर्यादा के साथ यह कह सकते हैं कि 'तर्कविद्या' नाम की एक कला है जो तर्क-शास्त्र पर आश्रित है।

'कला' व्यावहारिक निपुणता का द्योतक है, और 'शास्त्र' व्यवस्थित सैद्धान्तिक-ज्ञान का। तब कह सकते हैं कि तर्कशास्त्र न्यायसंगत तर्क की व्यावहारिक निपुणता का व्यवस्थित सैद्धान्तिक-ज्ञान है।

तर्कशास्त्र पर आक्षेप

तर्कशास्त्र के विरुद्ध कोई ऐसी आपत्ति कर सकता है कि जब तर्क-शास्त्र बिना पढ़े लोग अच्छा से अच्छा तर्क कर लेते हैं तब इसकी क्या आवश्यकता ? यह आपत्ति ठीक वैसी ही होगी कि यदि कोई कहे कि गाँव के नीम हकीम भी जब अपनी जड़ी-बूटी से मार्के की चिकित्सा कर लिया करते हैं तब वैद्यक शास्त्र के पीछे पड़ने की क्या आवश्यकता ? या, कोई कहे कि जब अपढ़ मिस्त्री भी बड़े-बड़े कारखाने की मशीनों को बैठा और चला लेता है तब इंजीनियरिङ्ग शास्त्र पढ़ने से क्या लाभ ?

हो सकता है कि नीम-हकीम या अपढ़ मिस्त्री वैद्य या इंजीनियर से भी बढ़ कर चिकित्सा कर ले या मशीन बैठा ले, किन्तु उनके ज्ञान में बड़ा अन्तर होता है। वैद्य को अमुक रोग और उसकी चिकित्सा के सच्चे सिद्धान्तों का व्यवस्थित ज्ञान है, वह जानता है कि अमुक रोग किस कारण से होता है और अमुक चिकित्सा किस कारण से उसकी निवारक है। नीम-हकीम को यह ज्ञान नहीं है। उसी तरह, इंजीनियर को मशीन

चलाने वाली बिजली की शक्ति किन सिद्धान्तों पर आश्रित है उसका, तथा और भी सभी अन्य सिद्धान्तों का, व्यवस्थित ज्ञान है। मिस्त्री को यह ज्ञान नहीं है।

तर्कशास्त्र के महत्त्व में भी वही बात है। तर्कशास्त्री को इस बात का व्यवस्थित ज्ञान प्राप्त है कि उसके अच्छे तर्क की अच्छाई किस बात में है, और बुरे तर्क की बुराई किस बात में। तर्कशास्त्र के अध्ययन के बिना यह ज्ञान नहीं हो सकता; यदि हो भी तो इतना पूर्ण व्यवस्थित नहीं।

§ १३—दार्शनिक लॉक की आपत्ति

प्रसिद्ध दार्शनिक लॉक तर्कशास्त्र की सार्थकता पर आपत्ति करतें हुए कहता है—"यह हो नहीं सकता कि ईश्वर ने मनुष्य को द्विपद प्राणी बना कर छोड़ दिया, और इसका जिम्मा (तर्कशास्त्र के प्रणेता) अरस्तू को सौंप दिया कि वह उसे 'विवेक' दे दे।"

यदि तर्कशास्त्र इसका दावा करता कि बिना तर्कशास्त्र पढ़े मनुष्य विवेक-पूर्ण विचार नहीं कर सकता तो अलबत्ता लॉक की यह आपत्ति ठीक होती। किन्तु तर्कशास्त्र कभी भी ऐसा दावा नहीं करता। तर्कशास्त्र का यह काम नहीं है कि मनुष्य में विवेकशीलता प्रदान करे; उसका तो काम इतना भर है कि मनुष्य को समझा दे कि उसकी विवेक-शीलता किस बात में है। और, यह सम्भव नहीं होता यदि मनुष्य पहले से ही विवेक-शील न होता। यदि ईश्वर मनुष्य को केवल द्विपद प्राणी बना कर छोड़ देता तो अरस्तू उसे विवेकशील होना नहीं बता सकता, क्योंकि बताने से भी वह नहीं समझता।

उन सिद्धान्तों को बिना जाने जिनकी स्थापना आये दिन तर्कशास्त्र ने की है मनुष्य पहले ही से उनके अनुसार विचार करते रहे हैं। तर्क-शास्त्र की शास्त्रीयता इसी में है कि उसने उन्हें उन सिद्धान्तों से परिचित कर दिया।

§ १४—विज्ञान-शास्त्र[1] और विधान-शास्त्र[2]

यह बात ठीक है कि सभी शास्त्रों का काम नये-नये सिद्धान्तों का आविष्कार करना है। किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि वे सिद्धान्त पहले विद्यमान ही न थे। पृथ्वी में आकर्षण शक्ति तब से विद्यमान है जब से पृथ्वी है। पहले लोग उसे उस व्यवस्थित रूप से नहीं जानते थे जैसा आगे चल कर न्यूटन ने बताया। वैसे ही, पदार्थ-शास्त्र ने जब यह बताया कि शून्य डिग्री तापमान में पानी जम जाता है तो यह कोई नई बात न थी जो पहले न होती थी। आदि काल से पानी जमा करता था।

पदार्थ-शास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, आदि शास्त्रों का काम यही है कि प्रकृति की सभी बातें खोज-खोज कर बता दें, उनका वर्णन भर कर दें। बात जैसी है उसे वैसी जान लेना और बता देना—बस, ये शास्त्र इतना ही करते हैं। इसी से इन्हें 'विज्ञान-शास्त्र' कहते हैं—अथवा, वे शास्त्र जिनका काम केवल विशेष रूप से ज्ञान कर लेना भर है।

'विज्ञान-शास्त्र' के समकक्ष कुछ दूसरे शास्त्र हैं जो 'विधान-शास्त्र' कहे जा सकते हैं। क्या है, यह बताना 'विज्ञान-शास्त्र' का काम है। और, क्या होना चाहिए, यह बताना 'विधान-शास्त्र' का काम है। पदार्थ-शास्त्र विज्ञान-शास्त्र है, क्योंकि वह बता भर देता है कि शून्य डिग्री के तापमान में पानी जम जाता है: वह यह विचार नहीं करता कि किस डिग्री के तापमान में पानी को जमना चाहिए। प्रकृति के नियम तो ध्रुव हैं, उनके विषय में ऐसा होना चाहिए ऐसा नहीं की बात उठाने का कोई अर्थ नहीं। यदि कोई उठावे तो वह मनोरञ्जन मात्र होगा।

ऐसा होना चाहिए और ऐसा नहीं—यह बात मनुष्य के अपने व्यक्तित्व को छोड़ और कहीं बाह्य जगत में सम्भव नहीं है। 'हमें इस तरह विचार

[1] Positive Science.   [2] Regulative Science.

करना चाहिए, इस तरह नहीं ; इस तरह अनुभव करना चाहिए, इस तरह नहीं; इस तरह कर्म करना चाहिए, इस तरह नहीं'—इन्हीं तीन प्रश्नों को ले कर तीन 'विधान-शास्त्रों' का निर्माण हुआ है। इन तीन 'विधान-शास्त्रों' के क्रमशः नाम हैं—तर्कशास्त्र[1], सौन्दर्यशास्त्र[2], और कर्तव्य-शास्त्र[3]। तर्कशास्त्र का लक्ष्य सत्य-प्राप्ति, सौन्दर्यशास्त्र का लक्ष्य सौन्दर्य-प्राप्ति, और कर्तव्यशास्त्र का लक्ष्य औचित्य (=शिव)-प्राप्ति है। ये तीनों शास्त्र अपनी-अपनी दिशा का निर्देश करते हैं जिससे उनके आदर्श सिद्ध हो सकें। इसी से इन्हें 'सादर्श शास्त्र'[4] या 'व्यावहारिक शास्त्र'[5] भी कहते हैं।

§ १५—मानसशास्त्र और तर्कशास्त्र[6]

मानसशास्त्र और तर्कशास्त्र में अन्योन्याश्रय का सम्बन्ध है। मानसशास्त्र, किसी भी दूसरे शास्त्र की तरह, अपनी शास्त्रीय विवेचना में तर्कशास्त्र के सिद्धान्तों का पालन करता है। किंतु, दूसरी ओर, तर्क-शास्त्र को न्यायसंगत 'विचार' के सिद्धान्तों की स्थापना करने में मानस-शास्त्र से सहायता लेनी पड़ती है। मन की वास्तविक प्रवृत्तियों को समझ कर ही 'सत्य' के साधक सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इन दो शास्त्रों में, इतना परस्पर सम्बन्ध होने पर भी, काफी भेद है। भेद की निम्न बातें मुख्य हैं—

(१) मानसशास्त्र का क्षेत्र तर्कशास्त्र के क्षेत्र की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। मानसशास्त्र मन की सभी प्रवृत्तियों की परीक्षा करता है, जो मूलतः तीन हैं—संज्ञा[7], वेदना[8] और चेतना[9]। मन की जो

[1] Logic. [2] Aesthetics. [3] Ethics. [4] Normative Science. [5] Practical Science. [6] Psychology and Logic. [7] Thinking. [8] Feeling. [9] Willing.

जानने की प्रवृत्ति है वह 'संज्ञा' है, सुख-दुःखादि अनुभव करने की जो प्रवृत्ति है वह 'वेदना' है, और कर्म करने की जो प्रवृत्ति है वह 'चेतना' है। इनमें, 'वेदना' और 'चेतना' से तर्कशास्त्र का कोई सम्बन्ध नहीं; उनसे तो सम्बन्ध क्रमशः सौन्दर्यशास्त्र और कर्तव्यशास्त्र को है।

'संज्ञा' के क्षेत्र में भी, मानसशास्त्र का क्षेत्र तर्कशास्त्र के क्षेत्र की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। हम ऊपर देख चुके हैं कि तर्कशास्त्र का विषय प्रत्यक्ष-ज्ञान नहीं है। 'स्मृति' और 'भावना' मानसशास्त्र के मुख्य अध्येय विषय हैं, किंतु तर्कशास्त्र को उनके अध्ययन से मतलब नहीं।

(२) मानसशास्त्र मानसिक प्रवृत्ति की प्रक्रिया का अध्ययन करता है—यह कि विचार कैसे करते हैं। उस प्रक्रिया से प्राप्त जो फल हैं उनका अध्ययन करता है तर्कशास्त्र। तर्कशास्त्र इसकी परीक्षा नहीं करता कि 'प्रत्यय'[1], 'अध्यवसाय'[2] या 'ऊहा'[3], किस प्रक्रिया से होते हैं; यह मानसशास्त्र करता है। किंतु जब 'प्रत्यय', 'अध्यवसाय' या 'ऊहा' बन कर तैयार हुए तो वे तुरत तर्कशास्त्र के अध्येय विषय बन जाते हैं। तर्कशास्त्र इसकी परीक्षा करता है कि ये प्रामाणिक हैं या नहीं।

(३) मानसशास्त्र 'विज्ञान-शास्त्र' है, किंतु तर्कशास्त्र 'विधान-शास्त्र' या 'आदर्श-शास्त्र' है। विज्ञान-शास्त्र का अभिप्राय केवल ज्ञान प्राप्त कर लेना भर है; कैसे कुछ करना चाहिए इस पर वह विचार नहीं करता। विज्ञान-शास्त्र, बिना किसी लक्ष्य या आदर्श का नेतृत्व स्वीकार किए, घटनायें जिस रूप में उपस्थित होती हैं उसी रूप में उनकी परीक्षा करता है। किंतु, विधान-शास्त्र किसी आदर्श की सिद्धि की दृष्टि से एक मार्ग की दिशा बताता है।

---

[1] Concept.

[2] Judgment.

[3] Reasoning.

मानस-शास्त्र, विना किसी लक्ष्य या आदर्श के नेतृत्व के 'विचार' जिन रूपों में उपस्थित होते हैं उन्हीं रूपों में उनकी परीक्षा करता है। किंतु, तर्कशास्त्र 'सत्य' की प्राप्ति की दृष्टि से न्यायसंगत विचार की दिशा बताता है।

(४) मानसशास्त्र यह सिद्ध करता है कि मन की यह तीन प्रवृत्तियाँ —संज्ञा, वेदना, चेतना—सदा परस्पर संश्लिष्ट रहती हैं। एक का दूसरे के विना अध्ययन नहीं किया जा सकता। किंतु, यह होने पर भी, तर्कशास्त्र 'प्रत्यय', 'अध्यवसाय' और 'ऊहा' को उनके अपने शुद्ध रूपों में अध्ययन करता है। उनसे संश्लिष्ट जो भी वेदना या चेतना हो उस पर विचार नहीं करता। अतः, यह कह सकते हैं कि मानसशास्त्र के विषय की अपेक्षा तर्कशास्त्र का विषय अधिक सूक्ष्म और गहन है।

§ १६—तर्कशास्त्र और तत्त्वशास्त्र[१]

दृश्यजगत की आधारभूत पारमार्थिक सत्ता क्या है इसका अध्ययन तत्त्वशास्त्र करता है। तर्कशास्त्र का आधारभूत पारमार्थिक सत्ता के तत्त्वनिरूपण से सम्बन्ध नहीं है। जिस अर्थ में 'पद'[२] उद्देश[३] और विधेय[४] के रूप ग्रहण करता है, तथा जिस अर्थ में वाक्य[५] उनके बीच सम्बन्ध स्थापित करता है उन्हीं अर्थों में तर्कशास्त्र बाह्य पदार्थों को ग्रहण करता है, उससे अधिक नहीं। तत्त्वशास्त्र का 'विचार' के 'रूपों' से कोई सम्बन्ध नहीं, किंतु तर्कशास्त्र के लिए उनका बड़ा अर्थ है। यह भेद होने पर भी इन दो शास्त्रों में परस्पर बड़ा सम्बन्ध है।

तत्त्वशास्त्र, शास्त्र होने के नाते, तर्कशास्त्र के सिद्धान्तों के विरुद्ध

[१] Logic and Metaphysics. [२] Term.
[३] Subject. [४] Predicate.
[५] Proposition.

नहीं जा सकता। तत्त्वशास्त्र का तर्कशास्त्र के नियमों से संयत होना आवश्यक है।

फिर, तर्कशास्त्र की भित्ति तत्त्वशास्त्र पर बनती है। तर्कशास्त्र का लक्ष्य है सत्य-प्राप्ति। तब, उस 'सत्य' का स्वरूप है क्या जिसकी प्राप्ति करनी है? यह प्रश्न तर्कशास्त्र को बलात् तत्त्वशास्त्र के पास ले आता है। विशेष क्या है, सामान्य क्या है, कारण क्या है आदि आदि तत्त्वशास्त्र की बातों पर तर्कशास्त्र विचार करने को बाध्य होता है।

आगे चल कर हम देखेंगे कि तर्कशास्त्र की आधारशिला है 'विचार की मर्यादा के नियम',[1] जो यथार्थ में पदार्थ की मर्यादा के नियम हैं; क्योंकि वे विना वैसा हुए विचार की मर्यादा की रक्षा किस तरह कर सकते! और, पदार्थ की मर्यादा का निरूपण करना 'तत्त्वशास्त्र' का विषय है।

§ १७—तर्कशास्त्र के कुछ लक्षण

इतना परिचय प्राप्त करने के बाद 'तर्कशास्त्र' के कुछ लक्षण जो भिन्न भिन्न दार्शनिकों ने किये हैं उन पर विचार कर लेना अच्छा होगा। कुछ के लक्षणों में 'अतिव्याप्ति'[2] दोष आता है, और कुछ के लक्षणों में 'अव्याप्ति'[3] दोष।

(क) अतिव्याप्त लक्षण

(१) दार्शनिक युबर्वेग ने तर्कशास्त्र का लक्षण किया है—तर्कशास्त्र मानवीय ज्ञान के विधायक नियमों का शास्त्र है।[4]

---

[1] Laws of thought.   विशेष देखिए, परिशिष्ट.........
[2] Too wide.   [3] Too narrow.
[4] "Logic is the science of the regulative laws of human knowledge."
—*System of Logic, translated by Lindsay*, P.I.

समीक्षा—हम ऊपर देख चुके हैं कि 'ज्ञान' शब्द का अर्थ अधिक व्यापक है। प्रत्यक्ष, अनुमिति और आप्तवचन, सभी ज्ञान ही हैं। इनमें, तर्कशास्त्र को प्रत्यक्ष-ज्ञान का अध्ययन करना नहीं है, क्योंकि जो वस्तु प्रत्यक्ष हो ही गया उसके विषय में तर्क की क्या आवश्यकता? उसे तो हम बिना विवाद किये वैसा जान लेते हैं।

रस्सी में साँप का, सूर्य की प्रखर किरणों में पानी का, ठूँठ में मनुष्य का आदि जो प्रत्यक्ष-ज्ञान में भ्रान्ति होती है उसके कारण इन्द्रिय-दोष, दूरी, या किसी प्रकार का व्यवधान हो सकता है। एक प्रकार के अक्षि-रोग से पीड़ित मनुष्य को सभी चीजें पीली ही पीली दीखती हैं। किसी किसी को दूर ही की चीज साफ दीखती है, पास की चीज धुँधली। इन कारणों का अध्ययन वैद्यकशास्त्र करेगा। ज्ञानोत्पत्ति की प्रक्रिया का जहाँ तक सम्बन्ध है वहाँ तक उसका अध्ययन मानसशास्त्र भी करेगा। किंतु, तर्कशास्त्र का इससे सीधा सम्बन्ध नहीं है। तर्कशास्त्र का तो ज्ञान से सीधा सम्बन्ध तभी होता है जब वह 'विचार' का रूप ले लेता है।

आप्तवचन-जन्य ज्ञान भी तर्कशास्त्र का विषय नहीं हो सकता। विश्वसनीय दिशा से आई हुई बात को हम वैसा मान लेते हैं। वह तर्क का विषय नहीं होता। हाँ, इस पर भले ही पहले विचार कर लें कि अमुक विश्वसनीय है या नहीं।

तर्कशास्त्र का अपना विषय, उक्त दो ज्ञानों को छोड़, तीसरा अनुमिति-ज्ञान ही है। जानी चीज़ के आधार पर अनजानी चीज़ को समझने में, भूल होने का खतरा है। प्रत्यक्ष-ज्ञान या आप्तवचन-जन्य-ज्ञान में उसी समय संदेह नहीं रहता। अनुमिति-ज्ञान में उसी समय संदेह का रहना सम्भव है, क्योंकि वह परोक्ष का ज्ञान है; और परोक्ष में संदेह का बना भी रहना स्वाभाविक है। यहाँ विवेक की बड़ी आवश्यकता है। अतः तर्कशास्त्र का अध्येय विषय 'अनुमिति-ज्ञान' ही है।

दार्शनिक युबर्वेग के 'ज्ञान' सामान्य शब्द का प्रयोग करने से जो

प्रत्यक्ष और आप्तवचन का भी उसमें अन्तर्भाव हो गया है यह अतिव्याप्ति दोष है।

(२) पोर्ट रॉयल लाजिक के कर्ता ने भी तर्कशास्त्र के लक्षण करने में ऐसी ही भूल की है। उसका लक्षण है—सत्य की प्राप्ति के लिए मनुष्य की बुद्धि का जो व्यापार है उसी का शास्त्र तर्कशास्त्र है।[1]

समीक्षा—सत्य की प्राप्ति के लिए मनुष्य की बुद्धि का व्यापार प्रत्यक्ष-ज्ञान और आप्तवचन-जन्य-ज्ञान में भी होता ही है। किंतु देख चुके हैं कि तर्कशास्त्र का उनसे सम्बन्ध नहीं है। अतः, इस लक्षण में भी अतिव्याप्ति दोष है।

(ख) अव्याप्त लक्षण

(१) दार्शनिक अल्डरिच तर्कशास्त्र का लक्षण इस प्रकार करता है—तर्कशास्त्र ऊहापोह करने की विद्या (कला) है[2]।

समीक्षा—इस लक्षण के अनुसार तर्कशास्त्र का सम्बन्ध केवल 'अनुमान' से बताया गया है। किंतु, हम देख चुके हैं कि, 'अनुमान' पर विचार करने के साथ साथ, तर्कशास्त्र इन बातों पर भी विचार करता है कि 'लक्षण' क्या है, तथा शास्त्रीय विभाजन और वर्गीकरण किस प्रकार किया जाता है। और भी, तर्कशास्त्र केवल एक कला नहीं है; यह शास्त्र भी है। अतः इस लक्षण में अव्याप्ति दोष है।

(२) अलबर्टस मॅग्नस तथा कुछ दूसरे अरबी शास्त्रियोंने तर्कशास्त्र का लक्षण इस प्रकार किया है—तर्कशास्त्र शास्त्रार्थ करने का शास्त्र है[3]।

---

[1] 'Logic is the science of the operations of the human understanding in the persuit of truth.'

[2] Logic is the Art of Reasoning.

[3] Logic is the Science of Argumentation.

समीक्षा—तर्कशास्त्र शुद्ध शास्त्र नहीं है; यह विद्या भी है। इस लक्षण में तर्कशास्त्र के विधायक स्वभाव का समावेश नहीं हुआ है।

फिर, शास्त्रार्थ किया जा सकता है सत्य की प्राप्ति के लिए, अथवा केवल प्रतिवादी को जैसे हो तैसे नीचा दिखाने के लिए। किंतु, तर्कशास्त्र का दूसरे उद्देश्य से किए गए शास्त्रार्थ से कोई मतलब नहीं। तर्कशास्त्र तो उसी शास्त्रार्थ की विधियों का अध्ययन करता है जिनसे 'सत्य' का लाभ हो।

(३) तर्कशास्त्री वट्ले तर्कशास्त्र का लक्षण इस प्रकार करता है—

तर्कशास्त्र ऊहापोह का शास्त्र भी है, और उसकी विद्या भी[१]।

समीक्षा—यद्यपि इस लक्षण में तर्कशास्त्र के विज्ञानात्मक और विधानात्मक दोनों भावों का संग्रह कर लिया गया है, तथापि यह इसे नहीं व्यक्त करता कि 'लक्षण-विभाजन-वर्गीकरण'[२] भी तर्कशास्त्र के अध्येय विषय हैं। इस तरह, उतनी दूर तक इसमें भी अव्याप्ति-दोष वर्तमान है।

इसी प्रकार कुछ दूसरे दार्शनिकों के भी लक्षण उद्धृत किए जा सकते हैं जिनकी समीक्षा इन्हीं दृष्टियों से की जा सकती है—

थॅमसॅन—तर्कशास्त्र विचार की मर्यादाओं का शास्त्र है।

हैमिल्टन—तर्कशास्त्र विचार की रूपविषयक मर्यादाओं का शास्त्र है। इत्यादि

---

[१] Logic is the Science and also the Art of Reasoning.

[२] Definition—Division—Classification.

Pierce

दूसरा अध्याय

पद-प्रकरण

§ १—प्राक्कथन

तर्कशास्त्र का अपना विषय 'अनुमान' है, जिसका वह अध्ययन करता है। अनुमान के दो अंग होते हैं—(१) आधार-वाक्य, एक या अनेक, और (२) निष्कर्ष-वाक्य। इन वाक्यों को एक साथ क्रम से जमा कर जो उपस्थित किया जाता है उसे 'युक्ति' कहते हैं। निगमन-विधि की युक्ति को 'निगमन-युक्ति'[1] और व्याप्ति-विधि की युक्ति को 'व्याप्ति युक्ति'[2] कहते हैं। उदाहरणार्थ—

निगमन-युक्ति—

सभी 'पशु' 'चतुष्पद' हैं,
सभी 'घोड़े' 'पशु' हैं,
∴ सभी 'घोड़े' 'चतुष्पद' हैं।

व्याप्ति-युक्ति—

'कौआ' 'अण्डज' है,
'सुग्गा' 'अण्डज' है,
'मैना' 'अण्डज' है,
'मोर' 'अण्डज' है इत्यादि
∴ सभी 'पक्षी' 'अण्डज' हैं।

---

[1] Deductive Argument.
[2] Inductive Argument.

देखा कि 'युक्ति' वाक्यों के सम्मेलन से बनती है; अतः 'युक्ति' का स्वरूप समझने के लिए पहले 'वाक्य'[१] का स्वरूप समझना आवश्यक है।

'वाक्य' के तीन अंग होते हैं—(१) उद्देश,[२] (२) विधेय[३] और (३) संयोजक[४]। 'उद्देश' वह है जिसके साथ कोई सम्बन्ध स्थापित किया जाय : 'विधेय' वह है जिसका सम्बन्ध 'उद्देश' के साथ स्थापित किया जाय : और 'संयोजक' वह क्रिया-पद है जो 'उद्देश' और 'विधेय' के बीच के सम्बन्ध का सूचक है। जैसे—

सभी 'पशु' 'चतुष्पद' हैं।

इस वाक्य में 'सभी पशु' उद्देश है, और 'चतुष्पद' विधेय, क्योंकि पहले के साथ दूसरे का सम्बन्ध बताया गया है। अन्त में जो क्रिया का रूप 'हैं' है वह संयोजक है, क्योंकि वह सूचित करता है कि उद्देश के साथ विधेय का विधानात्मक[५] सम्बन्ध है।

अंग्रेजी भाषा के वाक्य में इनके प्रयोग का क्रम इस प्रकार रहता है—उद्देश-संयोजक-विधेय। जैसे—All men are mortal. उद्देश और विधेय के प्रयोग वाक्य के दोनों छोर पर होते हैं, इससे उन्हें Term (टर्म = छोर) कहते हैं। किन्तु, हिन्दी भाषा में उन्हें 'छोर' का नाम नहीं दिया जा सकता, क्योंकि हिन्दी की वाक्य-रचना के अनुसार उनका क्रम भिन्न—उद्देश-विधेय-संयोजक—है। अंगरेजी में इनका जो क्रम है उससे एक बड़ी सहूलियत होती है। यह कि, संयोजक के बीच में आ जाने से उद्देश और विधेय साफ साफ अलग हो जाते हैं, और उनके आपस में खिल्त-मिल्त होने का डर नहीं रहता। हिन्दी में यह डर बना रहता है। उदाहरण के लिए यह वाक्य लें—

---

[१] Proposition. [२] Subject. [३] Predicate.
[४] Copula. [५] Affirmative.

मेरा मित्र गंगा जा रहा है।

इस वाक्य में क्या उद्देश है और क्या विधेय यह निश्चय करना बड़ा कठिन है। गंगा मेरे मित्र का नाम हो सकता है; और तब इस वाक्य के उद्देश और विधेय को इस प्रकार अलग अलग कर सकते हैं—'मेरा मित्र गंगा' 'जा रहा' है। और, यदि गंगा मेरे मित्र का नाम नहीं किंतु नदी का नाम है तो वाक्य इस प्रकार समझा जायगा—'मेरा मित्र' 'गंगा जा रहा' है।

अतः इस भ्रम से बचने के लिए उद्देश और विधेय को पृथक् पृथक् उल्टे कॉमा से '—' इस प्रकार चिह्नित कर देना आवश्यक है।

उद्देश एक शब्द का भी हो सकता है, या अनेक शब्दों का भी, जो मिल कर एक बात प्रगट करें। विधेय के साथ भी यही बात है। उदाहरण के लिए निम्न वाक्य देखें जिसका उद्देश अनेक शब्दों का है, और विधेय केवल एक शब्द का—'भारतवर्ष के जो सबसे बड़े आदमी हैं उनका नाम' 'गांधी' है। उद्देश तथा विधेय को, चाहे वे एक शब्दात्मक हों या अनेक शब्दात्मक, 'पद'[१] कहते हैं। वाक्य[२] इन दो पदों में सम्बन्ध स्थापित करता है। अतः 'वाक्य' के स्वरूप को समझने के लिए 'पद' का स्वरूप समझना आवश्यक है।

§ २—'पद' क्या है ?

उस शब्द या शब्दों के समूह को 'पद' कहते हैं जो किसी वाक्य में उद्देश या विधेय के ऐसा प्रयुक्त हो सके।

सभी 'पद' शब्द हैं, किंतु सभी शब्द 'पद' नहीं हैं। सभी संज्ञा, सर्वनाम, और विशेषण स्वतंत्र रूप से वाक्य में उद्देश या विधेय के ऐसा प्रयुक्त हो सकते हैं; अतः वे 'पद-योग्य' शब्द हैं। ने, को, से, इत्यादि कारक के चिह्न; जल्दी, धीरे, इत्यादि क्रिया-

---

[१] Term. [२] Proposition.

विशेषण; और, जो, सो, इत्यादि संयोजक-सर्वनाम ऐसे शब्द हैं जो स्वतंत्र रूप से किसी वाक्य में उद्देश या विधेय के ऐसा प्रयुक्त नहीं हो सकते। हाँ, वे किसी अनेक-शब्दात्मक 'पद' में संयुक्त हो सकते हैं। अतः, ऐसे शब्दों को 'पद-संयोज्य' कहते हैं। फिर, कुछ ऐसे शब्द भी हैं जो न स्वयं 'पद' के ऐसा प्रयुक्त हो सकते हैं, और न किसी पद में संयुक्त हो सकते हैं, जैसे—हाय, अरे, ओह इत्यादि। ऐसे शब्दों को 'पदायोग्य' कहते हैं। इस तरह, तर्कशास्त्र की दृष्टि से शब्द तीन प्रकार के हुए—(१) पदयोग्य, (२) पद-संयोज्य और (३) पदायोग्य [१]।

'पद-संयोज्य' तथा 'पदायोग्य' शब्द भी जब संज्ञा बन कर वाक्य में उद्देश के ऐसा प्रयुक्त होते हैं, जैसे—

'ने' 'कर्ताकारक का चिह्न' है,

'धीरे' 'क्रियाविशेषण' है,

'जो' 'एक संयोजक सर्वनाम' है,

'हाय' 'शोक का व्यञ्जक' है,—

तब उन्हें भी 'पदयोग्य शब्द' की कोटि में अन्तर्गत करना चाहिए।

§ ३—'पद' के दो बोध

कोई 'पद' क्या बोध करता है? मनुष्य, पक्षी, मछली इत्यादि संज्ञायें 'पद' हैं : जब हम उनके नाम लेते हैं तो हमारे मन में क्या बात आती है?

तर्कशास्त्र की दृष्टि से वे दो बातों का बोध कराते हैं। सर्वप्रथम तो उनसे उन सभी व्यक्तियों का बोध होता है जो उन नामों से जाने जाते

---

[१] (१) Categorematic.
(२) Syncategorematic.
(३) Acategorematic.

हैं। इस बोध को 'व्यक्ति-बोध'[1] या 'द्रव्य-बोध'[1] कहते हैं। संसार में जितने मनुष्य हैं सभी 'मनुष्य' पद के 'व्यक्तिबोध-द्रव्यबोध' में अन्तर्गत हैं। इसी तरह, 'पक्षी' और 'मछली' पदों के व्यक्ति-बोध में संसार के सभी पक्षी और मछलियाँ सम्मिलित हैं। इस बोध को 'पद का विस्तार'[2] भी कहते हैं, क्योंकि यह बताता है कि अमुक 'पद' से समझे जाने वाले व्यक्तियों या द्रव्य का विस्तार क्या है।

'व्यक्ति-बोध' के साथ साथ, 'पद' से उन धर्मों का भी बोध होता है जिनके कारण वे व्यक्तियाँ (या द्रव्य) उस नाम से जानी जाती हैं। उन धर्मों को 'स्वभाव-बोध'[3] कहते हैं। 'मनुष्य' पद से जिन व्यक्तियों का बोध होता है उन्हें 'मनुष्य' क्यों कहते हैं? क्योंकि वे विवेकशील प्राणी हैं। 'पक्षी' पद से जिन व्यक्तियों का बोध होता है उन्हें 'पक्षी' क्यों कहते हैं? क्यों कि वे पंख वाले प्राणी हैं। 'मछली' पद से जिन व्यक्तियों का बोध होता है उन्हें 'मछली' क्यों कहते हैं? क्योंकि वे जलचर प्राणी हैं। यहाँ, विवेकशीलता और प्राणित्व 'मनुष्य' का, पंख वाला होना और प्राणित्व 'पक्षी' का, तथा जलचर होना और प्राणित्व 'मछली' का 'स्वभाव-बोध' है।

यदि उस पद को सुनते उसका 'स्वभाव-बोध' उद्बुद्ध न होता तो हम उसका 'व्यक्ति-बोध' भी नहीं कर सकते। इस तरह, व्यक्ति बोध स्वभाव-बोध पर और स्वभावबोध व्यक्तिबोध पर आश्रित है। पद के दोनों बोध अल्पाधिक मात्रा में साथ साथ होते हैं। जिस तरह व्यक्तिबोध को 'पद का विस्तार' भी कहते हैं, उसी तरह स्वभावबोध को 'पद की गहनता'[4] भी कहते हैं। व्यक्तिबोध को 'पद का क्षेत्र', 'पद की परिधि', 'पद का साम्राज्य' आदि नामों से भी पुकारते हैं। स्वभावबोध

---

[1] Denotation. [2] Extension of the Term.
[3] Connotation. [4] Intension of the Term.

भी 'पद का भाव', 'पद का पदत्व', 'पद का सामर्थ्य' आदि नामों से जाना जाता है।

§४—दोनों 'बोधों' का परस्पर सम्बन्ध

व्यक्तिबोध और स्वभावबोध में परस्पर क्या सम्बन्ध है? ऐसा स्वीकार किया गया है कि किसी पद के व्यक्तिबोध और स्वभावबोध विपरीत दिशा में घटते बढ़ते हैं।[1] अर्थात् जब एक बढ़ता है तब दूसरा घटता है, और जब एक घटता है तब दूसरा बढ़ता है।

'विवेकशील प्राणी होना' मनुष्य पद का स्वभावबोध है; और उसका व्यक्तिबोध है संसार की अखिल जन-संख्या। अब, उसके स्वभाव-बोध में 'सुन्दरता' का एक और गुण बढ़ा दें, तो 'सुन्दर विवेकशील प्राणी' से वे मनुष्य नहीं समझे जायँगे जो कुरूप हैं। इस तरह, 'मनुष्य' पद के स्वभावबोध में वृद्धि कर देने से उसके व्यक्तिबोध में ह्रास हो गया। यदि उसमें 'विद्वत्ता' का एक गुण और बढ़ा दें, तो 'विद्वान सुन्दर विवेकशील प्राणी' से मनुष्य के व्यक्तिबोध में और भी कमी हो जायगी, क्यों कि जो विद्वान नहीं हैं उनकी गिनती यहाँ नहीं की जायगी।

इसका उलटा, पद के 'व्यक्तिबोध' में वृद्धि होने से उसके 'स्वभाव-बोध' में ह्रास होने का नियम भी इसी उदाहरण को प्रतिलोम दिशा में देखने से स्पष्ट हो जायगा। 'विद्वान-सुन्दर-विवेकशील-प्राणी' इतना एक पद हुआ, जिसका व्यक्तिबोध उन कुछ लोगों से ही है जो इन गुणों से सम्पन्न हैं। अब, इस व्यक्तिबोध में यदि हम उन लोगों को भी शामिल कर लें जो मूर्ख हैं तो हमें इस पद के 'स्वभावबोध' से 'विद्वत्ता' का गुण कम कर देना होगा। यदि इसके व्यक्तिबोध को इसमें कुरूप लोगों को

---

[1] The denotation and the connotation of a term vary inversely.

भी सम्मिलित कर के बढ़ाना चाहें तो उसके स्वभावबोध में 'सुन्दरता' के गुण का भी ह्रास हो जायगा।

'मनुष्य' पद का स्वभावबोध मान लें 'क' है, और व्यक्तिबोध 'ख'। तब, पहले में वृद्धि होने से दूसरे के ह्रास होने का नियम निम्न तालिका से प्रकट होगा—

मनुष्य

स्वभावबोध	व्यक्तिबोध
'क' = विवेकशीलता और प्राणित्व	'ख' = संसार की अखिल जनसंख्या
'क' + सुन्दरता	'ख'—कुरूप लोग
'क' + सुन्दरता + अमीरी	'ख'—कुरूप लोग—गरीब लोग
'क' + सुन्दरता + अमीरी + पण्डिताई	'ख'—कुरूप लोग—गरीब लोग —मूर्ख लोग

यहाँ, 'पण्डित-अमीर-सुन्दर-विवेकशील-प्राणी' यह एक पद हुआ। इस पद का व्यक्तिबोध मान लें 'अ' है, और स्वभावबोध 'ब'। तब, पहले में वृद्धि होने से दूसरे के ह्रास होने का नियम निम्न तालिका से प्रकट होगा—

'पण्डित . . . प्राणी'

व्यक्तिबोध	स्वभावबोध
'अ' = संसार के कुल ऐसे मनुष्य	'ब' = पण्डिताई . . . प्राणित्व
'अ' + मूर्ख लोग	'ब'—पण्डिताई
'अ' + मूर्ख लोग + गरीब लोग	'ब'—पण्डिताई—अमीरी
'अ' + मूर्ख लोग + गरीब लोग + कुरूप लोग	'ब'—पण्डिताई—अमीरी—सुन्दरता

पहली तालिका को नीचे की ओर से देखने पर मालूम होगा कि जैसे-जैसे पद के स्वभावबोध में एक एक गुण लुप्त होते गये वैसे-वैसे व्यक्ति-बोध में नये नये प्रकार के लोग भी सम्मिलित किये जाने लगे। उसी तरह, दूसरी तालिका को नीचे की ओर से देखने पर मालूम होगा कि जैसे जैसे पद के व्यक्तिबोध में एक एक प्रकार के लोग लुप्त होते गयें वैसे वैसे स्वभावबोध में नये नये गुण भी सम्मिलित किये जाने लगे।

अतः, पद के दोनों 'बोधों' के परस्पर वृद्धि-ह्रास का नियम चार प्रकार से सिद्ध हुआ—

(१) स्वभावबोध में वृद्धि होने से व्यक्तिबोध में ह्रास होता है।
(२) व्यक्तिबोध में वृद्धि होने से स्वभावबोध में ह्रास होता है।
(३) स्वभावबोध में ह्रास होने से व्यक्तिबोध में वृद्धि होती है।
(४) व्यक्तिबोध में ह्रास होने से स्वभावबोध में वृद्धि होती है।

इस नियम को संक्षेप में इस तरह समझा जा सकता है कि, पद जितना विशेष होता जायगा उसका स्वभावबोध उतना ही बढ़ता जायगा। जैसे—

पद	स्वभावबोध
मनुष्य	मनुष्यत्व
एशियाई	मनुष्यत्व + अमुक महादेश का होना
भारतीय	मनुष्यत्व + अमुक महादेश का होना + अमुक देश का होना
पंजाबी	मनुष्यत्व + अमुक महादेश का होना + अमुक देश का होना + अमुक प्रान्त का होना
......	....
हिम्मत सिंह	मनुष्यत्व, अमुक महादेश, देश, प्रान्त, नगर, महल्ला, घर का होना, अमुक धर्म, जाति, परिवार का होना, इत्यादि इत्यादि।

व्यक्तिबोध की दृष्टि से एक 'जाति'[1] में उसकी 'उपजाति'[2] अन्तर्गत है, किंतु स्वभावबोध की दृष्टि से 'उपजाति' में ही 'जाति' अन्तर्गत है।[3]

'पशु' एक जाति है, जिसकी एक उपजाति 'घोड़ा' है। व्यक्तिबोध की दृष्टि से, पशुओं में घोड़े भी सम्मिलित हैं: और स्वभावबोध की दृष्टि से, घोड़ेपने में पशुत्व भी है।

§ ५—नये पदों की उत्पत्ति

किसी नये गुण का समावेश करके जब किसी पद का स्वभावबोध बढ़ा देते हैं तब वह वही पद नहीं रहता, किंतु नया पद हो जाता है। 'मनुष्य' पद के स्वभावबोध में 'सुन्दरता' का एक और गुण बढ़ा दें, तो यह 'सुन्दर-मनुष्य' एक नया पद बन जाता है: और इस नये पद का व्यक्तिबोध प्रथम पद के व्यक्तिबोध से कम विस्तार का होता है।

इसके उलटे भी, किसी नये प्रकार के लोगों का समावेश करके जब किसी पद का व्यक्तिबोध बढ़ा देते हैं, तब वह वही पद नहीं रहता किंतु नया पद हो जाता है। 'सुन्दर-मनुष्य' एक पद है। इस पद के व्यक्तिबोध में 'कुरूप' लोगों को भी शामिल कर लें, तो यह एक नया पद 'मनुष्य' उपस्थित होगा। और, इस नये पद का स्वभावबोध पहले पद से कम 'गहन' होगा।

यहाँ ध्यान देना आवश्यक है कि यदि किसी पद के स्वभावबोध में कोई ऐसा गुण बढ़ा दें जो उसकी सभी व्यक्तियों में सामान्य रूप से पाया जाता है तो उसके व्यक्तिबोध में कोई ह्रास नहीं होगा। 'त्रिभुज' पद का स्वभावबोध है 'तीन भुजाओं से घिरा होना'। अब, यदि इसमें 'तीन कोणों

[1] Genus. [2] Species.

[3] देखो पृ० ५८

का होना' एक और गुण बढ़ा दें, तो उससे पद के व्यक्तिबोध में कोई ह्रास नहीं होगा, क्यों कि जितने भी त्रिभुज हैं सभी के तीन कोण होते हैं।

§ ६—'बोध' का अर्थ

'व्यक्तिबोध' या 'स्वभावबोध' से उन व्यक्तियों या गुणों का मतलब नहीं है जिन्हें हम या आप जानें ही। हम या आप जानें चाहे न जानें, उस जाति के जितने व्यक्ति-विशेष संसार में हैं सभी उसके व्यक्तिबोध से समझे जायेंगे। उसी तरह, जानें चाहे न जानें, वे सभी धर्म पद के स्वभावबोध में सम्मिलित हैं जिनके आधार पर उस जाति का जातित्व निर्भर करता है। जब कोलम्बस ने अमेरिका महाद्वीप का पता लगाया, तब हम लोगों ने एक नये महाद्वीप से परिचय प्राप्त किया ठीक, किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि 'महाद्वीप' पद के व्यक्तिबोध में कोई वृद्धि हुई; और उस कारण उसके स्वभाव-बोध में कोई ह्रास भी नहीं हुआ। उसी तरह, विज्ञान के विकास से यदि किसी जाति के 'जातित्व' का हमें पूर्णतर ज्ञान प्राप्त हो जाय, तो इसका मतलब यह नहीं कि उसके 'स्वभाव-बोध' में कोई वृद्धि हो गई, और उस कारण उसके व्यक्तिबोध में भी कोई ह्रास नहीं होता। न्यूटन ने पता लगाया कि पदार्थ में आकर्षण शक्ति है; इससे पदार्थ के एक नये गुण के साथ हमारा परिचय हुआ ठीक, किंतु इसका अर्थ यह कभी नहीं कि न्यूटन ने पदार्थ के स्वभावबोध को बढ़ा दिया; और इसी कारण उससे 'पदार्थ' पद के व्यक्तिबोध में कोई ह्रास नहीं होता।

§ ७—परस्पर ह्रास-वृद्धि का कोई निश्चित नियम नहीं

'पद' के एक बोध में ह्रास-वृद्धि का जो दूसरे बोध में उलटा प्रभाव पड़ता है इसके अनुपात का कोई निश्चायक नियम नहीं है। स्वभावबोध में कैसे गुण की वृद्धि करने से व्यक्तिबोध में कैसा अन्तर होगा यह तो इस बात पर निर्भर है कि वह गुण कैसा है।

'मनुष्य' पद के स्वभावबोध में यदि 'लोभी' का गुण बढ़ा दें तो उसके व्यक्तिबोध में बहुत कम अन्तर पड़ता है, क्योंकि अधिक लोग लोभी ही हैं। किंतु, यदि उसके स्वभाव-बोध में 'निर्लोभी' का गुण बढ़ा दें तो उसके व्यक्तिबोध में भारी ह्रास हो जायगा, क्योंकि संसार में निर्लोभी मनुष्य बहुत ही कम हैं।

§ ८—पदों का विभाजन[1]

किन्हीं चीज़ों या व्यक्तियों को भिन्न भिन्न प्रकार से विभागों में बाँट कर उनकी परीक्षा कर लेने से उनके पृथक्-पृथक् स्वरूप स्पष्ट समझने में बड़ी सुविधा होती है। जैसे—

मान लें कि 'क', 'ख' और 'ग' तीन मनुष्य हैं। धर्म के ख्याल से—'क' हिन्दू है; और 'ख + ग' मुसलमान। धन के ख्याल से—'क + ख' धनी हैं, और 'ग' गरीब। स्वास्थ्य के ख्याल से—'ख' नीरोग है, और 'क + ग' रोगी। विद्या के ख्याल से—'क + ख' पढ़ा लिखा और 'ग' अपढ़।

इन विभागों की परीक्षा करने से पता चलता है कि—

(१) 'क' एक पढ़ा-लिखा धनी हिन्दू है, किंतु रोगग्रस्त रहा करता है;

(२) 'ख' एक पढ़ा-लिखा धनी मुसलमान है, और वह नीरोग भी रहता है;

(३) 'ग' एक अपढ़ गरीब मुसलमान है, जो रोगग्रस्त भी रहा करता है।

इसी तरह जितने भी 'पद' हैं उन्हें भिन्न भिन्न प्रकार से विभागों में बाँट कर उनकी परीक्षा कर लें तो किसी विशेष 'पद' का स्वरूप स्पष्टतः निर्धारित करने में बड़ी सुविधा होगी। अनेक तर्कशास्त्रियों ने 'पदों' के

---

[1] Divisions of Terms.

विभाग अपने अपने ढंग से किए हैं। उनमें ध्यान देने योग्य कुछ सम्मत विभाजन नीचे दिये जाते हैं—

(क) एकशब्दात्मक—अनेकशब्दात्मक[1]

जो 'पद' एक से अधिक शब्दों के संयोग से बने हैं उन्हें 'अनेकशब्दात्मक पद' कहते हैं; और शेष 'पदों' को 'एकशब्दात्मक'। जो शब्द 'पदयोग्य' हैं वही 'एक शब्दात्मक पद' हो सकते हैं। 'पदयोग्य' और 'पदसंयोज्य'[2] दोनों प्रकार के शब्द मिल कर 'अनेक-शब्दात्मक पद' बनते हैं। पदों का यह विभाजन उनके केवल बाह्य-रूप का विचार करता है, उनके अपने अर्थों का नहीं। उदाहरणार्थ—

एक-शब्दात्मक पद—मनुष्य, कुर्सी, राजा, देश इत्यादि।

अनेक-शब्दात्मक पद—कुर्सी पर बैठा मनुष्य, देश का राजा इत्यादि।

(ख) व्यक्तिवाचक—जातिवाचक[3]

जिस पद से किसी खास एक का बोध होता हो उसे 'व्यक्तिवाचक पद' कहते हैं। जैसे—'हिमालय', 'महात्मा गांधी', 'यह किताब', 'महाराष्ट्र का वह सिंह जिसने मुगलों के छक्के छुड़ा दिये थे' इत्यादि।

जिस पद से उन सभी का बोध हो जो अपने कुछ साधारण धर्म के कारण एक जाति = वर्ग के समझे जायँ, उसे 'जातिवाचक पद' कहते हैं। जैसे—'मनुष्य', 'पुस्तक', 'जो सदा देश की सेवा के लिए तैयार रहा करते हैं' इत्यादि। इस तरह 'जातिवाचक' पद से केवल उनका

---

[1] Simple (or Single-worded) and Composite (or Many-worded).

[2] Categorematic and Syncategorematic words.

[3] Singular (or Individual) and General (or Common).

ही बोध नहीं होता है जो उस नाम से जाने जाते हैं, किंतु उससे उनके उस साधारण धर्म का भी बोध होता है जिस कारण वे उस नाम से जाने जाते हैं।

'व्यक्तिवाचक' पद दो प्रकार के होते हैं—सार्थक और यादृच्छिक[1]। 'जातिवाचक' पद के भी यह विभाग कर सकते हैं, किंतु उस पर यहाँ विचार करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि तर्कशास्त्र की दृष्टि से उस भेद का कोई महत्व नहीं है।

(१) सार्थक व्यक्तिवाचक पद वह है जिससे उस धर्म का भी पता लग जाय जिस कारण उस का वह नाम दिया गया है। जैसे, 'संसार का सर्वोच्च शिखर' यह एक 'सार्थक व्यक्तिवाचक पद' है; क्योंकि इससे अमुक शिखर एवरेस्ट का बोध होता है, और साथ साथ उसके इस असाधारण धर्म ऊँचाई का भी पता लगता है। 'पंजाब', 'महात्मा जी', 'बुद्ध', 'भूमध्यसागर' 'सीमाप्रान्त', 'युक्तप्रान्त' इत्यादि ऐसे ही पद के उदाहरण हैं। इन पदों का 'व्यक्तिबोध' भी है, और 'स्वभावबोध' भी।

पद के शब्द का कोई अर्थ होने मात्र से वह 'सार्थक व्यक्तिवाचक पद' नहीं समझा जाता। उस व्यक्तिवाचक पद की सार्थकता तो तब है जब उस व्यक्ति का व्यक्तित्व इसी अर्थ में हो। बहुधा ऐसा होता है कि किसी व्यक्ति के नामकरण के समय वह सार्थक होता है, किन्तु आगे चल कर वह अपना अर्थ खो देता है। बचपन में सुन्दर आँखों वाला होने के कारण किसी का उस समय नाम 'सुलोचन' रक्खा जा सकता है; किंतु आगे चल कर उसके अंधा हो जाने पर भी उसका नाम नहीं बदलता। बहुधा लोगों के नाम सार्थक होने पर भी उन अर्थों से उनके व्यक्तित्व का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। जिसका नाम अमर सिंह है वह भी मर जाता है, जिसका नाम धनपाल है वह भी कंगाल हो सकता है,

---

[1] Significant and Non-significant Singular Terms.

इत्यादि। अतः, यथार्थ में 'सार्थक व्यक्तिवाचक पद'[१] वही है जिसका अर्थ उस खास व्यक्ति के व्यक्तित्व के साथ घुलमिल कर इतना एक हो गया है कि एक को दूसरे के बिना समझा भी नहीं जा सकता।

(२) याहच्छिक व्यक्तिवाचक[२] पद वह है जो किसी का रूढ़ नाम हो। जैसे—राम, मोहन, अब्दुल्ला, कलकत्ता, गंगा, विंध्याचल इत्यादि। ऐसे रूढ़ नाम से किसी खास एक का संकेत भर होता है। उसका स्वभाव क्या है इसे बोध कराने का सामर्थ्य उस नाम में नहीं होता। परिचय प्राप्त करने के उपरान्त भले ही अमुक व्यक्ति का नाम लेते उसके असाधारण गुणों का भी बोध कर लें: किंतु, इसका अर्थ यह नहीं कि उस नाम में स्वयं उस व्यक्तिविशेष के स्वभाव उद्बुद्ध कराने की योग्यता थी। अतः, ऐसे रूढ़ याहच्छिक व्यक्तिवाचक पदों के 'व्यक्तिबोध' तो हैं, किंतु उनके 'स्वभावबोध' नहीं हैं।

(ग) समूहवाचक—असमूहवाचक[३]

समूहवाचक पद उसे कहते हैं जिससे अनेक समान व्यक्तियों के एक समुदाय का बोध हो। जैसे—सेना, क्लास, सभा, झुण्ड, गट्टर, जंगल। प्रत्येक सिपाही को पृथक् पृथक् सेना नहीं कह सकते; किंतु कवायद के लिए जब वे एक साथ व्यूह बना कर खड़े होते हैं तो वह समुदाय सेना कहा जाता है। अलग अलग विद्यार्थी क्लास नहीं कहा जाता, किंतु पढ़ने के लिए जब शिक्षक के सामने एक जगह मिल कर बैठते हैं तब उस समुदाय को क्लास कहते हैं। अलग अलग वृक्ष को जंगल नहीं कहते, किंतु जब कहीं एक जगह वे घने उगे रहते हैं तब उस समुदाय को जंगल कहते हैं। इत्यादि

---

[१] Significant Singular Term.

[२] Non-significant Singular Term.

[३] Collective Terms—Non-collective Terms.

जिस पद से किसी एक समुदाय का बोध न हो उसे असमूहवाचक पद कहते हैं। जैसे—सिपाही, विद्यार्थी, मनुष्य, वृक्ष, राजा, हिमालय, जंगल का राजा, इत्यादि।

जब किन्हीं समान व्यक्तियों के समुदाय का कोई विशेष नाम नहीं रहता, तो उसे (= उस समुदाय को) सभी मिल कर, दोनों मिल कर, तीनों मिल कर, ऐसे शब्द जोड़ कर प्रकट करते हैं। जैसे—सभी लड़के मिल कर बैठे हैं, तीनों कोण मिल कर दो समकोण हुए इत्यादि। ऐसे पदों को भी समूहवाचक ही समझना चाहिए।

समूहवाचक पद 'व्यक्तिवाचक' भी हो सकते हैं, और 'जातिवाचक' भी। 'भारतीय राष्ट्र', 'यहाँ की गोरी पलटन', 'हजारीबाग का जंगल' इत्यादि समूहवाचक पद व्यक्तिवाचक हैं, क्योंकि वे एक खास राष्ट्र, पलटन तथा जंगल के नाम हैं। राष्ट्र, पलटन, जंगल इत्यादि समूहवाचक पद जातिवाचक हैं, क्योंकि वे राष्ट्र, पलटन, या जंगल की जाति का बोध करते हैं।

(घ) द्रव्यवाचक—भाववाचक[१]

द्रव्यवाचक पद वह है जिससे किसी वस्तु का बोध हो; और भाववाचक पद वह है जिससे किसी गुण का बोध हो। जैसे—बालक, लोहा, देश, राजा इत्यादि द्रव्यवाचक पद हैं। बालकता, मनुष्यत्व, बुढ़ापा, बेवकूफी, पागलपन इत्यादि भाववाचक पद हैं।

विशेषण के शब्द 'द्रव्यवाचक पद' ही हैं, क्योंकि उनसे यह पता चलता है कि किन वस्तुओं का निर्देश किया गया है। लाल टोपी—यहाँ 'लाल' शब्द यह निर्देश करता है कि किन टोपियों से मतलब है। 'लाल' टोपी ही को बोध कराता है, टोपी की ललाई को नहीं। अतः सभी विशेषणों से उनके गुण के बोधक 'भाववाचक पद' बनाये जा सकते हैं। जैसे, लम्बा

[१] Concrete—Abstract.

से लम्बाई, मोटा से मोटाई, कड़वा से कड़वापन, बूढ़ा से बुढ़ापा इत्यादि। यही नहीं, 'द्रव्यवाचक पदों' से भी उनके गुण के बोधक 'भाववाचक पद' बनाये जा सकते हैं। जैसे—वृक्ष से वृक्षत्व, मनुष्य से मनुष्यत्व, इत्यादि। क्रिया से भी 'भाववाचक पद' बन सकते हैं। जैसे—कृति, स्मृति, दृष्टि, संतोष इत्यादि।

भाववाचक पदों में व्यक्तिवाचक और जातिवाचक का भेद किया जा सकता है या नहीं इस बात पर तर्कशास्त्रियों में मतभेद है। 'ललाई' एक भाववाचक पद है; इसे व्यक्तिवाचक समझना चाहिए या जातिवाचक? कुछ का कहना है कि यह एक जाति का बोध करता है, क्योंकि गहरी-फीकी पचासों तरह की ललाइयाँ हो सकती हैं। दूसरों का कहना है कि चाहे कितनी ही प्रकार की चीजों में वह रंग उपस्थित क्यों न हो, किंतु उनमें वह 'ललाई' तो एक ही है न! मनुष्य भिन्न भिन्न हैं, किंतु सब में मनुष्यत्व एक ही है। सत्य बहुत बातें हैं, किन्तु सब में सत्यता का भाव एक ही है।

पहले पक्ष के अनुसार सभी भाववाचक पद जातिवाचक हैं; और दूसरे पक्ष के अनुसार सभी व्यक्तिवाचक।

इस विषय में बीच का रास्ता ग्रहण करना अधिक ठीक है। कुछ भाववाचक पद तो निश्चित रूप से जातिवाचक हैं। जैसे—रंग, सद्गुण, दुर्गुण, इत्यादि; क्योंकि कालापन, हरापन आदि अनेक रंग होते हैं, और सद्गुण तथा दुर्गुण भी अनेक हैं।

ललाई, मनुष्यत्व, सुन्दरता आदि पदों को व्यक्तिवाचक ही मानना उचित है।

(ङ) विधि[1]—निषेध[2]—अभाव[3]

विधि-पद[1] वह है जो चीज का रहना बतावे। निषेध-पद[2] वह है

---

[1] Positive. [2] Negative. [3] Privative.

जो चीज़ का न रहना बतावे। अभाव पद वह है जो चीज के अभाव का रहना बतावे, और जिससे यह मालूम हो कि उस चीज को वहाँ रहने की योग्यता है। जैसे—घड़ा भरा है; घड़ा नहीं भरा है; और घड़ा खाली है। 'भरा' विधिपद है। 'नहीं भरा' निषेध-पद है; क्योंकि यह भरा होने का निषेध भर करता है : हो सकता है कि घड़ा आधा या चौथाई ही भरा हो। 'खाली' अभाव-पद है, क्योंकि यह भरा होने के बिल्कुल अभाव के होने का सूचक है; और इससे यह मालूम होता है कि घड़ा फिर भी भरा जा सकता है। इस तरह, 'अभाव-पद' बताता है कि (१) पहले वह चीज यहाँ थी, अथवा साधारणतः रहा करती है, (२) अब एकदम नहीं है, और (३) भविष्य में उसके फिर भी आने की कल्पना की जा सकती है। 'अन्धा, बहरा, गूँगा, लँगड़ा, बाँझ' आदि शब्द अभाववाचक पद के उदाहरण हैं।

(च) स्वतंत्र[१]—सम्बद्ध[२]

स्वतंत्र-पद[१] वह है जो, बिना किसी दूसरे की अपेक्षा किये, अपना अर्थ स्वयं व्यक्त कर दे। सम्बद्ध-पद[२] वह है जिसका अर्थ किसी दूसरे के सम्बन्ध से ही समझा जा सके। जैसे—फूल, मनुष्य, पहाड़ आदि 'स्वतन्त्र-पद' हैं। बेटा, गुरु, नौकर, प्रजा आदि 'सम्बद्ध-पद' हैं; क्योंकि बाप के सम्बन्ध से ही बेटा बेटा है, शिष्य के सम्बन्ध से ही गुरु गुरु है, मालिक के सम्बन्ध से ही नौकर नौकर, राजा के सम्बन्ध से ही प्रजा प्रजा है। बाप क्या है बिना समझे बेटा क्या है नहीं समझा जा सकता, शिष्य क्या है बिना समझे गुरु क्या है नहीं समझा जा सकता, मालिक क्या है बिना समझे नौकर क्या है नहीं समझा जा सकता, राजा क्या है बिना समझे प्रजा क्या है नहीं समझा जा सकता। 'सम्बद्ध-पद' बराबर जोड़े जोड़े

---

[१] Absolute Term. [२] Relative Term.

हो कर रहते हैं; जैसे—बाप-बेटा, शिष्य-गुरु इत्यादि। कभी कभी जोड़े एक ही शब्द के होते हैं; जैसे—दोस्त-दोस्त, भाई-भाई, साथी-साथी, पड़ोसी-पड़ोसी, शत्रु-शत्रु इत्यादि। ऐसे शब्द भी 'सम्बद्ध-पद' ही के उदाहरण हैं।

यह बात सिद्ध हो चुकी है कि संसार में किसी भी चीज की स्थिति एकान्ततः स्वतन्त्र नहीं हो सकती। सभी चीज अपनी उत्पत्ति तथा स्थिति के लिए किसी दूसरी चीज पर आश्रित करती है। मनुष्य हवा-जल-भोजन पर आश्रित है। किन्तु, मनुष्य-हवा सम्बद्धपद नहीं हैं, क्योंकि बिना यह समझे कि मनुष्य किसे कहते हैं यह समझा जा सकता है कि हवा किसे कहते हैं।

(छ) स्वभाववाचक—निःस्वभाववाचक

स्वभाववाचक पद[1] वह है जिसका 'व्यक्तिबोध' और 'स्वभावबोध' दोनों हो। निःस्वभाववाचक पद[2] वह है जो किसी व्यक्तिवाचक वस्तु या भाव का नाम हो; जिसका केवल 'व्यक्तिबोध' हो; जो किसी 'स्वभावबोध' से नहीं, किन्तु निर्देश करने से जाना जाय।

'मनुष्य' पद स्वभाव-वाचक है, क्योंकि इससे उन सभी व्यक्तियों का बोध होता है जो इस नाम से पुकारे जाते हैं, और साथ ही साथ मनुष्यत्व गुण का भी बोध होता जिससे सभी मनुष्य मनुष्य समझे जाते हैं। अर्थात्, इस पद से 'व्यक्तिबोध' और 'स्वभावबोध' दोनों की प्राप्ति होती है।

रामनारायण, महादेवी, सत्यता, ललाई आदि पद 'निःस्वभाववाचक' हैं, क्योंकि वे व्यक्तिवाचक वस्तु या गुण के नाम भर हैं। इन पदों के केवल व्यक्तिबोध हैं, स्वभावबोध नहीं।

---

[1] Connotative. [2] Non-connotative.

निम्न प्रकार के पद 'स्वभाववाचक' हैं—

(क) सभी जातिवाचक पद—वृक्ष, कुर्सी, कलम, मनुष्य, रंग, सद्गुण, दुर्गुण इत्यादि।

(ख) सभी सार्थक व्यक्तिवाचक पद—महात्मा जी, संयुक्तप्रान्त, संसार का सर्वोच्च शिखर इत्यादि।

निम्न प्रकार के पद 'निःस्वभाववाचक' हैं—

(क) सभी व्यक्तिवाचक वस्तु—हिमालय, रामनारायण, गंगा इत्यादि।

(ख) सभी व्यक्तिवाचक भाव—सत्यता, लड़ाई, बराबरी, खींचा-तानी इत्यादि।

§ ९—पदों में परस्पर सम्बन्ध

(क) जाति-उपजाति[1]—यदि दो पदों में परस्पर ऐसा सम्बन्ध हो कि पहले का व्यक्तिबोध दूसरे के व्यक्तिबोध को अपने अन्तर्गत कर ले, तो पहला दूसरे के सम्बन्ध में 'जाति' है, और दूसरा पहले के सम्बन्ध में 'उपजाति' है। भारतीय-पंजाबी, पशु-घोड़ा, वृक्ष-आम इत्यादि पदों में यही जाति-उपजाति का सम्बन्ध है।

'भारतीय' पद का व्यक्तिबोध[2] 'पंजाबी' पद के व्यक्तिबोध को अपने अन्तर्गत करता है, क्योंकि 'भारतीय' पद से समझने जाने वाले व्यक्तियों में 'पंजाबी' पद से समझने जाने वाले सभी व्यक्ति अन्तर्गत हैं। अतः 'पंजाबी' पद के सम्बन्ध में 'भारतीय' पद जाति है; और 'भारतीय' पद के सम्बन्ध में 'पंजाबी' पद उपजाति है।

यहाँ, 'जाति-उपजाति' सम्बन्ध का 'अंगी-अंग' सम्बन्ध से भेद कर लेना आवश्यक है। 'अंगी' में उसके सभी 'अंग' अन्तर्गत होते हैं; किंतु

---

[1] Genus—Species. [2] Denotation.

इससे 'अंग' के सम्बन्ध में 'अंगी' को जाति नहीं समझ सकते। गाड़ी अंगी है, और उसका चक्का अंग। गाड़ी में चक्का अन्तर्गत है। किंतु चक्का के सम्बन्ध में गाड़ी को 'जाति' समझना भूल है।

इन दो प्रकार के सम्बन्धों में क्या भेद है उसे इस तरह ठीक-ठीक समझ सकते हैं। 'उपजाति' को उसकी 'जाति' के नाम से पुकार सकते हैं, किंतु किसी 'अंग' को उसके 'अंगी' के नाम से नहीं पुकार सकते। 'पंजाबी' को 'भारतीय' नाम से पुकार सकते हैं; किंतु 'चक्का' को 'गाड़ी' नाम से नहीं पुकार सकते। पृथक् पृथक् प्रत्येक गाड़ी में उसका चक्का अन्तर्गत है, किंतु पृथक् पृथक् प्रत्येक भारतीय में पंजाबी अन्तर्गत नहीं है।

जाति-उपजाति के सम्बन्ध के विषय में एक बात और ध्यान देने योग्य है। वह यह कि, व्यक्तिबोध की दृष्टि से भले ही उपजाति अपनी जाति के अन्तर्गत हो, स्वभावबोध की दृष्टि से उलटे जाति ही अपनी उपजाति के अन्तर्गत होता है। भारतीय लोगों में पंजाबी लोग भी सम्मिलित हैं; किंतु पंजाबीपने में भारतीयपना सम्मिलित है, क्योंकि कोई पंजाबी पंजाबी नहीं हो सकता यदि वह पहले भारतीय नहीं है।[१]

अंगी-अंग के सम्बन्ध में यह बात नहीं घटती। यह मान भी लें कि 'गाड़ी' में 'चक्का' अन्तर्गत है, तो यह नहीं कह सकते कि चक्केपने में गाड़ीपना अन्तर्गत है।

(ख) सजाति-सजाति—यदि दो या अधिक पदों में परस्पर ऐसा सम्बन्ध हो कि उनके अपने अपने व्यक्तिबोध एक ही अन्य पद के व्यक्तिबोध में अन्तर्गत हों, तो वे एक दूसरे के सम्बन्ध में 'सजाति'[२] कहे जाएँगे। पंजाबी-गुजराती, घोड़ा-बैल, आम-जामुन, गुलाब-गेंदा आदि पदों में परस्पर यही सम्बन्ध है।

---

[१] देखो पृ० ४७

[२] Co-ordinate Species.

'पंजाबी', 'गुजराती', 'सिन्धी', और 'बिहारी' पदों के अपने अपने जो व्यक्तिबोध हैं सभी एक अन्य 'भारतीय' पद के व्यक्तिबोध के अन्तर्गत हैं, अतः वे पद एक दूसरे के सजाति हैं।

सजाति पदों के व्यक्तिबोध एक दूसरे से सर्वथा पृथक् होते हैं। 'पंजाबी' पद का व्यक्तिबोध 'गुजराती' पद के व्यक्तिबोध से सर्वथा पृथक् है, क्योंकि कोई पंजाबी गुजराती नहीं है, और कोई गुजराती पंजाबी नहीं है।

'पंजाबी' और 'लाहौरी', इन दो पदों के व्यक्तिबोध तीसरे 'भारतीय' पद के व्यक्तिबोध में अन्तर्गत होते हैं सही, किंतु वे एक दूसरे के 'सजाति' नहीं कहे जा सकते; क्योंकि 'पंजाबी' पद का व्यक्तिबोध 'लाहौरी' पद के व्यक्तिबोध को अपने अन्तर्गत कर लेता है।

(ग) आसन्न जाति—आसन्न उपजाति—यदि 'जाति' और 'उपजाति' के बीच किसी तीसरे पद के व्यक्तिबोध आ जाने की सम्भावना न हो तो पहला दूसरे के सम्बन्ध में 'आसन्न जाति'[१] और दूसरा पहले के सम्बन्ध में 'आसन्न उपजाति'[२] कहा जाता है। 'भारतीय-पंजाबी' में यही सम्बन्ध है, क्योंकि दोनों के बीच और किसी पद का व्यक्तिबोध उपस्थित नहीं है। 'भारतीय' पद 'पंजाबी' पद का 'समनन्तर जाति' है, और 'पंजाबी' पद 'भारतीय' पद का 'समनन्तर उपजाति'। हाँ, यदि इनके बीच 'उत्तर भारतीय' पद का व्यक्तिबोध उपस्थित किया जा सके, तो 'भारतीय—उत्तरभारतीय—पंजाबी' ऐसा हो जाने से उनमें वह सम्बन्ध नहीं समझा जायगा। तब, वही सम्बन्ध 'उत्तर भारतीय' और 'पंजाबी' में स्थापित किया जा सकेगा।

(घ) दूरस्थ जाति—दूरस्थ उपजाति—यदि 'जाति' और 'उपजाति' के बीच अन्य पद या पदों के व्यक्तिबोध का अन्तर्भाव हो तो पहला दूसरे

---

[१] Proximate Genus. [२] Proximate Species.

के सम्बन्ध में दूरस्थ-जाति[१] है, और दूसरा पहले के सम्बन्ध में 'दूरस्थ-उपजाति'[२] है। जैसे, पंजाबी के सम्बन्ध में मनुष्य 'दूरस्थ जाति' है, और मनुष्य के सम्बन्ध में पंजाबी 'दूरस्थ उपजाति' है; क्योंकि इन दोनों के बीच 'भारतीय' पद का व्यक्तिबोध उपस्थित है।

(ङ) महा जाति[३]—उस पद को 'महा जाति' कहते हैं जिसका व्यक्तिबोध किसी भी दूसरे पद के व्यक्तिबोध के अन्तर्गत न हो सके। ऐसा पद 'सत्ता' है, क्योंकि इसके अन्तर्गत सब कुछ आ जाता है। महा जाति की फिर कोई जाति नहीं होती।

(च) अन्त्य जाति[४]—उस पद को 'अन्त्य जाति' कहते हैं जिसका व्यक्तिबोध किसी दूसरे पद के व्यक्तिबोध को अपने अन्तर्गत न कर सके। अन्त्य जाति की फिर कोई उपजाति नहीं होती।

§ १०—पदों में परस्पर भेद[५]

(क) भेदक—यदि दो पदों में ऐसा भेद हो कि एक के सत्य होने पर दूसरे का झूठ होना आवश्यक हो, किंतु एक के झूठ होने पर दूसरे का सत्य होना आवश्यक न हो, तो वे एक दूसरे के भेदक[६] कहे जायेंगे। जैसे—उजला-काला, आम-इमली, दीया-लालटेन इत्यादि। यदि कोई चीज उजली है तो उसी समय उसी स्थान पर काली नहीं हो सकती। किंतु यदि कोई चीज़ उजली नहीं है तो उसका काली होना आवश्यक नहीं, वह तीसरे रंग की हो सकती है। यदि किसी चीज़ का आम होना सत्य है तो उसका इमली होना झूठ होगा। किंतु, यदि किसी चीज़ का आम होना झूठा है, तो यह आवश्यक नहीं कि वह इमली ही हो; वह कोई तीसरी चीज़ हो सकती है। इत्यादि

---

[१] Remote Genus. [२] Remote Species.
[३] Summum Genus. [४] Infima Species.
[५] Opposition. [६] Contrary.

'भेदक पद' दोनों के दोनों झूठे हो सकते हैं, किन्तु दोनों के दोनों सत्य नहीं हो सकते।

(ख) विरुद्ध[1]—यदि दो पदों में ऐसा भेद हो कि एक के सत्य होने पर दूसरे का झूठ होना आवश्यक हो, और एक के झूठ होने पर दूसरे का सत्य होना भी, तो वे एक दूसरे के विरुद्ध कहे जायेंगे। जैसे—मनुष्य-अमनुष्य, वृक्ष-अवृक्ष, पुस्तक-अपुस्तक, जीवित-मृत, उत्तीर्ण-अनुत्तीर्ण, इत्यादि।

'विरुद्ध' पद दोनों के दोनों न तो सत्य होंगे, न झूठ। उनमें एक अवश्य सत्य होगा और एक अवश्य झूठ।

कहा जाता है कि किन्हीं दो 'विरुद्ध' पदों में सारा विश्व अन्तर्गत हो जाता है। 'मनुष्य' से मनुष्य समझे जायेंगे, और 'अमनुष्य' से विश्व की सारी शेष चीजें जो मनुष्येतर हैं। इस तरह, 'अमनुष्य' पद में पशु, पक्षी, टेबल, घर, पहाड़, सूरज, चाँद इत्यादि सभी चीजें चली आती हैं।

किन्तु, ऐसा समझना उचित नहीं प्रतीत होता। 'अमनुष्य' पद से वृक्ष, पहाड़, नदी, समुद्र सभी का बोध यथार्थ में नहीं हो सकता। अधिक से अधिक 'अमनुष्य' पद से मनुष्येतर पशु, पक्षी आदि उसके सजाति-पदों का परिहार होना समझा जा सकता है। अतः, किन्हीं दो विरुद्ध पदों में सारा विश्व समा जाता है ऐसा न कहकर यह कहें कि, "किन्हीं दो विरुद्ध पदों में उसके सभी सजाति अन्तर्गत हो जाते हैं" तो हम अधिक सत्य के निकट होंगे। दो विरुद्ध पद उसी क्षेत्र को व्याप्त करते हैं जिसमें उनकी अवगति सम्भव है। 'मनुष्य-अमनुष्य' पदों की अवगति भिन्न भिन्न प्राणियों तक ही है, नदी-पहाड़-सूरज तक नहीं। अतः, 'अमनुष्य' पद से नदी-पहाड़ भी समझने की कोशिश करना व्यर्थ प्रयास है। विरुद्ध पदों की अवगति जिस क्षेत्र में सीमित होती है उसे 'अवगति-क्षेत्र'[2] कहते हैं।

---

[1] Contradictory. [2] Universe of Discourse.

तीसरा अध्याय

लक्षण[1]-प्रकरण

§ १—'लक्षण' की आवश्यकता

विविध प्रकार की वस्तुओं के बीच उसके धर्मों का उल्लेख करके किसी एक का निर्देश कर देने, और उसके अन्य सभी सजाति का परिहार कर देने के लिए 'लक्षण' का प्रयोग किया जाता है। कुछ लड़के मैदान में खेल रहे हों। अब यदि किसी को यह कहें कि उनमें जो धोती पहने हैं उन्हें बुला लाओ, तो इतने से इष्ट लड़कों का निर्देश हो जाता है, और अनिष्ट लड़कों का परिहार भी। इस तरह, 'धोती पहने लड़के' एक तरह उनका 'लक्षण' हुआ। तब, कह सकते हैं कि सभी में से इष्ट का स्वीकार और अनिष्ट का परिहार करा देना 'लक्षण' का काम है।

§ २—तीन धर्म

किसी पद का "लक्षण" उसके धर्मों का उल्लेख करके करते हैं। इसलिए यहाँ विचार कर लेना आवश्यक है कि धर्म (= गुण) कितने प्रकार के होते हैं, और उनमें "लक्षण" करने के लिए किनका उपयोग है और किनका नहीं।

धर्म तीन प्रकार के होते हैं—स्वभाव,[2] स्वभावसिद्ध[3] और आकस्मिक[4]।

---

[1] Definition. [2] Connotation.
[3] Proprium or Property. [4] Accident.

(१) उस धर्म को स्वभाव-धर्म कहते हैं जिस कारण उस पद से समझे जाने वाले व्यक्ति वैसा समझे जाते हैं। 'जलचर-प्राणी होना' मछली पद का स्वभाव-धर्म है, क्योंकि इसी धर्म के कारण मछली मछली समझी जाती है। 'तीन भुजाओं से घिरा होना' त्रिभुज पद का स्वभाव-धर्म है, क्योंकि इसी धर्म के कारण त्रिभुज त्रिभुज समझा जाता है। 'पाँख वाला प्राणी होना' पक्षी पद का स्वभावधर्म है, क्योंकि इसी धर्म के कारण पक्षी पक्षी समझा जाता है।

(२) स्वभावसिद्ध-धर्म वह धर्म है जो स्वभाव-धर्म का कोई अंग न होते हुए भी उसी से सिद्ध होता है। 'पानी में साँस ले सकना' मछली का स्वभाव-सिद्ध गुण है, क्योंकि उसका यह धर्म जलचर होने से सिद्ध है। 'तीनों कोणों का मिल कर दो समकोण के बराबर होना' त्रिभुज पद का स्वभावसिद्ध धर्म है, क्योंकि यह धर्म तीन भुजाओं से घिरे होने की बात से निकलता है। 'हवा में उड़ सकना' पक्षी पद का स्वभाव-सिद्ध धर्म है, क्योंकि यह धर्म पाँख वाला होने की बात से ही सिद्ध होता है।

स्वभावसिद्ध-धर्म पद से व्यक्त होने वाले सभी व्यक्तियों में अनिवार्य रूप से अनुगत रहता है, क्योंकि वह उनके स्वभावधर्म में ही निहित है।

(३) स्वभाव-धर्म और स्वभावसिद्ध-धर्म को छोड़ शेष सभी धर्मों को आकस्मिक धर्म कहते हैं। अमुक वस्तु के वस्तुत्व की रक्षा के लिए आकस्मिक धर्म की आवश्यकता नहीं। उस धर्म के न होने पर भी वह वस्तु वैसा समझा जा सकता है। जैसे—मछली के अमुक रंग का होना, त्रिभुज का समद्विबाहु होना, या पक्षी का द्विपद होना। अमुक रंग की न होने पर भी मछली मछली रह सकती थी, समद्विबाहु न होकर भी त्रिभुज त्रिभुज रह सकता था, द्विपद न हो कर भी पक्षी पक्षी रह सकता था, इत्यादि।

इन तीन प्रकार के धर्मों को देखने से स्पष्ट मालूम होता है कि 'लक्षण' के लिए इनमें केवल 'स्वभाव-धर्म' का ही उपयोग है। पूरे स्वभावधर्म

का उल्लेख कर देने मात्र से वस्तु का लक्षण हो जाता है। आकस्मिक और स्वभावसिद्ध धर्मों में चाहे कितने का भी उल्लेख क्यों न करें वस्तु का लक्षण नहीं बन सकता। वह अच्छा से अच्छा वर्णन[१] हो सकता है, किंतु लक्षण[२] नहीं। यदि कहें कि, "मनुष्य वह है जो दो पैरों वाला है, दो हाथों वाला है, घर में रहता है, रोटी खाता है, साँस लेता है, लिख-पढ़ सकता है, विचार करता है इत्यादि इत्यादि" तो इससे 'मनुष्य' का लक्षण नहीं होता। यह मनुष्य का वर्णन हुआ, 'लक्षण' नहीं।

§ ३—लक्षण का लक्षण[३]

स्वभावधर्म में दो बातें होती हैं—(१) अपनी आसन्न-जाति[४] का सामान्य, और (२) अपनी असाधारणता[५] जिससे वह अपनी सजाति से पृथक् होता है; इसे 'व्यवच्छेदक धर्म' भी कहते हैं।

उदाहरणार्थ, 'त्रिभुज' का स्वभाव-धर्म है—(१) क्षेत्र होना, और (२) तीन भुजाओं से घिरा होना। यहाँ, 'क्षेत्र' त्रिभुज की अपनी आसन्न-जाति है; और 'तीन भुजाओं से घिरा होना' त्रिभुज की अपनी असाधारणता है जिससे त्रिभुज अपनी सजाति चतुर्भुज, पञ्चभुज आदि सभी अन्य क्षेत्रों से पृथक् किया जाता है।

'पक्षी' का स्वभाव-धर्म है—(१) प्राणी होना, और (२) पाँख वाला होना। यहाँ, 'प्राणी' पक्षी की अपनी आसन्न-जाति है; 'पाँख वाला' पक्षी की अपनी असाधारणता है जिससे पक्षी अपनी सजाति पशु, मछली तथा मनुष्य से पृथक् किया जाता है।

---

[१] Description.

[२] Definition.

[३] Definition of Definition.

[४] Proximate Genus. [५] Differentia.

'मनुष्य' का स्वभावधर्म है—(१) प्राणी होना, और (२) विवेकशील होना। यहाँ, 'प्राणी' मनुष्य की अपनी आसन्न जाति है; और 'विवेकशील होना' उसकी अपनी असाधारणता है, जिससे वह अपनी सजाति पक्षी, पशु तथा मछली से पृथक् किया जाता है।

अतः, 'जाति और असाधारण धर्म का उल्लेख कर देना'[1] लक्षण का लक्षण कहा जाता है।

§ ४—लक्षण के नियम और उसके दोष

(१) 'लक्षण' में लक्ष्य पद के पूरे स्वभावधर्म का उल्लेख होना चाहिए। अर्थात्, उसकी आसन्न जाति का सामान्य और उसका असाधारण-धर्म, दोनों कहे जाने चाहिए। यदि इन दोनों में से एक छूट जाय, तो उस लक्षण से पद के व्यक्ति-बोध से अधिक का बोध होने लगेगा। पक्षी का यदि लक्षण करें कि, "पक्षी वह है जो प्राणी है" अथवा "पक्षी वह है जो पंख वाला है", तो पहले के अनुसार पशु, मछली या मनुष्य का भी पक्षी से बोध होने लगेगा, और दूसरे के अनुसार हवाई जहाज, बिजली का पंखा और उन सभी का बोध होने लगेगा जिनमें किसी प्रकार का पंख लगा हो।

त्रिभुज एक क्षेत्र है; त्रिभुज तीन भुजाओं वाला है; मछली पानी में रहने वाला है; आम एक फल है इत्यादि लक्षणों में यही दोष है। इस दोष को अतिव्याप्ति[2] दोष कहते हैं।

(२) लक्षण में लक्ष्य पद के स्वभावधर्म को छोड़ और किसी दूसरे धर्म का उल्लेख नहीं होना चाहिए। केवल स्वभावधर्म का उल्लेख कर

[1] Definition is a statement of the Proximate genus and the differentia of the term.

[2] The Fallacy of Too Wide Definition.

देने से पद के पूरे व्यक्तिबोध का निर्देश हो जाता है। उसके साथ-साथ यदि उसके स्वभावसिद्ध धर्म का भी उल्लेख करें तो वह व्यर्थ है। "त्रिभुज वह क्षेत्र है जो तीन भुजाओं से घिरा हो, जिसके तीनों कोण मिलकर दो समकोण के बराबर होते हैं"—इस लक्षण में अन्तिम भाग व्यर्थ है। तीन कोणों का मिलकर दो समकोण के बराबर होना तो त्रिभुज के स्वभाव-धर्म में ही निहित है। यह ठीक है कि इससे त्रिभुज के विषय में हमारा ज्ञान अधिक समृद्ध हो गया। किंतु 'लक्षण' का तो यह उद्देश्य नहीं है। 'लक्षण' का तो उद्देश्य केवल पद के पूरे व्यक्तिबोध का निर्देश कर देना ही है; और वह तो स्वभावधर्म के उल्लेख से हो जाता है। अतः स्वभाव-सिद्ध धर्म का भी उल्लेख करना व्यर्थ है। इस दोष को व्यर्थधर्मारोप दोष[१] कहते हैं।

पक्षी वह प्राणी है जिसके पंख होते हैं, और जो साँस लेता है : मछली वह प्राणी है जो पानी में रहता है, और जो तैरना जानता है : मनुष्य वह विवेकशील प्राणी है, जो विचार कर सकता है इत्यादि लक्षणों में यही दोष है।

यदि लक्षण में स्वभावधर्म के साथ साथ पद के 'आकस्मिक धर्म'[२] का भी उल्लेख कर दें तो उसके व्यक्तिबोध के निर्देश में कमी आ जाती है। जैसे, "पक्षी पाँख वाला प्राणी है, जो पेड़ पर घोसला लगाता है।" इस लक्षण में 'जो पेड़ पर घोसला लगाता है' यह पक्षी का आकस्मिक धर्म है। इसका उल्लेख कर देने से 'पक्षी' पद का जो व्यक्तिबोध है उसमें कमी आ गई, क्योंकि पेड़ पर घोसला न बनाने वाले मुर्गी, बत्तक आदि पक्षियों का समावेश इसमें नहीं हुआ। लक्षण के इस दोष को अव्याप्ति दोष[३] कहते हैं।

---

[१] The Fallacy of Redundant Definition.
[२] Accident. [३] Fallacy of Too Narrow Definition.

(३) लक्षण की भाषा आलंकारिक और दुर्बोध न हो।

'लक्षण' का उद्देश्य है पद के व्यक्तिबोध को पूर्णतः स्पष्ट बता देना। आलंकारिक और दुर्बोध भाषा से कुछ का कुछ समझ लिया जाने का डर रहता है, अतः इससे 'लक्षण' का उद्देश्य सिद्ध नहीं होता।

सिंह जंगल का राजा है, ज्ञान मनुष्य का रत्न है, सूर्य अन्तरिक्षविहारी जाज्वल्यमान लोकनेत्र है, इत्यादि लक्षणों में यही दोष है। ऐसे लक्षण से तर्कशास्त्र का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इस दोष को अलंकार दोष या दुर्बोध दोष[१] कहते हैं।

(४) लक्षण में लक्ष्य पद या उसके पर्याय का प्रयोग न हो।

मनुष्य वह है जिसमें मनुष्यत्व हो, पक्षी हवा में उड़ने वाली चिड़िया है, शक्ति कुछ काम करने की ताकत को कहते हैं, कवि वह है जिसमें कविता करने का सामर्थ्य हो, इत्यादि ऐसे लक्षण हैं जो इस नियम का उल्लंघन करते हैं।

लक्षण का तो अभिप्राय यही है कि लक्ष्य पद को साफ़ कर दे। तब, यदि लक्षण में ही लक्ष्य पद चला आवे तो कठिनाई दूर कहाँ हुई? ऐसे लक्षण को समझने के लिए पहले लक्ष्य को समझ लेना आवश्यक होगा। किंतु, होना तो चाहिए था कि लक्ष्य को समझने के लिए लक्षण समझा जाता।

इस दोष को अन्योन्याश्रय दोष[२] या पर्यायोक्ति दोष[३] कहते हैं।

(५) जहाँ लक्षण विधि-मुख से हो सके वहाँ निषेध-मुख से नहीं करना चाहिए।

कुछ ऐसे पद हैं जिनका लक्षण निषेध-मुख से ही करना पड़ता है।

---

[१] Fallacy of Figurative or Obscure Definition.
[२] The Fallacy of Circle in Definition.
[३] The Fallacy of Synonymous Definition.

जैसे—'फेल' वह है जो पास नहीं हुआ, 'मृत' वह है जिसमें प्राण नहीं है, 'अन्धकार' वह है जहाँ प्रकाश नहीं है, इत्यादि।

ऐसे उदाहरणों को छोड़, जिन पदों के लक्षण विधि-मुख से हो सकते हैं उनका निषेध-मुख से करना ठीक नहीं। इस दोष को निषेधात्मक दोष[१] कहते हैं। जैसे—सत्य वह है जो झूठ नहीं है, जमीन वह है जो पानी नहीं है, मनुष्य वह है जो हैवान नहीं है, त्रिभुज वह है जो चतुष्कोण नहीं है इत्यादि।

§ ५—लक्षण की सीमायें[२]

(क) लक्षण में आसन्न जाति का सामान्य-धर्म कहा जाना आवश्यक है। अतः 'महाजाति'[३] का लक्षण हो ही नहीं सकता, क्योंकि इसकी कोई 'जाति' नहीं होती। 'सत्ता' महाजाति है। इसका लक्षण नहीं किया जा सकता। इसका अर्थ दूसरे पर्याय शब्दों से प्रगट कर सकते हैं। किंतु इसके व्यक्तिबोध की परिधि लक्षण द्वारा नहीं बाँधी जा सकती।

(ख) व्यक्तिवाचक भाव पदों[४] का भी लक्षण नहीं हो सकता। इन्हें तो साक्षात् प्रत्यक्ष करके ही जान सकते हैं। ललाई, मिठास, सुरीलापन, दुर्गन्धि इत्यादि क्या हैं लक्षण से उन्हें निर्देश नहीं कर सकते जिन्होंने उनका प्रत्यक्ष नहीं किया है। और, जिन्होंने किया है उनके लिए उनका नाम ग्रहण कर लेना पर्याप्त है।

(ग) 'व्यक्तिवाचक नामों'[५] का भी लक्षण नहीं किया जा सकता। हम ऊपर देख चुके हैं कि सभी व्यक्तिवाचक नाम केवल अमुक अमुक व्यक्तिबोध के संकेत मात्र हैं। जब उनका स्वभावबोध बिल्कुल नहीं होता, तब उनका लक्षण कैसे हो सकता है!

---

[१] The Fallacy of Negative Definition.
[२] Limits of Definition. [३] Summum Genus.
[४] Singular Abstract terms. [५] Proper names.

चौथा अध्याय

विभाग[1]-प्रकरण

§ १—विभाग के प्रकार

किसी एक को उसके भिन्न-भिन्न भागों में बाँट देने को विभाग करना कहते हैं। विभाग तीन प्रकार के होते हैं—

(१) शारीरिक विभाग[2]—किसी अंगी को उसके भिन्न-भिन्न अंगों में बाँट कर रखना शारीरिक विभाग है। जैसे, 'मनुष्य' के शारीरिक विभाग होंगे—हाथ, पैर, शिर, इत्यादि। 'पुस्तक' के शारीरिक विभाग होंगे—जिल्द, टाइटिल पेज, पन्ने। वृक्ष के शारीरिक विभाग होंगे—जड़, धड़, शाखायें, टहनियाँ, पत्ते।

(२) आभिधर्मिक विभाग[3]—किसी धर्मी को उसके भिन्न-भिन्न धर्मों में बाँट कर रखना आभिधर्मिक विभाग है। जैसे—'मनुष्य' के आभिधर्मिक विभाग होंगे—रूप, वेदना, ज्ञान, क्रियाशक्ति : अथवा—मोटाई, लम्बाई, रंग, वजन, दयालुता, क्रोध इत्यादि। 'पुस्तक' के आभिधर्मिक विभाग होंगे—मोटाई, चौड़ाई, लम्बाई, रूप, रंग, उपयोगिता इत्यादि। 'वृक्ष' के आभिधर्मिक विभाग होंगे—ऊँचाई, फैलाव, सघनता, रंग, इत्यादि उसके सभी धर्म।

(३) शास्त्रीय विभाग[4]—किसी जाति को उसकी भिन्न भिन्न उपजातियों में बाँट कर रखने को शास्त्रीय विभाग कहते हैं। जैसे,

---

[1] Division
[2] Physical Division.
[3] Metaphysical Division.
[4] Logical Division.

'मनुष्य' के शास्त्रीय विभाग होंगे—गोरे, काले, पीले, लाल : अथवा—एशियाई, युरोपीय, अमेरिकन, अफ्रिकन, अस्ट्रेलियन इत्यादि। 'पुस्तक' के शास्त्रीय विभाग होंगे—साहित्यिक, वैज्ञानिक, धार्मिक इत्यादि। 'वृक्ष' के शास्त्रीय विभाग होंगे—आम, नीम, पीपल इत्यादि।

तर्कशास्त्र का शारीरिक या आभिधर्मिक विभाग से नहीं, किंतु शास्त्रीय विभाग से सम्बन्ध है।

ऊपर देख चुके हैं कि किस प्रकार स्वभावबोध का उल्लेख करके पद के व्यक्तिबोध की सीमा की परिधि 'लक्षण' [१] द्वारा खींच सकते हैं। अब, यह समझने की आवश्यकता है कि उस सीमा के भीतर उसके व्यक्ति किन सिलसिलों से व्यवस्थित हैं। इसके लिए 'शास्त्रीय विभाग' [२] का बड़ा उपयोग है।

§ २—विभाजक धर्म [३]

किसी 'जाति' को अपनी 'उपजातियों' में बाँट देना ही शास्त्रीय विभाग है। किंतु, भिन्न भिन्न विचार से एक ही 'जाति' की भिन्न भिन्न प्रकार की उपजातियाँ बन सकती हैं। जैसे—

मजहब के विचार से 'मनुष्य' की उपजातियाँ होंगी—बौद्ध, ईसाई, मुसल्मान, हिन्दू, पारसी, इत्यादि।

रंग के विचार से 'मनुष्य' की उपजातियाँ होंगी—गोरे, काले, पीले, लाल।

महादेश के विचार से 'मनुष्य' की उपजातियाँ होंगी—एशियाई, युरोपियन, अमेरिकन, अफ्रिकन, अस्ट्रेलियन।

कद के विचार से 'मनुष्य' की उपजातियाँ होंगी—लम्बे, साधारण, नाटे, बौने।

---

१ Definition. २ Logical Division.

३ Fundamentum Divisions.

धन के विचार से 'मनुष्य' की उपजातियाँ होंगी—धनी, साधारण, गरीब। इत्यादि इत्यादि इत्यादि।

इसे देखकर स्पष्ट मालूम होता है कि किसी एक पद का ही विभाजन भिन्न भिन्न प्रकार से कर सकते हैं; और यह कि प्रत्येक प्रकार के विभाजन में एक एक नियामक विचार रहता है, जिसे दृष्टि में रख कर ही उपजातियाँ बनाई जाती हैं। उस नियामक विचार को विभाजक-धर्म कहते हैं। ऊपर जो 'मनुष्य' पद के भिन्न भिन्न प्रकार से विभाग किए गए उनमें पहले का 'विभाजक-धर्म' मजहब है, दूसरे का रंग, तीसरे का महादेश, चौथे का कद और पाँचवें का धन।

§ ३—शास्त्रीय विभाग के नियम और उसके दोष

(१) शास्त्रीय विभाजन किसी एक वर्ग का होता है, किसी व्यक्ति का नहीं[१]। 'मनुष्य' पद जब एक वर्ग=जाति का सूचक हो तभी उसका शास्त्रीय विभाजन हो सकेगा। 'मनुष्य' पद से जब एक खास अंगी या धर्मी का ग्रहण करें तब उसके 'शारीरिक' या 'आभिधर्मिक' विभाग तो होंगे, किन्तु उसका शास्त्रीय विभाजन न हो सकेगा।

(२) एक बार एक ही 'विभाजक धर्म' के अनुसार विभाग किए जायेंगे। ऊपर 'मनुष्य' पद का भिन्न भिन्न प्रकार से विभाजन करके देख चुके हैं कि किस प्रकार एक बार एक ही विभाजक-धर्म हो सकता है। किसी विभाजक-धर्म की नियामकता बिना स्वीकार किए किसी पद का विभाजन करना चाहें तो उसका कहीं अन्त ही नहीं होगा। यदि 'मनुष्य' के विभाग करें—मोटे, धनो, गोरे, दुबले, पीले, सुन्दर, मूर्ख, भारी......तो ऐसे विभाग से कोई उद्देश्य सिद्ध नहीं होता।

---

[१] Logical Division is always of a class, not of an individual.

विभाग के इस दोष को, जिसमें अनेक विभाजक-धर्मों का परस्पर मिश्रण हो जाय, विभाग-संकर[1] दोष कहते हैं।

(३) एक विभाजक-धर्म के अनुसार पद के जितने भी विभाग हो सकते हैं सभी का अवश्य उल्लेख हो जाना चाहिए। यदि कोई विभाग छूट जाय तो उतने अंश में पद का व्यक्तिबोध अविचारित रह जाता है। यदि धर्म के विचार से 'मनुष्य' के दो ही विभाग करें—'हिन्दू' और 'मुसलमान', तो इसमें यही दोष होगा। क्योंकि, बौद्ध, ईसाई आदि जो दूसरे धर्मावलम्बी हैं उनका समावेश नहीं हुआ। इस दोष को 'अव्याप्त विभाग'[2] कहते हैं।

(४) किसी ऐसे विभाग को स्वीकार करना नहीं चाहिए जिसका पद के व्यक्तिबोध में कोई स्थान नहीं है। यदि 'मनुष्य' का विभाग करते हुए कहें कि मनुष्य दो प्रकार के होते हैं—एक तो हाड़-मांस से बने मनुष्य, और दूसरे पत्थर की बनी मूर्तियाँ—तो यह शास्त्रीय विभाग नहीं होगा। पत्थर की मूर्तियाँ 'मनुष्य' पद के व्यक्तिबोध में सम्मिलित नहीं हैं, अतः यहाँ उनका कोई विभाग नहीं बन सकता। विभाग के इस दोष को अतिव्याप्त-विभाग[3] कहते हैं।

(५) सभी विभागों के व्यक्तिबोध का योग विभाज्य-पद के व्यक्तिबोध के बराबर ही होगा। यह कोई नया नियम नहीं है, किन्तु ऊपर के दो नियमों का ही सार है। 'मनुष्य' पद को महादेश के विचार से विभाग कर सकते हैं—एशियाई, युरोपियन, अमेरिकन, अस्ट्रेलियन और अफ्रिकन। यह सच्चा शास्त्रीय विभाग है; क्योंकि इन विभागों के व्यक्तिबोध का योग विभाज्य पद 'मनुष्य' के व्यक्तिबोध के बराबर ही है। यदि कम हो तो 'अव्याप्त' दोष होता है, और अधिक हो तो 'अतिव्याप्त' दोष।

---

[1] Cross Division. [2] Too Narrow Division.
[3] Too Wide Division.

(६) शास्त्रीय विभाजन में एक विभाग दूसरे से सर्वथा पृथक् होता है। 'मनुष्य' पद को एशियाई, युरोपियन आदि विभागों में जो बाँटा है उनमें एक विभाग दूसरे से सर्वथा पृथक् है। 'एशियाई' 'युरोपियन' से सर्वथा पृथक् है, क्योंकि कोई एशियाई युरोपियन नहीं है, और कोई युरोपियन एशियाई नहीं है।

यदि किन्हीं दो विभागों के कुछ भाग इसमें और कुछ उसमें चले आवें तो इस दोष को परस्पर व्याप्त[1] विभाग कहते हैं।

(७) सभी विभाग विभाज्य पद की आसन्न[2] उपजातियाँ होनी चाहिए, दूरस्थ[3] नहीं। 'मनुष्य' पद के यदि विभाग करने लगें—पंजाबी, गुजराती इत्यादि, तो यह उचित नहीं होगा, क्योंकि पंजाबी, गुजराती इत्यादि 'मनुष्य' की दूरस्थ उपजातियाँ हैं, आसन्न नहीं। 'मनुष्य' को पहले महादेश के विचार से, और फिर देश के विचार से विभाग कर लेना चाहिए था। तब जा कर प्रान्त के विचार से विभाग करना उचित होता।

इस दोष को संकीर्ण-विभाग[4] कहते हैं।

§ ४—भावाभावात्मक विभाग[5]

शास्त्रीय-विभाजन का यह प्रधान नियम है कि "भिन्न भिन्न विभाग परस्पर-व्याप्त न हों; और सभी विभागों का योग विभाज्य पद के बराबर हो"।

अब, अमुक विभाजन में इन दो बातों की पूर्ति हुई या नहीं इसे जानने के लिए उस विषय को अच्छी तरह जानना आवश्यक होगा। किंतु, ऊपर देख चुके हैं कि तर्कशास्त्र प्रधानतः 'रूप-विषयक' है, 'विषय-विषयक'

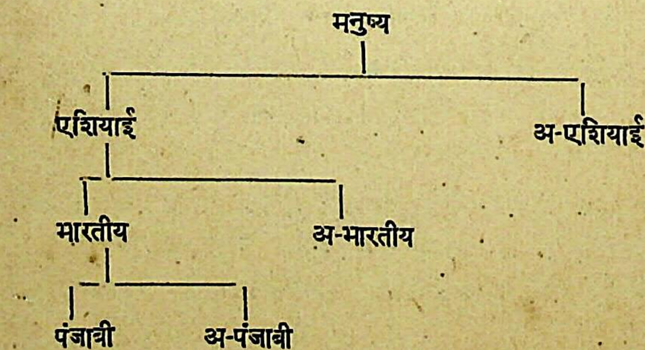
---

[1] Overlapping Division. [2] Proximate Species.
[3] Remote Species. [4] Narrow Division.
[5] Division by Dichotomy.

नहीं। विषय के ज्ञान का अन्वेषण करना तर्कशास्त्र का काम नहीं है।

इस कठिनाई से बचने के लिए कुछ तर्कशास्त्रियों ने विभाजन की प्रक्रिया का एक 'रूप' बनाया है, जिसके लिए विषय के ज्ञान की वैसी आवश्यकता नहीं होती। इस 'रूप' में प्रत्येक पद के दो विभाग होते हैं जो परस्पर 'विरुद्ध'[1] के रूप में रखे जाते हैं। इस तरह, उनके परस्पर व्याप्त होने का भी भय नहीं रहता : और उन दोनों का योग निश्चय रूप से विभाज्य पद के बराबर ठहरता है। क्योंकि, ऊपर हम देख चुके हैं कि दो विरुद्ध पद अपने 'अवगति-क्षेत्र'[2] को पूर्णतः व्याप्त कर लेते हैं। [पृ० ६१] और, यह 'अवगति-क्षेत्र' उनकी आसन्न-जाति ही तो है।

इस प्रक्रिया को अंगरेजी में 'डिकोटोमी' कहते हैं, जिसका अर्थ होता है 'दो टुकड़े कर देना'। इसे हमने यहाँ 'भावाभावात्मक विभाग' कहा है। इसका एक विभाग विधि-रूप में होता है, और दूसरा निषेध-सूचक 'अ' अक्षर जोड़ कर उसका बना 'विरुद्ध' स्वरूप। जैसे—



[1] Contradictory.

[2] Universe of Discourse.

जहाँ तक 'रूप' का सम्बन्ध है यह विभाजन-प्रक्रिया बड़ी अच्छी है। इसमें शास्त्रीय-विभाजन के सभी नियमों का पालन निश्चित रूप से हो जाता है, और 'विषय' के पूरे ज्ञान की भी अपेक्षा नहीं रहती। किंतु, इस प्रक्रिया में सबसे बड़ा दोष यह है कि इसका अभावात्मक विभाग बिल्कुल अस्पष्ट रह जाता है।

पाँचवाँ अध्याय

वाक्य-प्रकरण

पहला भाग

(वाक्य का रूप[1])

§ १—पद और वाक्य

'विचार' की इकाई

पिछले प्रकरण में हम लोगों ने 'पद' के स्वरूप, प्रकार, परस्पर सम्बन्ध, लक्षण और विभाग पर विचार किया। 'पद' के विचार से तर्कशास्त्र का प्रारम्भ होता है यह ठीक है। किंतु क्या सचमुच हमारे विचार की प्रक्रिया 'पद' से प्रारम्भ होती है ? क्या हमारे मन में कोई पद स्वतन्त्र रूप से आता है ? 'मनुष्य खाता है, या बैठा है, या अच्छा है', ऐसा बिना विचार किए क्या हम केवल 'मनुष्य' पद का विचार कर सकते हैं—जो न आता हो, न बैठा हो, न कुछ भी हो ? तनिक ध्यान देने से स्पष्ट प्रतीत होगा कि ऐसा विचार करना सम्भव नहीं है। यथार्थ में किसी विचार का उद्गम 'पद' के रूप में नहीं, किंतु 'वाक्य' के रूप में होता है। छोटा बच्चा, जिसने अभी वाक्य बोलना नहीं सीखा है, बिल्ली को देख कर गद्गद हो जाता है और अपनी माँ का ध्यान आकृष्ट करके बोल उठता है 'बिल्ली' ! किंतु यथार्थ में वह कहना चाहता है कि—बिल्ली आई, या जा रही है, या बड़ी अच्छी है। अतः, 'यह ऐसा है' इसी

---

[1] Forms of Proposition.

रूप को ग्रहण किए किसी भी विचार की उत्पत्ति होती है। तब हम कह सकते हैं कि विचार की इकाई 'पद' नहीं किंतु 'वाक्य' है।

शब्द में प्रकट करने के पहले ही जो 'पद' का भाव मन में रहता है उसे 'प्रत्यय'[1] कहते हैं। और, शब्द में प्रकट करने के पहले ही जो हम मन ही मन दो प्रत्ययों के बीच किसी सम्बन्ध की स्थापना कर लेते हैं उसे 'अध्यवसाय'[2] कहते हैं। अध्यवसाय जब शब्दों में व्यक्त होता है तब उसे 'वाक्य' कहते हैं। प्रत्यय और अध्यवसाय मन के भीतर की प्रक्रिया हैं, इसलिए इनका सम्बन्ध मानसशास्त्र से है न कि तर्कशास्त्र से। प्रत्यय या अध्यवसाय से तर्कशास्त्र का सम्बन्ध तभी होता है जब वे भाषा में व्यक्त हो कर 'पद' या 'वाक्य' का रूप ग्रहण कर लेते हैं। इसीलिए, यहाँ 'पद' और 'वाक्य' शब्दों का प्रयोग किया गया, प्रत्यय और अध्यवसाय का नहीं। जो हो, तर्कशास्त्र को तो यह समझा देना है कि मानसिक विश्लेषण से भले ही हम 'पद' के विषय में स्वतन्त्र रूप से विचार कर लें, किंतु अपने में एक समस्त इकाई तो वाक्य ही है। किसी पद के शास्त्रीय महत्व की परीक्षा तभी हो सकती है जब इस पर वाक्य की व्यवस्था की दृष्टि से विचार करें।

§ २—विधेय-पद के प्रकार

हम अभी देख चुके हैं कि 'यह ऐसा है' इसी रूप को ग्रहण किए किसी भी विचार की उत्पत्ति होती है। वाक्य की व्यवस्था यही है। अब प्रश्न होता है कि 'यह ऐसा है' वाक्य के इस रूप को कितने प्रकार से समझ सकते हैं? इसका उत्तर साफ है कि इसको उतने ही प्रकार से समझ सकते हैं जितने प्रकार के संसार में पदार्थ हैं। पाश्चात्य तर्कशास्त्र के आदि प्रणेता दार्शनिक अरस्तू ने ऐसे दस प्रकार के पदार्थों[3] की स्थापना

---

[1] Concept. [2] Judgment. [3] Categories.

की है—(१) द्रव्य, (२) परिमाण, (३) गुण, (४) सम्बन्ध, (५) दिशा, (६) काल, (७) परिस्थिति, (८) अवस्था, (९) क्रिया और (१०) कर्म।[१]

यह मनुष्य है, पत्थर है, कलम है, हवा है—सभी को 'द्रव्य' के अन्तर्गत कर सकते हैं। यह छोटा है, बड़ा है, इत्यादि सभी 'परिमाण' हैं। यह अच्छा है, मीठा है, सुन्दर है, इत्यादि सभी 'गुण' हैं। यह गुरुतर है, सुंदरतम है इत्यादि सभी 'सम्बन्ध' हैं। यह दूर है, निकट है, भीतर है इत्यादि सभी 'दिशा' है। यह सबेरा है, शीघ्र है, देर है इत्यादि सभी 'काल' है। यह बीमार है, यह प्रसन्न है इत्यादि सभी 'परिस्थिति' है। यह उल्टा है, सीधा है, इत्यादि सभी 'अवस्था' है। यह जाता है, आता है इत्यादि सभी 'क्रिया' है। यह देख लिया गया, यह हरा दिया गया इत्यादि सभी 'कर्म' है।

संसार की सारी चीजों को इन्हीं दस प्रकार से समझ सकते हैं; क्योंकि जितनी भी चीजें हैं इन दस पदार्थों में से किसी न किसी एक के भीतर अवश्य चली आयेंगी। इसलिए, 'यह ऐसा है' वाक्य के इस स्वरूप को इन्हीं दस प्रकारों से समझ सकते हैं। अर्थात्, किसी वाक्य का विधेय-पद इन्हीं दस प्रकारों से समझा जा सकता है।

§ ३—उद्देश-पद के सम्बन्ध में विधेय-पद[२]

अभी हमने जो देखा कि विधेय-पद दस प्रकार के पदार्थ हो सकते हैं, उसका आधार संसार की चीजों का वर्गीकरण था। अब, एक दूसरी दृष्टि से विधेय-पद के प्रकारों का निश्चय करना आवश्यक है। वह है—उसके उद्देश-पद के सम्बन्ध की दृष्टि से।

---

[१] (१) Substance, (२) Quantity, (३) Quality, (४) Relation, (५) Place, (६) Time, (७) Situation, (८) State, (९) Action, (१०) Passivity. [२] Predicables.

उद्देश-पद के सम्बन्ध की दृष्टि से विधेय-पद पाँच प्रकार के हो सकते हैं—(१) जाति, (२) उपजाति, (३) व्यवच्छेदक धर्म, (४) स्वभाव-सिद्ध-धर्म और (५) आकस्मिक धर्म।[1]

उदाहरणार्थ, सभी 'भारतीय' 'मनुष्य' हैं—इस वाक्य में विधेय उद्देश के सम्बन्ध में जाति है। कुछ 'मनुष्य' 'भारतीय' हैं—इस वाक्य में विधेय उद्देश के सम्बन्ध में उपजाति है। सभी 'मनुष्य' 'विवेकशील' हैं—इस वाक्य में विधेय उद्देश के सम्बन्ध में व्यवच्छेदक धर्म है। सभी 'मनुष्य' 'साँस लेते' हैं—इस वाक्य में विधेय उद्देश के सम्बन्ध में स्वभाव-सिद्ध धर्म है। सभी 'मनुष्य' 'कपड़ा पहनते' हैं—इस वाक्य में विधेय उद्देश के सम्बन्ध में आकस्मिक धर्म है।

§ ४—वाक्य क्या है ?

ऊपर देख चुके हैं कि—'यह' 'ऐसा' है : अथवा, 'क' 'ख' है—यही वाक्य का स्वरूप है। वाक्य में दो पदों के बीच कोई सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। कोई 'मनुष्य' 'अमर' नहीं है, इत्यादि निषेधात्मक वाक्यों में भी उद्देश और विधेय के बीच कोई सम्बन्ध ही स्थापित किया जाता है। किसी सम्बन्ध का न होना भी तो एक सम्बन्ध ही है। शत्रु का शत्रु से जो कोई सम्बन्ध नहीं है वह भी तो एक सम्बन्ध ही है। सम्बन्ध सम्बन्ध का हो या विरोध का, दोनों सम्बन्ध ही हैं। अतः, विधानात्मक या निषेधात्मक, दोनों वाक्य उद्देश और विधेय के बीच सम्बन्ध स्थापित करते हैं।

यह सम्बन्ध स्थापित करना केवल एक मानसिक प्रक्रिया नहीं है। किन्तु, साथ ही साथ, वह वाक्य सत्य होने का दावा करता है। यह कि, बाह्य संसार में वस्तु-स्थिति से उसका संवाद है। यदि वाक्य में यह सत्य-

---

१ (१) Genus, (२) Species, (३) Differentia, (४) Property, (५) Accident.

प्रतिपादनता नहीं रहे तो उससे तर्कशास्त्र को कोई प्रयोजन नहीं, क्योंकि तर्कशास्त्र का लक्ष्य तो सत्य ही है।

अनुज्ञात्मक, इच्छार्थ, विस्मयादिबोधक, तथा प्रश्नात्मक वाक्य— जैसे, आम लावो, तुम्हारा कल्याण हो, अरे वह मर गया, तुम क्या करते हो—केवल हमारे मन के भाव हैं। इन वाक्यों में सत्यासत्य विवेक की बात ही नहीं उठती। इस कारण, तर्कशास्त्र को ऐसे वाक्यों से कोई मतलब नहीं।

कभी कभी प्रश्न पूछ कर, या विस्मय प्रगट करके ही हम किसी बात का होना या न होना व्यक्त करते हैं। जैसे, क्या मैं तुम्हारी किताब चुराने वाला हूँ? इसका अर्थ यह होता है कि—'मैं' 'तुम्हारी किताब चुराने वाला' नहीं हूँ। यदि ऐसी व्यंजना निकले तो अलबत्ता वह वाक्य तर्कशास्त्र के काम का हो सकता है: अपने पहले रूप में नहीं, किन्तु अपने व्यक्त रूप में।

तब, कह सकते हैं कि तर्कशास्त्र की दृष्टि से वाक्य वह है जो दो पदों के बीच किसी सम्बन्ध का बोध करावे, और जिसमें सत्य-प्रतिपादनता का भाव हो।

§ ५—वाक्य के अंग

वाक्य के अंग तीन हैं—उद्देश, विधेय और संयोजक। उद्देश[1] वह पद है जिसके विषय में कुछ कहा जाय। विधेय[2] वह पद है जो कुछ उद्देश के विषय में कहे। और, संयोजक[3] 'होना' क्रिया का वह रूप है जो उद्देश और विधेय के बीच सम्बन्ध की सूचना दे।

उदाहरणार्थ, सभी 'मनुष्य' 'मरणधर्मा' हैं। यहाँ, 'मनुष्य' पद उद्देश है, क्योंकि इसी के विषय में कुछ कहा गया है। 'मरणधर्मा' पद विधेय है, क्योंकि उद्देश के विषय में यही बात कही गई है। और 'है' यह

---

[1]Subject. [2]Predicate. [3]Copula.

क्रिया का रूप संयोजक है, क्योंकि यही उद्देश और विधेय के बीच सम्बन्ध की सूचना देता है।

उद्देश और विधेय पदों के विषय में काफी चर्चा हो चुकी है। यहाँ 'संयोजक' के स्वरूप के विषय में कुछ आवश्यक विचार कर लें।

संयोजक का स्वरूप

संयोजक 'है' शब्द किसकी विद्यमानता को सूचित करता है? कुछ लोगों का कहना है कि यह उद्देश की विद्यमानता को सूचित करता है। किंतु, यह ठीक नहीं। 'वह' 'मर गया' है—इस वाक्य में भला संयोजक उसकी विद्यमानता कैसे बतावेगा जो है ही नहीं? यथार्थ यह है कि संयोजक न तो उद्देश की और न विधेय की विद्यमानता बताता है, किंतु वह यदि किसी की विद्यमानता को बताता है तो उस पूरी बात की विद्यमानता को जिस बात को वह वाक्य व्यक्त करता है और जिसकी सत्यता का प्रतिपादन करता है।

संयोजक में काल

जो बात सत्य है वह काल के बन्धन से नहीं बाँधी जा सकती। अकबर भारतवर्ष का राजा हुआ—यह बात भूत काल में सत्य थी, आज भी यह बात सत्य है, और भविष्य में सदा यह बात सत्य रहेगी। भारतवर्ष में स्वराज्य होगा—यह बात भविष्य में सत्य होगी, यह आज भी सत्य है, और पहले भी सत्य थी। त्रिकालबाधित सारा विश्व एक व्यवस्था है : इसमें जो बात सत्य है वह सर्वदा सत्य है।

इसलिए, तर्कशास्त्र में वाक्य का संयोजक 'है' क्रिया का रूप सर्वदा वर्तमानकाल में रहता है। भूत तथा भविष्यत् की घटनाओं को भी, उनके काल की रक्षा करते हुए, तर्कशास्त्र के वाक्य में 'है' संयोजक के द्वारा सूचित करते हैं। वह घर जा रहा था, या वह घर जायगा, इन वाक्यों को

६

तर्कशास्त्र की भाषा में कहेंगे—'वह' 'जो घर जा रहा था सो' है : 'वह' 'जो घर जायगा सो' है।

संयोजक और निषेध

निषेधात्मक वाक्य में निषेधसूचक शब्द—न, नहीं—'संयोजक' का अङ्ग समझा जाय या विधेय का, इस बात पर भी बड़ा मतभेद है। हौब्स प्रभृति कुछ दार्शनिकों का मत है कि निषेध-शब्द को विधेय के साथ मिला देना चाहिए, और सभी वाक्य को विधानात्मक रूप दे देना चाहिए। उनके विचार से संयोजक-क्रिया का रूप सर्वदा विधि में होना चाहिए। अतः, उनके अनुसार, कुछ 'पशु' 'घोड़े' नहीं हैं, इस वाक्य का रूप बदल कर इस प्रकार कर देना उचित है—कुछ 'पशु' 'अ-घोड़े' हैं।

किंतु, विचार करने से ज्ञात होता है कि निषेध-शब्द को इस प्रकार विधेय-पद के साथ जबरदस्ती लगा देने से बड़ी अस्वाभाविकता आ जाती है, और कुछ हद तक वाक्य का भाव भी बदल जाता है। कुछ 'पशु' 'घोड़े' नहीं हैं—इस वाक्य का अर्थ है कि कुछ पशुओं से समस्त घोड़ों की भिन्नता है। किंतु, कुछ 'पशु' 'अ-घोड़े' हैं—इस वाक्य का अर्थ है कि कुछ पशुओं के साथ कुछ अ-घोड़ों की समानता है।

इससे सिद्ध होता है कि निषेध-शब्द 'संयोजक' के साथ ही सम्बद्ध होना चाहिए, विधेय के साथ नहीं। संयोजक विधानात्मक भी होगा, और निषेधात्मक भी।

§ ६ लौकिक वाक्य और तार्किक वाक्य

भाषा में एक ही वाक्य अनेक प्रकार से प्रकट किया जा सकता है, जिनके बाह्य रूप अत्यन्त भिन्न होने पर भी उनका अर्थ एक ही हो सकता है। उदाहरण के लिए, इन तीन वाक्यों को लें—

१. केवल टिकट वाले ही भीतर आ सकते हैं।

२. कोई बेटिकट वाले भीतर नहीं आ सकते हैं।

३. वे ही भीतर आ सकते हैं जो टिकट वाले हैं।

इन तीन वाक्यों के रूप एक दूसरे से भिन्न हैं, तो भी उनके अर्थ में कोई भेद नहीं है। रूप की इन भिन्नताओं के कारण विचार के सिलसिले में भ्रान्ति होने का बड़ा डर रहता है। इस डर से बचने के लिए तर्क-शास्त्रियों ने वाक्य के केवल चार रूप निश्चित कर लिए हैं, जिनमें किसी एक न एक में किसी वाक्य को ला कर ही उस पर शास्त्रीय विचार किया जाना चाहिए। वाक्य के चार निश्चित रूप हैं[1]—

१. सभी 'क' 'ख' हैं,—सामान्य विधि

२. कोई 'क' 'ख' नहीं है,—सामान्य निषेध

३. कुछ 'क' 'ख' हैं,—विशेष विधि

४. कुछ 'क' 'ख' नहीं हैं—विशेष निषेध[2]

व्यवहार के वाक्यों को इन रूपों में लाने के लिए यही ध्यान में रखना होगा कि अर्थ में किसी प्रकार की क्षति न हो, और वाक्य के उद्देश, विधेय तथा संयोजक पृथक् पृथक् साफ मालूम हो जायँ। इसके लिए कुछ नियम यहाँ दिए जाते हैं—

(१) सभी, प्रत्येक, हर एक, सब, सब कोई, इन जैसे शब्दों से प्रारम्भ होनेवाले विधानात्मक वाक्य 'सामान्य' समझे जायेंगे, और वे पहले वाक्य के रूप में रहेंगे—सभी 'क' 'ख' हैं। किंतु यदि उनमें निषेधात्मक शब्द 'नहीं' उपस्थित हो, तब वे 'विशेष' समझे जायेंगे, और उनका रूप चौथे वाक्य के अनुसार होगा—कुछ 'क' 'ख' नहीं हैं। जैसे—

प्रत्येक मनुष्य अज्ञ है
सब मनुष्य अज्ञ हैं } =सभी 'मनुष्य' 'अज्ञ' हैं।

---

[1] विशेष देखिये पृ० १०१

[2] (१) Universal Affirmative, (२) Universal Negative, (३) Particular Affirmative, (४) Particular Negative.

किंतु,

प्रत्येक मनुष्य अज्ञ नहीं है
सब मनुष्य अज्ञ नहीं हैं } = कुछ 'मनुष्य' 'अज्ञ' नहीं हैं।

जिन वाक्यों के उद्देशपद व्यक्तिवाचक संज्ञा हों, उनके आगे 'सभी' शब्द नहीं लगाया जाता। तो भी उन्हें 'सामान्य' ही समझना चाहिए, क्योंकि उनके उद्देश अपने में पूर्णार्थक हैं। जैसे—'मोहन' 'अच्छा लड़का' है।

(२) हमेशा, बिलकुल, स्वभावतः, निश्चयपूर्वक इन जैसे शब्दों वाले वाक्यों में भी ऊपर के ही नियम लागू होंगे। जैसे—

बिलकुल मनुष्य अज्ञ हैं
मनुष्य हमेशा अज्ञ है
मनुष्य स्वभावतः अज्ञ है } = सभी 'मनुष्य' 'अज्ञ' हैं

किंतु,

बिलकुल मनुष्य अज्ञ नहीं हैं
मनुष्य हमेशा अज्ञ नहीं है
मनुष्य स्वभावतः अज्ञ नहीं है } = कुछ 'मनुष्य' 'अज्ञ' नहीं हैं।

(३) कोई भी, इससे प्रारम्भ होने वाले विधानात्मक या निषेधात्मक दोनों वाक्य सामान्य होंगे। विधानात्मक वाक्य पहले रूप के अनुसार होंगे। और, निषेधात्मक वाक्य का दूसरा रूप रहेगा। जैसे—

कोई भी लड़का जानता है = सभी 'लड़के' 'जानते' हैं,
कोई भी लड़का नहीं जानता है = कोई 'लड़के' 'जानते' नहीं हैं।

(४) कभी नहीं, बिलकुल नहीं जैसे शब्दों वाले वाक्य 'सामान्य निषेध' होंगे, और उनका रूप दूसरे वाक्य के अनुसार होगा। जैसे—

लड़के कभी नहीं जानते
बिलकुल लड़के नहीं जानते } = कोई 'लड़के' 'जानते' नहीं हैं।

(५) कुछ, कोई कोई, बहुतेरे, अनेक, प्रायः, अधिक, इन जैसे शब्दों

वाले वाक्य 'विशेष' होते हैं। विधानात्मक होने से उनके रूप तीसरे वाक्य के अनुसार, और निषेधात्मक होने से उनके रूप चौथे वाक्य के अनुसार होंगे। जैसे—

कोई कोई लड़का आया (नहीं) है
बहुतेरे लड़के आये (नहीं) हैं
अनेक लड़के आये (नहीं) हैं
प्रायः लड़के आये (नहीं) हैं
अधिक लड़के आये (नहीं) हैं
} = कुछ 'लड़के' 'आये' (नहीं) हैं।

(६) विरले, शायद ही कोई, कोई मुश्किल से, इन शब्दों वाले वाक्य 'विशेष निषेध' होते हैं, क्योंकि इन शब्दों में निषेधकशक्ति है। इन शब्दों के साथ यदि निषेध-शब्द 'नहीं' का भी प्रयोग हुआ हो तो वह वाक्य विधानात्मक समझा जायगा, क्योंकि दो बार निषेध करने का अर्थ होता है विधान करना। जैसे—

विरले मनुष्य ज्ञानी हैं
शायद ही कोई मनुष्य ज्ञानी है
कोई मनुष्य मुश्किल से ज्ञानी है
} = कुछ 'मनुष्य' 'ज्ञानी' नहीं हैं।

किंतु—
विरले मनुष्य ज्ञानी नहीं हैं
शायद ही कोई मनुष्य ज्ञानी नहीं है
कोई मनुष्य मुश्किल से ज्ञानी नहीं है
} = कुछ 'मनुष्य' 'ज्ञानी' हैं।

(७) केवल, सिर्फ, ही, इन शब्दों वाले वाक्य को 'अनन्य साधारण वाक्य' कहते हैं। ऐसे वाक्य 'सामान्य' होते हैं। उन्हें विधानात्मक या निषेधात्मक दोनों रूप दिये जा सकते हैं। विधानात्मक वाक्य का रूप देने के लिए मूल वाक्य के उद्देश और विधेय के स्थानों में परिवर्तन कर देते हैं। और, निषेधात्मक रूप देने के लिए मूल वाक्य के उद्देश

में निषेध-सूचक 'अ' शब्द लगा कर उसका विरुद्ध रूप दे देते हैं, और वाक्य का रूप दूसरे वाक्य के अनुसार बनाते हैं। जैसे—

केवल पण्डित लोग इसे समझते हैं, अथवा पण्डित लोग ही इसे समझते हैं	=	विधि—सभी 'जो इसे समझते हैं' 'पण्डित' हैं, निषेध—कोई 'अपण्डित' 'इसे समझने वाले' नहीं हैं।

(८) अपवादात्मक वाक्य—अपवाद का विषय यदि निश्चित हो तो उस वाक्य को 'सामान्य' समझना चाहिए। और, यदि अपवाद का विषय अनिश्चित हो तो उस वाक्य को 'विशेष' समझना चाहिए। जैसे—मोहन को छोड़ सभी लड़के अच्छे हैं =

सभी 'लड़के, मोहन को छोड़' 'अच्छे' हैं।

एक को छोड़ सभी लड़के अच्छे हैं =

कुछ 'लड़के' 'अच्छे' हैं।

मोहन को छोड़ कोई लड़के अच्छे नहीं हैं =

कोई 'लड़के, मोहन को छोड़' 'अच्छे' नहीं हैं।

एक को छोड़ कोई लड़के अच्छे नहीं हैं =

कुछ 'लड़के' 'अच्छे' नहीं हैं।

(९) यदि निषेध-सूचक शब्द विधेय-पद के साथ युक्त हो, संयोजक के साथ नहीं, तो वह वाक्य विधानात्मक रूप ग्रहण करेगा। जैसे—

कोई मनुष्य नहीं ज्ञानी है = सभी 'मनुष्य' नहीं 'ज्ञानी (= अज्ञानी)' हैं।

(१०) अकर्तृक वाक्य—बड़ी गर्मी है, यह दिन है, चार बजा है, इत्यादि अकर्तृक वाक्य हैं, जिनके कर्ता का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। इन वाक्यों पर तर्कशास्त्र की दृष्टि से विचार करने के पूर्व इनके स्पष्ट उद्देश और विधेय पदों को दिखा कर उस वाक्य को किसी निश्चित रूप में

बदल लेना चाहिए। जैसे—'मौसिम' 'बड़ा गर्म' है, 'यह समय' 'दिन' है, 'यह समय' 'चार बजने का' है, इत्यादि।

§ ७—वाक्य के अभिप्राय की परिधि

सामान्य विधि, सामान्य निषेध, विशेष विधि, और विशेष निषेध—इन चार प्रकार के वाक्य-रूप निश्चित कर लेने से शास्त्रीय विचार करने में आने वाली अनेक कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं। किन्तु, इन वाक्यों के अभिप्राय ठीक-ठीक समझने के लिए उनके बाह्य रूप पर ही निर्भर करने से काम नहीं चलेगा। सभी लोग जान गए हैं, सभी लोग धन कमाना चाहते हैं, सभी लोग मरणधर्मा हैं—इनके रूप समान होने पर भी तीनों वाक्यों में उद्देश-पद 'सभी लोग' भिन्न भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। पहले वाक्य में 'सभी लोग' से अभिप्राय उन्हीं लोगों का है जिनसे वह बात गुप्त रखने का प्रयत्न किया जा रहा था—ऐसे लोग तीन, चार, दस, हजार, कुछ भी हो सकते हैं। दूसरे वाक्य में 'सभी लोग' का अर्थ है सभी साधारण लोग, क्योंकि ऐसे भी अनेक महात्मा हो सकते हैं जिनका उद्देश्य धन कमाना नहीं किन्तु कुछ दूसरा ही हो। तीसरे वाक्य में 'सभी लोग' का अर्थ है वह सारा व्यक्तिबोध जो इस पद से जाना जाता है। यह देख कर स्वीकार करना होगा कि वाक्य का चाहे कोई भी रूप क्यों न हो उसे ठीक-ठीक समझने के लिए वक्ता के अभिप्राय के निकट आना ही होगा। बहुधा ऐसा होता है कि हमलोगों के व्यवहार की भाषा में वाक्य के बाह्य स्वरूप जितनी व्यापकता का बोध करते हैं उससे अत्यन्त कम व्यापक हमारा अभिप्राय होता है। यदि तर्कशास्त्र वाग्जाल से बचा कर सत्य की प्राप्ति कराता है तो उसे इस भेद की उपेक्षा नहीं करनी होगी। विश्व के जिस क्षेत्र में वक्ता का अभिप्राय सीमित रहता है उसे 'वाक्य के अभिप्राय की परिधि' कहते हैं। वाक्य में इस परिधि का कोई उल्लेख नहीं होता है; यह तो वक्ता के अभिप्राय को समझ कर ही निश्चित किया जा सकता है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि वक्ता के अभिप्राय की उपेक्षा करके विचार करने में इस बात का बड़ा खतरा है कि कहीं एक ही पद के भिन्न भिन्न प्रयोग गलत न समझ लिए जायँ। उदाहरण के लिए, यह तर्क कितना भ्रमपूर्ण होगा—

सभी घर निर्जीव पदार्थ हैं,
मनुष्य रोगों का घर है,
∴ मनुष्य निर्जीव पदार्थ है।

§ ८—विधान के सिद्धान्त[१]

वाक्य के अर्थ के स्वरूप के विषय में भिन्न दार्शनिकों के जो मत हैं उन्हें 'विधान के सिद्धान्त' कहते हैं। प्रत्येक वाक्य उद्देश और विधेय पदों के सम्बन्ध या विरोध का विधान करता है। प्रत्येक वाक्य यही बताता है कि 'यह ऐसा है' या 'यह ऐसा नहीं है'। वाक्य के अर्थ के स्वरूप के विषय का कोई मत उसके उद्देश, विधेय तथा उनके सम्बन्ध की परीक्षा पर निर्भर होगा। कुछ विद्वान् उद्देश और विधेय के अभिप्राय का निर्णय एक प्रकार से करते हैं, और कुछ दूसरे दूसरे प्रकार से। उनके सम्बन्ध के विषय में भी वैसा ही मतभेद है। उनकी परीक्षा संक्षेप में कर लेना आवश्यक है।

वाक्य के पद या तो व्यक्तिबोध कराते हैं, या स्वभावबोध। और, उनका सम्बन्ध या तो आनन्तर्य का[२], या साहचर्य का[३], या समानता-असमानता[४] का होता है।

तर्कशास्त्र की दृष्टि से चार भिन्न भिन्न मत ये हैं—

---

[१] Theories of Predication.
[२] Succession. [३] Co-existence.
[४] Equality and Unequality.

(१) विधान-वाद[1]—इस मत के अनुसार वाक्य का उद्देश अपने व्यक्तिबोध का, और विधेय अपने स्वभाव-बोध का प्रतिपादन करता है। अतः, इसके अनुसार—सभी मनुष्य मरणशील हैं—इस वाक्य का अर्थ यह हुआ कि 'मनुष्य' नाम से समझे जाने वाले जितने भी लोग हैं सभी में 'मरणशीलत्व' नाम का धर्म विद्यमान है। उसी तरह, कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है, इस वाक्य का यह अर्थ हुआ कि जितने 'मनुष्य' लोग हैं उनमें किसी में भी 'पूर्णत्व' नामक धर्म नहीं है। इस मत के प्रधान पोषक डा० मार्टिनिड तथा डा० वेन हैं। उनका कहना है कि वाक्य वस्तु और धर्म के सम्बन्ध को सूचित करता है। साधारणतः लोगों का विचार इसी मत के अनुकूल होता है।

(२) व्यक्तिबोध-वाद[2]—इस मत के अनुसार वाक्य के उद्देश और विधेय दोनों अपने अपने व्यक्तिबोध के सूचक हैं। और, इनका सम्बन्ध इसमें है कि कौन किसके अन्तर्गत होता है, या कौन किसके बाहर पड़ता है। वाक्य यदि विधानात्मक हो, तो एक पद दूसरे के अन्तर्गत होगा; और यदि निषेधात्मक हो तो एक पद दूसरे के बाहर पड़ेगा।

इस मत के अनुसार, सभी मनुष्य मरण-शील हैं, इस वाक्य का अर्थ यह हुआ कि मरणशील जितने प्राणी हैं उसके अन्तर्गत मनुष्य लोग भी हैं। और, कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है, इस वाक्य का अर्थ यह हुआ कि जितने भी मनुष्य लोग हैं सभी पूर्ण कहे जा सकने वाले लोगों से बाहर पड़ते हैं।

आगे चलकर देखेंगे कि अनुमान की प्रक्रिया में सभी जगह वाक्य के अर्थ इसी मत के अनुसार लिए गए हैं।

(३) स्वभावबोध-वाद या धर्म-वाद[3]—इस मत के अनुसार वाक्य के दोनों पद अपने अपने स्वभावबोध के सूचक हैं। तब, सभी मनुष्य

---

[1] Predicative view. [2] Denotative view.

[3] Connotative or attributive view.

मरणशील हैं, इस वाक्य का यह अर्थ हुआ कि मनुष्यत्व धर्म के साथ मरण-शीलत्व धर्म लगा हुआ है। अर्थात् मनुष्यत्व के साथ मरणशीलत्व का साहचर्य-सम्बन्ध है। कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है, इस वाक्य का यह अर्थ हुआ कि मनुष्यत्व धर्म का पूर्णत्व धर्म से बिल्कुल विरोध है। कुछ मनुष्य दयालु हैं, इस वाक्य का यह अर्थ हुआ कि मनुष्य के जो धर्म हैं उनमें दयालुता भी एक धर्म है। कुछ मनुष्य दयालु नहीं हैं, इस वाक्य का यह अर्थ हुआ कि मनुष्य के जो धर्म हैं उनमें कुछ का दयालुता धर्म से बिल्कुल विरोध है। इस सिद्धान्त के पोषक हैं प्रसिद्ध दार्शनिक मिल्।

(४) समन्वय-वाद[1]—यह मत पूर्व के दो मतों का सम्मिलित रूप है। इसके अनुसार वाक्य के दोनों पद व्यक्तिबोध और स्वभावबोध किसी भी अर्थ में लिए जा सकते हैं। इस मत का पोषक दार्शनिक हैमिल्टन लिखता है, "अध्यवसाय या वाक्य का लक्षण इस प्रकार कर सकते हैं कि यह उस व्यवसाय का फल है जिसमें हम दो प्रत्ययों को सूचित करते हैं, जिसमें एक उद्देश और दूसरा विधेय समझ लिया जाता है, जिसमें एक दूसरे के अन्तर्गत हो कर रहता है अथवा नहीं रहता है, या तो विस्तार की दृष्टि से या धर्म की दृष्टि से।"
[Logic, I, p. 229.]

[1] Denotative—Connotative view.

छठा अध्याय

वाक्य-प्रकरण

दूसरा भाग

(वाक्य के प्रकार[1])

जैसे हमने पद-प्रकरण में पदों को भिन्न भिन्न प्रकार से विभागों में बाँट कर उनकी परीक्षा की थी, वैसे ही यहाँ वाक्यों की भी करनी है। वाक्य निम्न छः प्रकार से विभागों में बाँटे जाते हैं, जिनकी परीक्षा अलग अलग की जायगी—

- वाक्य
  - १. रचना की दृष्टि से
    - (क) शुद्ध—'क' 'ख' है,
    - (ख) मिश्र 'क' और 'ख' 'ग' हैं।
  - २. सम्बन्ध की दृष्टि से
    - (क) निरपेक्ष 'क' 'ख' है।
    - (ख) सापेक्ष
      - (i) हेतुफलाश्रित—यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है।
      - (ii) वैकल्पिक—'क' या तो 'ख' है या 'ग'।

---

[1] Kinds of Propositions.

वाक्य
- ३. गुण[1] की दृष्टि से
  - (क) विधि—'क' 'ख' है।
  - (ख) निषेध—'क' 'ख' नहीं है।
- ४. अंश[1] की दृष्टि से
  - (क) सामान्य—सभी 'क' 'ख' हैं।
  - (ख) विशेष—कुछ 'क' 'ख' हैं।
- ५. आस्था की दृष्टि से
  - (क) निश्चित—'क' अवश्य 'ख' है।
  - (ख) प्रतिज्ञात—'क' 'ख' है।
  - (ग) संदिग्ध—'क' 'ख' हो सकता है।
- ६. तात्पर्य की दृष्टि से
  - (क) शाब्दिक—'त्रिभुज' 'तीन भुजाओं वाला क्षेत्र' है।
  - (ख) यथार्थ—'त्रिभुज के तीनों कोण मिलकर' 'दो समकोण होते' हैं।

§ १—रचना की दृष्टि से[2]

वाक्य दो प्रकार के होते हैं—शुद्ध और मिश्र।

'शुद्ध वाक्य'[3] वह है जिसमें केवल एक ही उद्देश और एक ही विधेय हो। जैसे—सभी मनुष्य मरणशील हैं; कुछ मनुष्य ज्ञानी हैं; कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है; कुछ मनुष्य ज्ञानी नहीं हैं।

'मिश्र वाक्य'[4] वह है जिसमें उद्देश, या विधेय, या दोनों अनेक हों। अर्थात्, जिस एक वाक्य में अनेक वाक्य संश्लिष्ट हों। जैसे—राम और मोहन उपस्थित हैं; मोहन खिलाड़ी और गवैया है; मोहन खिलाड़ी है, और सोहन गवैया है।

---

[1] Quality = गुण। Quantity = अंश। वाक्य के विधि-निषेध अर्थ में 'गुण' का, तथा सामान्य-विशेष अर्थ में 'अंश' का प्रयोग रूढ़ समझना चाहिए। [2] According to Composition.
[3] Simple. [4] Compound.

'मिश्र-वाक्य' के भी दो भेद हैं—'सन्निकृष्ट'[१] और 'विप्रकृष्ट'[२]। 'सन्निकृष्ट मिश्र वाक्य' वह है जिसमें अनेक विधानात्मक वाक्य मिले हों; जैसे—राम और मोहन अनुपस्थित हैं। 'विप्रकृष्ट मिश्र वाक्य' वह है जिसमें अनेक निषेधात्मक वाक्यों का सन्निवेश हो; जैसे—राम न तो मेरा भाई है न भतीजा।

§ २—सम्बन्ध की दृष्टि से[३]

उद्देश और विधेय के सम्बन्ध की दृष्टि से वाक्य दो प्रकार के होते हैं—निरपेक्ष और सापेक्ष।

(१) 'निरपेक्ष वाक्य'[४] वह है जिसमें बिना किसी शर्त के उद्देश और विधेय में कोई सम्बन्ध स्थापित किया गया हो। जैसे, सभी मनुष्य मरणशील हैं, कोई बाघ अहिंसक नहीं है। यहाँ, मनुष्य के मरणशील होने, या बाघ के अहिंसक न होने के लिए किसी शर्त को पूरी करने की बात नहीं है। बिना किसी शर्त के मनुष्य मरणशील है, और बाघ अहिंसक नहीं है।

(२) सापेक्ष वाक्य[५] वह है जिसमें उद्देश और विधेय के बीच का सम्बन्ध किसी शर्त पूरी होने पर निर्भर करता हो। 'सापेक्ष वाक्य' दो प्रकार के होते हैं—हेतुफलाश्रित और वैकल्पिक।

क. 'हेतुफलाश्रित वाक्य'[६] वह है जिसमें किसी शर्त के पूरी होने पर किसी बात का होना बताया जाय। जैसे, यदि बत्ती जलती है, तो उजेला होता है। यहाँ बत्ती जलने की शर्त्त पूरी होने पर उजेला का होना बताया गया है। बत्ती जलने की शर्त 'हेतु'[७] है, और उजेला का होना 'फल'[८] है। इसीलिए, ऐसे वाक्य को 'हेतुफलाश्रित वाक्य' कहते हैं।

---

[१] Copulative. [२] Remotive. [३] According to Relation. [४] Categorical = unconditional. [५] Conditional. [६] Hypothetical. [७] Antecedent. [८] Consequent.

हेतुफलाश्रित वाक्य का उचित रूप तो यही है जिसमें हेतु[1] पहले कहा गया हो और फल[2] बाद में। किंतु, व्यवहार की भाषा में हेतु के पहले फल भी कह दिया करते हैं, जैसे—उजेला हो यदि बत्ती जले।

किंतु हेतुफलाश्रित वाक्य का शास्त्रीय रूप सदा यही रहता है—यदि......है, तब......है। इसे इस रूप में भी प्रकट किया जा सकता है—क्योंकि बत्ती जलती है, इसलिए उजेला होता है।

हेतुफलाश्रित वाक्य में 'हेतु' और 'फल' के वही स्थान हैं जो निरपेक्ष वाक्य में उद्देश और विधेय के। अतः हेतुफलाश्रित वाक्य निरपेक्ष वाक्य में, तथा निरपेक्ष वाक्य हेतुफलाश्रित वाक्य में परिवर्तन किया जा सकता है। जैसे—

मनुष्य मरणशील है=यदि मनुष्य है, तो मरणशील है। यदि बत्ती जले तो उजेला हो='बत्ती जलने की अवस्था' 'उजेला होने की अवस्था' है।

ख. वैकल्पिक वाक्य[3] का रूप है—'क' या तो 'ख' है या 'ग'। मोहन या तो पागल है, या महात्मा; मनुष्य या तो अमर है या मरने वाला। 'वैकल्पिक वाक्य' में उद्देश पद का सम्बन्ध किससे है यह निश्चयपूर्वक मालूम नहीं होते हुए भी इतना ठीक ठीक पता है कि इन्हीं अनेक में से एक के साथ है। अर्थात्, विधेय पद में अनेक का विकल्प लगा है। 'वैकल्पिक वाक्य' को चार हेतुफलाश्रित वाक्यों में तोड़ सकते हैं। जैसे, मनुष्य या तो अमर है या मरने वाला, यह बराबर है—

(१) यदि मनुष्य अमर नहीं है, तो वह मरने वाला है,
(२) यदि मनुष्य मरने वाला नहीं है, तो वह अमर है,
(३) यदि मनुष्य अमर है, तो वह मरने वाला नहीं है,
(४) यदि मनुष्य मरने वाला है, तो वह अमर नहीं है।

---

[1] Antecedent. [2] Consequent.
[3] Disjunctive Proposition.

युबवेंग तथा कुछ दार्शनिकों का मत है कि वैकल्पिक वाक्य के विकल्प सदा परस्पर विरुद्ध होते हैं, जिसमें एक के सत्य होने से दूसरा मिथ्या होता है, और उसके विपरीत एक के मिथ्या होने से दूसरा सत्य भी।

किन्तु मिल् प्रभृति कुछ अन्य दार्शनिकों का मत है कि वैकल्पिक वाक्य के विकल्प परस्पर विरुद्ध होंगे ही ऐसी बात नहीं है, क्योंकि अनेक विकल्प भी एक साथ सत्य हो सकते हैं। इस मत के अनुसार एक विकल्प के मिथ्या होने से दूसरे का सत्य होना सिद्ध तो होता है, किन्तु इसके विपरीत एक के सत्य होने से दूसरे का मिथ्या होना सिद्ध नहीं होता। जैसे—मोहन या तो धूर्त है या मूर्ख, इस वैकल्पिक वाक्य से इतना तो निकाल सकते हैं कि—

१. यदि मोहन धूर्त नहीं है, तो वह मूर्ख है; और

२. यदि मोहन मूर्ख नहीं है, तो वह धूर्त है।

किंतु, उससे यह नहीं निकाल सकते कि—

१. यदि मोहन धूर्त है, तो वह मूर्ख नहीं है, या

२. यदि मोहन मूर्ख है, तो वह धूर्त नहीं है, क्योंकि मोहन धूर्त और मूर्ख दोनों साथ साथ हो सकता है।

इस मतभेद को देखकर उचित यही प्रतीत होता है कि वैकल्पिक वाक्य के विकल्पों की विना परीक्षा किए यह नहीं कहा जा सकता है कि वे परस्पर विरुद्ध हैं या नहीं। यदि विकल्प पद 'अमर' और 'मरने वाला' की तरह परस्पर अत्यन्त विरुद्ध हों, तब तो युबवेंग का मत ठीक है। और वे यदि 'मूर्ख' और 'धूर्त' की तरह एक साथ सत्य हो सकें, तो 'मिल्' का मत ठीक है।

विधेय में विकल्प लगाने का कारण कभी कभी वक्ता का संशय भी होता है, और कभी उसकी व्याख्या की पूर्णता भी। जैसे, वह या तो चूहा है या छुछुन्दर, इस वाक्य के विधेय में विकल्प लगाने का कारण वक्ता का संशय है। किंतु, विद्यार्थी के फेल करने का कारण या तो उसका दुर्बुद्धि

होना या आलसी होना है, इस वाक्य में विकल्प लगा कर वक्ता विद्यार्थी के फेल होने की पूरी व्याख्या करता है।

§ ३—गुण की दृष्टि से[1]

गुण की दृष्टि से वाक्य दो प्रकार के होते हैं—विधि और निषेध। विधि-वाक्य[2]—वह है जिसमें उद्देश और विधेय के बीच सम्बन्ध की स्थापना की गई हो। निषेध-वाक्य[3]—वह है जो उद्देश और विधेय के बीच सम्बन्ध के अभाव को सूचित करता हो। जैसे,—सभी मनुष्य मरणशील हैं, यह एक विधि-वाक्य है; क्योंकि इसमें मनुष्य का मरणशील होना बताया गया है। कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है, यह एक निषेध-वाक्य है क्योंकि इसमें मनुष्य का पूर्ण नहीं होना बताया गया है।

कुछ तर्कशास्त्री हेतुफलाश्रित वाक्यों में भी विधि और निषेध का अन्तर करते हैं। उनके मत से ऐसे वाक्यों में फल के विधानात्मक या निषेधात्मक होने से सारे वाक्य को वैसा ही समझना चाहिए। जैसे, यदि वृष्टि होती है, तो धान होता है, यह वाक्य विधानात्मक है, क्योंकि इसका फल विधानात्मक है। किन्तु, यदि वृष्टि होती है तो मैं टहलने नहीं जाता हूँ, यह वाक्य निषेधात्मक है, क्योंकि इसका फल टहलने जाने का निषेध करता है। इस मत का कहना है कि विधानात्मक रूप में फल हेतु की अपेक्षा करता है, किन्तु निषेधात्मक वावय में वह नहीं करता है।

हेतुफलाश्रित वाक्य की परीक्षा करने से मालूम होता है कि ऊपर का सिद्धान्त ठीक नहीं है। हेतुफलाश्रित वाक्य की यह तो पहली बात है कि इसके हेतु और फल में आश्रय-आश्रित का सम्बन्ध हो। यदि

---

[1] According to Quality.

[2] Affirmative. [3] Negative.

हेतु आश्रय और फल आश्रित नहीं हुआ, तो हेतुफलाश्रित वाक्य ही कैसे बनेगा ? यदि वृष्टि हुई तो मैं टहलने नहीं जाऊँगा, इस वाक्य का अर्थ यह नहीं है कि वृष्टि होने और मेरे टहलने जाने में कोई आश्रय-आश्रित का सम्बन्ध नहीं है, किन्तु इसका अर्थ यह है कि मेरा नहीं टहलने जाना वृष्टि होने पर आश्रित है। यदि हेतु और फल में आश्रय-आश्रित का कोई सम्बन्ध ही न होता, तो हेतु के आधार पर फल का निषेध भी कैसे किया जाता ?

कुछ तर्क-शास्त्रियों ने सभी वाक्यों को विधानात्मक रूप ही देने का प्रयत्न किया है। वे निषेध-सूचक "नहीं" शब्द को विधेय पद के साथ संयुक्त करके निषेधात्मक वाक्य को विधानात्मक बना लेना उचित बताते हैं। इनके मत से, कुछ मनुष्य ज्ञानी नहीं हैं, इस वाक्य को, कुछ मनुष्य अ-ज्ञानी हैं, ऐसा बदल कर ले लेना चाहिए।

यह मत ठीक नहीं है, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं [पृ० ८२]।

हेतुफलाश्रित वाक्य की तरह, सभी वैकल्पिक वाक्य भी स्वभावतः विधानात्मक हैं। जिस तरह हेतुफलाश्रित वाक्य में हेतु और फल के बीच सम्बन्ध का होना आवश्यक है, उसी तरह वैकल्पिक वाक्य में विधेय के विकल्पों में से किसी एक का उद्देश के साथ सम्बन्ध होना आवश्यक है।

तर्क-शास्त्री वेल्हन् लिखते हैं, "वैकल्पिक वाक्य के स्वभाव से ही यह बात निकलती है कि वह विधानात्मक ही हो सकता है, क्योंकि उसमें विधेय के लिए अनेक विकल्प उपस्थित किये जाते हैं जिनमें एक न एक का विधान अवश्य होना चाहिए।"[१]

---

[१] "It follows from the very nature of disjunctive propositions that they can only be affirmative; for, they must give a choice of predicates, one or other of which must be affirmed of the subject."—*Welton & Manohan, Logic* P.96

§ ४—अंश की दृष्टि से[1]

'अंश' की दृष्टि से वाक्य दो प्रकार के होते हैं—'सामान्य' और 'विशेष'।

(१) सामान्य-वाक्य[2] वह है जिसके उद्देश-पद का व्यक्तिबोध अपने पूर्ण अंश में समझा गया हो। जैसे—सभी मनुष्य मरण-शील हैं; कोई मनुष्य अमर नहीं है। इन वाक्यों में मरणशील होने या अमर होने का 'मनुष्य' पद के व्यक्तिबोध के पूर्ण अंश के साथ विधान या निषेध किया गया है।

(२) विशेष-वाक्य[3]—कुछ 'क' 'ख' हैं, या कुछ 'क' 'ख' नहीं हैं, यही विशेष-वाक्य के रूप हैं। 'कुछ' शब्द से यहाँ यह अर्थ नहीं है कि 'केवल कुछ ही'; किन्तु इसका अर्थ है 'कम से कम कुछ'। कुछ मनुष्य अज्ञानी हैं, इसका यह अर्थ नहीं है कि 'केवल कुछ ही मनुष्य अज्ञानी हैं'। हो सकता है कि सभी मनुष्य अज्ञानी निकलें। किन्तु, यहाँ वक्ता को कुछ ही मनुष्यों के अज्ञानी होने की बात मालूम है। यहाँ, यह वाक्य इस बात की चेतावनी देता है कि ऐसा न समझ लेना चाहिए कि कोई मनुष्य अज्ञानी नहीं है। उसी तरह, कुछ आम मीठे नहीं हैं, इसका अर्थ यह नहीं है कि कुछ ही आम मीठे नहीं हैं; किन्तु यह बताता है कि यह बात ठीक नहीं है कि सभी आम मीठे हैं। अतः, कह सकते हैं कि विशेषवाक्य के 'कुछ' शब्द का अर्थ 'कुछ ही' नहीं, किन्तु 'कम से कम कुछ' का है।

इस तरह, इस वाक्य में उद्देश का क्या विस्तार है यह अनिश्चित रहता है। यदि वह निश्चित हो गया तो वाक्य विशेष से सामान्य हो जाता है। कुछ साँप विषैले नहीं हैं, यह वाक्य विशेष है, क्योंकि इसका

---

[1] According to Quantity.
[2] Universal Proposition.
[3] Particular Proposition.

पता नहीं कि वैसे साँप कौन हैं। इससे स्वभावतः जिज्ञासा होती है कि, वैसे साँप कौन हैं ? और जब इसका निश्चय हो जाता है कि वे अमुक प्रकार के साँप हैं तो यह वाक्य सामान्य हो जाता है।

ऊपर कह चुकने पर भी, यहाँ स्मरण करा देना आवश्यक है कि 'अपवादात्मक' वाक्यों में वे वाक्य 'सामान्य' समझे जायेंगे जिनके उद्देश-पद के व्यक्तिबोध के किसी निश्चित अंशका अपवाद किया गया हो; क्योंकि अपवादांश के निश्चित होनेसे गृहीतांश का निश्चय स्वयं हो जाता है। [पृ० ८६] और, यदि अपवादांश संदिग्ध हो तो गृहीतांश भी संदिग्ध होगा; वैसी हालत में वह वाक्य 'विशेष' होगा। जैसे, मुस्लिम-लीग को छोड़ सभी भारतीय संस्थाओं ने कांग्रेस का साथ दिया है, यह वाक्य 'सामान्य' है; और तर्कशास्त्र में इसका रूप इस तरह होगा—सभी 'मुस्लिम-लीग से इतर भारतीय संस्थायें' 'कांग्रेस का साथ देने वाली' हैं। किंतु, एक को छोड़ सभी भारतीय संस्थाओं ने कांग्रेस का साथ दिया है, यह वाक्य 'विशेष' है; और, तर्कशास्त्र में इसका रूप इस तरह होगा—कुछ 'भारतीय संस्थायें' 'कांग्रेस का साथ देने वाली' हैं।

एकवचनात्म वाक्य[1] का उद्देश्य यदि कोई निश्चित पदार्थ या व्यक्ति हो तो उस वाक्य को सामान्य समझना चाहिए, क्योंकि इसके उद्देश-पद का व्यक्तिबोध केवल एक वही स्वयं निश्चित है, जो यहाँ उसी अर्थ में लिया जाता है। जैसे, मोहन पढ़ता है, यह वाक्य सामान्य है। किंतु, यदि एकवचनात्मक वाक्य का उद्देश कोई अनिश्चित एक हो तो वह वाक्य 'विशेष' समझा जायगा। जैसे, एक लड़का पढ़ता है, यह वाक्य 'विशेष' है। इस 'एक' से राम, मोहन, हरि कोई भी समझा जा सकता है। इसलिए इस 'एक' का अर्थ 'कुछ' है। तर्कशास्त्री युबर्वेग के शब्दों में—

[1] Singular Proposition.

"एकवचनात्मक वाक्य सामान्य भीं होगा, और विशेष भी। वह सामान्य होगा जब उसका उद्देश कोई निश्चित एक है, या सामने कोई निर्दिष्ट एक (जैसे—मोहन, या यह आदमी) है। और, वह विशेष होगा जब उसका उद्देश कोई अनिश्चित एक हो। क्योंकि, पहली अवस्था में उद्देश-पद के पूरे विस्तार के साथ विधेय-पद का विधान या निषेध किया जाता है, और दूसरी अवस्था में उद्देश के अर्थ के एक अनिश्चित अंश के साथ।" (System of Logic 214.)

कोई हेतुफलाश्रित वाक्य सामान्य है या विशेप यह वाक्य के हेतु से समझा जायगा। यदि 'हेतु' पूर्णांशी हो तो वाक्य सामान्य है, और यदि वह वैसा न हो तो विशेष। जैसे, यदि कहीं भी आग है तो वहाँ गर्मी है, यह वाक्य सामान्य है, क्योंकि यहाँ हेतु से आग की विद्यमानता की सभी अवस्थाओं का मतलब है। और, कभी कभी यदि मनुष्य सावधान है तो वह सफल होता है, यह वाक्य 'विशेष' है, क्योंकि यहाँ हेतु से मनुष्य के सावधान होने की सभी अवस्थाओं से मतलब नहीं है।

वैकल्पिक वाक्य का 'अंश' उसके उद्देश-पद के अनुसार होगा। जैसे, सभी मनुष्य या तो अमर हैं या मरने वाले, यह वाक्य सामान्य है। और, कुछ मनुष्य या तो धूर्त हैं या मूर्ख, यह वाक्य विशेष है।

कुछ ऐसे वाक्य हैं जिनके उद्देश-पद का अंश अनुक्त रहता है। जैसे, मनुष्य मरणशील है, लड़के खिलाड़ी होते हैं, इत्यादि। ऐसे वाक्य को अनुक्तांश-वाक्य कहते हैं। इनके अंश समझ-बूझ कर हम स्वयं निश्चित कर सकते हैं। जैसे, ऊपर के दो वाक्यों के 'अंश' इस प्रकार होंगे—सभी 'मनुष्य' 'मरणशील' हैं; कुछ 'लड़के' 'खिलाड़ी' हैं।

§ ५—गुण और अंश, दोनों की सम्मिलित दृष्टि से

वाक्य 'गुण' की दृष्टि से विधि और निषेध दो प्रकार के, और 'अंश' की दृष्टि से भी सामान्य और विशेष दो प्रकार के

होते हैं। अतः, दोनों की सम्मिलित दृष्टि से वाक्य चार प्रकार के होंगे[1]—

(१) सामान्य विधि—सभी 'क' 'ख' हैं,

(२) सामान्य निषेध—कोई 'क' 'ख' नहीं है,

(३) विशेष विधि—कुछ 'क' 'ख' हैं,

(४) विशेष निषेध—कुछ 'क' 'ख' नहीं हैं।

तर्कशास्त्र में इन चार वाक्यों के सांकेतिक नाम यह चार स्वर हैं—

सामान्य विधि—आ

सामान्य निषेध—ए

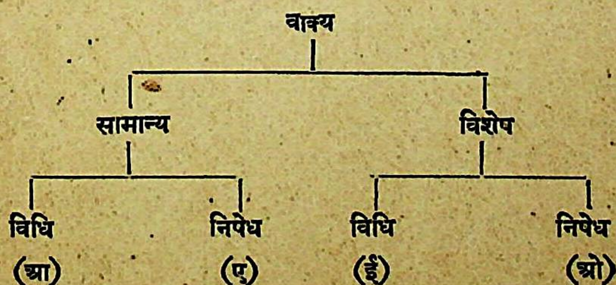
विशेष विधि—ई

विशेष निषेध—ओ

[अंगरेजी में इनके नाम क्रमशः A, E, I, और O हैं। इनमें 'A' और 'I' विधि-सूचक हैं, और 'E' और 'O' निषेध-सूचक। पहले दो विधि-सूचक स्वर affirms (= विधि) शब्द से, और अन्तिम दो निषेध-सूचक स्वर nego (= निषेध) शब्द से लिए गए हैं।]

---

[1]यह विभाजन निम्न तालिका से स्पष्ट होगा—



तर्कशास्त्र में वाक्य के यही चार रूप प्रामाणिक माने गए हैं। शास्त्रीय विचार करने के लिए सभी लौकिक वाक्यों को उनके अर्थ की रक्षा करते हुए इन्हीं चार रूपों में से किसी एक में ले आना आवश्यक है। इस तरह लाने के कुछ नियम ऊपर कह चुके हैं। [देखिए पृ० ८२]।

§ ६—बलाबल[1] की दृष्टि से

आस्था के बलाबल की दृष्टि से वाक्य तीन प्रकार के होते हैं—निश्चित, प्रतिज्ञात और संदिग्ध।

निश्चित-वाक्य[2] वह है जिसमें बात पूरे निश्चय के साथ कही गई हो। जैसे, 'क' 'ख' अवश्य है : दो और दो चार अवश्य होंगे : दो रेखाओं से कोई क्षेत्र कभी नहीं घिर सकता।

प्रतिज्ञात-वाक्य[3] वह है जिसमें न निश्चय प्रकट किया गया हो और न संदेह, किंतु जो केवल उद्देश और विधेय के बीच कोई सम्बन्ध स्थापित करता है। जैसे—सभी मनुष्य मरणशील हैं : कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है।

संदिग्ध-वाक्य[4] वह है जिसकी बात हो तो सकती है, किंतु हुई है या नहीं इसमें संदेह है। जैसे—कदाचित् मोहन बीमार है : कदाचित् कोई मनुष्य ज्ञानी नहीं है।

§ ७—तात्पर्य की दृष्टि से[5]

कोन वाक्य कैसें तात्पर्य व्यक्त करते हैं इसकी परीक्षा करने से वाक्य दो प्रकार के सिद्ध होते हैं—'शाब्दिक' और 'यथार्थ'।

---

[1] Modality. [2] Necessary. [3] Assertory.
[4] Problematic. [5] According to Import.

(१) शाब्दिक-वाक्य[1] वह है जिसके विधेय-पद का स्वभावबोध उसके उद्देश-पद के स्वभावबोध के समान ही हो, अथवा उसमें अन्तर्गत हो। जैसे—'मनुष्य' 'विवेकशील प्राणी' है; 'मनुष्य' 'विवेकशील' है; 'मनुष्य' 'प्राणी' है। पहले उदाहरण में, जो मनुष्यत्व है वही विवेकशील-प्राणित्व है, अतः इस वाक्य के दोनों पदों के स्वभावधर्म समान हैं। दूसरे तथा तीसरे वाक्य में विवेकशीलत्व तथा प्राणित्व मनुष्य के अन्तर्गत हैं, अतः इन वाक्यों के विधेयपद के स्वभावबोध इनके उद्देश-पद के स्वभाव में अन्तर्गत हैं।

इसे देख कर यह पता चलता है कि 'शाब्दिक वाक्य' का विधेय उसके उद्देश के विषय में कोई नया ज्ञान नहीं प्रदान करता, किन्तु वह उसका केवल 'लक्षण' या 'लक्षण का विश्लेपण' होता है। इसीलिए इस वाक्य को 'शाब्दिक' कहते हैं। इस वाक्य के उद्देश में ही विधेय निहित है। इसे विश्लेपक-वाक्य[2] भी कहते हैं, क्योंकि यह अपने उद्देश-पद के स्वभाव-बोध का विश्लेषण भर करता है। इसे स्फोटक-वाक्य भी कहते हैं, क्योंकि यह उसे स्फुट भर करता है जो इसके उद्देश में निहित था। इसे धर्मगत-वाक्य भी कहते हैं, क्योंकि यह उद्देश के धर्म की परीक्षा पर ही बना है।

(२) यथार्थ-वाक्य[3] वह है जिसके विधेय का स्वभावबोध उद्देश के स्वभावबोध में अन्तर्गत न हो। जैसे, सभी 'मनुष्य' 'मरणशील' हैं; कोई 'मनुष्य' 'अमर' नहीं है। इन वाक्यों के विधेय के स्वभावबोध 'मरणशीलत्व' या 'अमरत्व' उनके उद्देश के स्वभावबोध 'मनुष्यत्व' में अन्तर्गत नहीं है।

---

[1] Verbal Proposition. [2] Analytic Proposition.
[3] Real Proposition.

ऐसे वाक्य को संश्लेषक-वाक्य[१] भी कहते हैं, क्योंकि यह दो भिन्न भिन्न नये प्रत्ययों के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है। इसे ज्ञापक-वाक्य भी कहते हैं, क्योंकि यह नई बात बता कर ज्ञान का विस्तार करता है।

शाब्दिक-वाक्य का विधेय अपने उद्देश के सम्बन्ध में या तो जाति[२] होता है, या उपजाति,[३] या व्यवच्छेदक[४] धर्म। यथार्थ वाक्य का विधेय अपने उद्देश के सम्बन्ध में या तो स्वभावसिद्ध धर्म[५] होता है या आकस्मिक धर्म।[६] जैसे—

शाब्दिक-वाक्य

जाति—सभी त्रिभुज क्षेत्र हैं

उपजाति—कुछ क्षेत्र त्रिभुज हैं

व्यवच्छेदक धर्म—सभी त्रिभुज तीन भुजाओं वाले हैं

यथार्थ-वाक्य

स्वभावसिद्ध धर्म—त्रिभुज के तीनों कोण मिलकर दो समकोण के बराबर होते हैं।

आकस्मिक धर्म—यह त्रिभुज समद्विबाहु है।

---

[१] Synthetic Proposition. [२] Genus. [३] Species. [४] Differentia. [५] Property. [६] Accident.

सातवाँ अध्याय

वाक्य-प्रकरण

तीसरा भाग

(वाक्य में पदों के विस्तार[1])

§ १—वाक्य में पदों के विस्तार

सामान्य-वाक्यों में उद्देश-पद अपने व्यक्तिबोध के पूरे अंश में लागू होता है, जो उसके प्रारम्भ में आने वाले 'सभी' या 'कोई' शब्द से प्रकट होता है। विशेष-वाक्यों में उद्देश-पद अपने व्यक्तिबोध के केवल एक अनिश्चित अंश में लागू होता है, जो उसके आरम्भ में आने वाले 'कुछ' शब्द से प्रकट होता है। इसे तर्कशास्त्र की परिभाषा में यों कहते हैं कि उद्देश-पद सामान्य-वाक्यों में सर्वांशी[2] होता है, और विशेष-वाक्यों में असर्वांशी।[3]

वाक्य के विधेय-पद के पूर्व 'सभी,' 'कोई' या 'कुछ' शब्द का प्रयोग भाषा में नहीं होता, अतः वह किस वाक्य में 'सर्वांशी' होता है और किस वाक्य में 'असर्वांशी' इस पर विचार कर लेना होगा।

सभी 'घोड़े' 'पशु' हैं, यह एक सामान्य विधानात्मक वाक्य है। यहाँ

---

[1] Distribution of Terms.

[2] Distributed.

[3] Undistributed.

विधेय-पद के व्यक्तिबोध के क्या पूरे अंश से उद्देश-पद का सम्बन्ध है? यदि हाँ, तो सभी पशु घोड़े कहे जाने चाहिए। किंतु यह नहीं हो सकता, क्योंकि घोड़ा से इतर भी दूसरे बहुत पशु हैं। विधेय-पद 'पशु' के व्यक्ति-बोध का एक अंश ही घोड़ा है। अतः, सभी घोड़े सभी पशु नहीं हैं, किंतु सभी घोड़े कुछ पशु हैं। इस परीक्षा का सार यह निकला कि ऐसे वाक्य का विधेय-पद असर्वांशी होता है।

किंतु, सामान्य विधानात्मक वाक्य के ऐसे भी उदाहरण मिलेंगे जिनमें विधेय-पद सर्वांशी होते हैं। जैसे, 'एवरेष्ट' 'संसार का सर्वोच्च शिखर' है; 'त्रिभुज' 'तीन भुजाओं से घिरा क्षेत्र' है। इन वाक्यों में जो उद्देश है वही विधेय है, और जो विधेय है वही उद्देश है। जो एवरेष्ट है वही संसार का सर्वोच्च शिखर है, और जो संसार का सर्वोच्च शिखर है वही एवरेष्ट है। जो त्रिभुज है वही तीन भुजाओं से घिरा क्षेत्र है, और जो तीन भुजाओं से घिरा क्षेत्र है वही त्रिभुज है। ऐसे वाक्यों को समव्यासिक-वाक्य कहते हैं। इनके दोनों पदों के व्यक्तिबोध एक ही हैं, जो अपने पूरे अंश में समझे गये हैं। ऐसे वाक्य का विधेय-पद सर्वांशी होता है।

विशेष-विधानात्मक वाक्य के दो उदाहरण लें—(१) कुछ 'पशु' 'घोड़े' हैं, और (२) कुछ 'भारतीय' 'कवि' हैं। पहले वाक्य में विधेय-पद स्पष्टतः सर्वांशी है, और दूसरे में असर्वांशी। क्योंकि संसार के सभी घोड़े पशु हैं, किंतु संसार के कुछ ही कवि भारतीय हैं।

निषेधात्मक वाक्य यह सूचित करते हैं कि उद्देश के साथ विधेय-पद से बोध होने वाले किसी भी व्यक्ति का सम्बन्ध नहीं है। अर्थात्, विधेय-पद का व्यक्तिबोध अपने पूरे अंश में उद्देश से अलग है। कोई हबशी गोरा नहीं है, कुछ हबशी पढ़े-लिखे नहीं हैं—इन दोनों वाक्यों पर विचार करने से मालूम होगा कि इनके विधेय-पद सर्वांशी हैं। क्योंकि, इनका

अर्थ है कि संसार के जितने भी गोरे आदमी हैं उनमें कोई हब्शी नहीं है; और संसार में जितने भी विद्वान् आदमी हैं उनमें कोई उन कुछ हब्शियों में नहीं है जिनका यहाँ जिक्र किया गया है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि निषेधात्मक वाक्य के विधेय-पद सर्वदा 'सर्वांशी' होते हैं, वाक्य चाहे सामान्य हो या विशेष। किसी भी अवस्था में निषेधात्मक वाक्य का विधेय-पद 'असर्वांशी' नहीं होता।

सारे विचार का सार यह निकला कि—

(१) विधानात्मक वाक्य का विधेय कभी सर्वांशी भी होता है, और कभी असर्वांशी भी; और

(२) निषेधात्मक वाक्य का विधेय हमेशा सर्वांशी होता है।

किस विधानात्मक वाक्य का विधेय-पद सर्वांशी है और किसका असर्वांशी यह तो पदों के अर्थ की परीक्षा करके ही निश्चित किया जा सकेगा। तर्कशास्त्र के लिए यह एक कठिनाई उत्पन्न करता है, क्योंकि तर्कशास्त्र विचार के ऐसे 'रूपों' की स्थापना करना चाहता है जो बिना उनके अर्थ की अपेक्षा किए सत्य ठहरें। सांकेतिक वाक्यों में उनके पदों से किसी निश्चित वस्तु का निर्देश नहीं होता, तब उनके अर्थ की कैसे परीक्षा की जायगी, और यह कैसे निश्चित किया जायगा कि अमुक विधानात्मक वाक्य का विधेय-पद सर्वांशी है या असर्वांशी? जैसे, सभी 'क' 'ख' हैं; कुछ 'क' 'ख' हैं—इन वाक्यों में 'क' और 'ख' क्या हैं इसका पता नहीं। तब, 'ख' सर्वांशी है या असर्वांशी यह कैसे निश्चय किया जायगा? इस अनिश्चय से बचने के लिए तर्कशास्त्रियों ने इसे 'असर्वांशी' माना है। जो सर्वांश में सत्य है वह एकांश में निश्चय रूप से सत्य होता है, अतः इसे असर्वांशी मानने में कोई खतरा नहीं है।

तब, वाक्य में पदों के विस्तार समझने के लिए निम्न तालिका बनाई जा सकती है—

विधि		निषेध	
उद्देश	विधेय	उद्देश	विधेय
सामान्य सर्वांशी	असर्वांशी	सर्वांशी	सर्वांशी
विशेष असर्वांशी	असर्वांशी	असर्वांशी	सर्वांशी

चारों वाक्यों के जो चार सांकेतिक नाम—आ, ई, ए, ओ—हैं उनका प्रयोग करके इस तरह बता सकते हैं कि कौन वाक्य अपने किन पदों को सर्वांश में बोध करते हैं—

'आ' उद्देश को,
'ओ' विधेय को,
'ए' दोनों को,
'ई' किसी को नहीं।

इसे याद रखने के लिए एक सूत्र बना लें—आउ ओवि एदो ईनहीं। इनके पहले अक्षर वाक्यों के नाम हैं, और दूसरे अक्षर उन पदों के नाम हैं जो सर्वांशी हैं। अतः, 'आउ' का माने है कि 'आ' वाक्य का उद्देश सर्वांशी है। 'ओवि' का माने है कि 'ओ' वाक्य का विधेय सर्वांशी है। 'एदो' का माने है कि 'ए' वाक्य के दोनों पद सर्वांशी हैं। 'ईनहीं' का माने है कि 'ई' वाक्य में कोई पद सर्वांशी नहीं है।[1]

§ २—विधेय के भी अंश का निर्देश कर वाक्य के आठ रूपों की स्थापना

हम लोगों ने ऊपर देखा कि वाक्य के साधारण चार रूपों में उनके 'गुण'[2]

---

[1] अंगरेजी में यह सूत्र है—Asebinop. [2] Quality.

के अनुसार उनके विधेय के 'अंश'[1] का निश्चय किया गया; यह कि विधेय विधानात्मक वाक्यों में असर्वांशी होता है, और निषेधात्मक वाक्यों में सर्वांशी। तब, यह सम्भव प्रतीत होता है कि, वाक्य के 'गुण' पर विना निर्भर किए, विधेय के अंश का भी स्पष्ट उल्लेख कर सकते हैं। इसी विचार से प्रेरित हो प्रसिद्ध तर्कशास्त्री सर विलियम हैमिल्टन ने वाक्य के आठ रूपों की स्थापना की है—

	संकेत
१. सभी 'क' सभी 'ख' हैं,	'आ-वि-आ'
२. सभी 'क' कुछ 'ख' हैं,	'आ-वि-ई'
३. कुछ 'क' सभी 'ख' हैं,	'ई-वि-आ'
४. कुछ 'क' कुछ 'ख' हैं,	'ई-वि-ई'
५. कोई 'क' कोई 'ख' नहीं है,	'आ-नि-आ'
६. कोई 'क' कुछ 'ख' नहीं है,	'आ-नि-ई'
७. कुछ 'क' कोई 'ख' नहीं है,	'ई-नि-आ'
८. कुछ 'क' कुछ 'ख' नहीं हैं।	'ई-नि-ई'

इनके वास्तविक उदाहरण हो सकते हैं—

१. सभी 'त्रिभुज' सभी 'तीन भुजाओं से घिरे क्षेत्र' हैं,
२. सभी 'घोड़े' कुछ 'पशु' हैं,
३. कुछ 'पशु' सभी 'घोड़े' हैं,
४. कुछ 'भारतीय' कुछ 'कवि' हैं,
५. कोई 'हब्शी' कोई 'गोरा' नहीं है,
६. कोई 'मनुष्य' कुछ 'प्राणी' नहीं है,
७. कुछ 'मनुष्य' कोई 'कवि' नहीं है,
८. कुछ 'मनुष्य' कुछ 'कवि' नहीं हैं।

---

[1] Quantity.

हैमिल्टन ने वाक्य के इन आठ रूपों के जो संकेत—आ-वि-आ, आ-वि-ई इत्यादि—निश्चित किए हैं, उनमें 'आ' का अर्थ है सर्वांशी, 'ई' का असर्वांशी, 'वि' का विधानात्मक, और 'नि' का निषेधात्मक। इस तरह, 'आ-वि-आ' का अर्थ हुआ कि वह विधानात्मक वाक्य जिसके दोनों पद सर्वांशी हैं, इत्यादि।

आर्चबिशप थोमसन् ने वाक्य के इन आठ रूपों के संकेत निम्न प्रकार निश्चित किए हैं, जिनका प्रयोग तर्कशास्त्र के पुस्तकों में अधिक प्रचलित हो गया है—

आ-वि-आ = U। आ-वि-ई = A। ई-वि-आ = Y। ई-वि-ई = I। आ-नि-आ = E। आ-नि-ई = N। ई-नि-आ = O। ई-नि-ई = W।

बाद में, यह विचार कर कि निषेधात्मक वाक्य के विधेय-पद कभी असर्वांशी नहीं होते, थोमसन् ने स्वयं N और W रूपों को अयुक्त बताया।

समीक्षा

यदि सभी वाक्यों के विधेय-पद सर्वथा व्यक्तिबोध को ही सूचित करते तो अलबत्ता हैमिल्टन का यह विभाजन तर्कशास्त्र के लिए उपयोगी होता। किंतु ऐसी बात नहीं है। विधानात्मक वाक्यों में, कम से कम, विधेय-पद को धर्म-बोध में ही समझना अधिक स्वाभाविक मालूम होता है। सभी टोपियाँ लाल हैं; कुछ टोपियाँ लाल हैं—इन वाक्यों से ऐसा समझना निरी कष्ट-कल्पना है कि संसार के जितने लाल पदार्थ हैं उनमें सभी या कुछ टोपियाँ भी सम्मिलित हैं। टोपियों से इतर किन्हीं अन्य लाल पदार्थों की बात मन में भी नहीं आती। यहाँ, यही ख्याल आता है कि सभी टोपियों का रंग एक यही है। अतः, वाक्य के विधेय-पद के विस्तार को निश्चित करने का यह प्रयास निरर्थक है।

इस प्रयास पर दूसरी बड़ी आपत्ति यह है कि इसके रूप बात को स्पष्ट करने के बदले उसे और भी भ्रामक बना देते हैं। 'आ-वि-ई' का

उदाहरण है—सभी 'घोड़े' कुछ 'पशु' हैं। यहाँ, 'कुछ पशु' से क्या समझना है ? बैल भी, या बन्दर भी तो 'कुछ पशु' कहे जा सकते हैं। तब, क्या उस वाक्य का यह अर्थ हो सकता है कि—सभी घोड़े बैल या बन्दर हैं ?

एक और दूसरी आपत्ति यह है कि इसके कुछ रूप एक स्वतन्त्र वाक्य नहीं है, किन्तु उनमें दो वाक्यों की खिचड़ी हो गई है। 'आ-वि-आ' का रूप है—सभी 'क' सभी 'ख' हैं। यथार्थतः इसमें दो वाक्यों की खिचड़ी हो गई है—सभी 'क' 'ख' हैं, + सभी 'ख' 'क' हैं। ऐसे खिचड़ी वाक्यों से तर्कशास्त्र की कठिनाई और भी बढ़ जाती है।

अतः, वाक्य के विधेय-पद के विस्तार का निश्चय उसके गुण के आधार पर ही किया जा सकता है। यह कि, विधानात्मक वाक्यों के विधेय-पद असर्वांशी होते हैं, और निषेधात्मक वाक्यों के सर्वांशी। इस दृष्टि से वाक्य के चार ही रूप होंगे—आ, ई, ए, और ओ।

§ ३—वाक्यों का चित्रीकरण[1]

वाक्य को चक्रों में व्यक्त करके रखने का उद्देश्य केवल यह है कि उद्देश और विधेय का परस्पर सम्बन्ध चित्र में आँखों से देख कर तुरत समझ लिया जा सके। प्रायः, वह बात जो बहुत कहने से भी साफ नहीं होती चित्र में प्रकट करके रखने से झट समझ में आ जाती है। प्रस्तुत प्रयास का यही उद्देश्य है।

इसमें, दोनों पदों के लिए दो चक्र बनाते हैं, और उन्हें इस प्रकार एक दूसरे पर या अलग अलग रखते हैं जिससे यह पता लगे कि वे एक दूसरे में कितने अंश से युक्त हैं, और कितने अंश से नहीं। आ-वि-आ, आ-वि-ई, आ-नि-आ, ई-वि-आ, ई-वि-ई, तथा ई-नि-आ, इन छः वाक्यों के चित्र निम्न प्रकार होंगे—

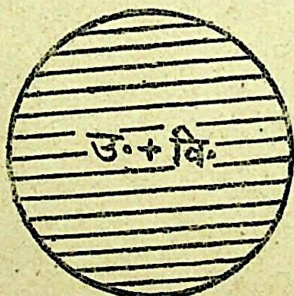
---

[1] युलर की चित्रीकरण-विधि, देखिए परिशिष्ट

(वाक्य में उद्देश का जो अंश अभिप्रेत है वह काला चिह्नित कर दिया गया है)

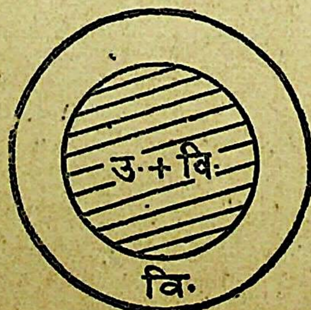
(१) 'आ' = सामान्य विधि,

(क) आ-वि-आ = समव्याप्तिक



इसमें उद्देश और विधेय के चक्र एक दूसरे को पूरा पूरा छाप लेते हैं। यह चित्र इस प्रकार के वाक्यों का सूचक है—'एवरेष्ट' 'सर्वोच्च शिखर' है, 'इलाहाबाद' 'प्रयाग' है, सभी 'त्रिभुज' 'तीन भुजाओं से घिरे क्षेत्र' हैं।

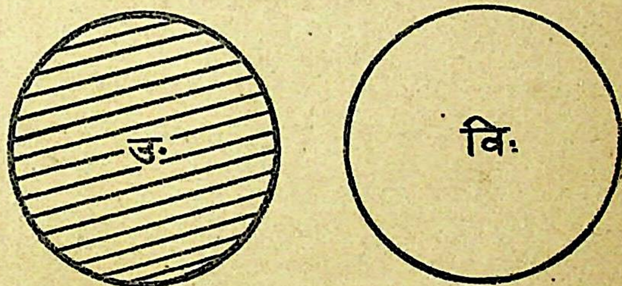
(ख) आ-वि-ई = विषमव्याप्तिक



इस चित्र में विधेय के पेट में उद्देश का पूरा चक्र चला आया है। यह चित्र इस प्रकार के वाक्यों का सूचक है—सभी 'घोड़े' 'पशु' हैं, सभी

'मनुष्य' 'मरणशील' हैं, सभी 'पंजाबी' 'भारतीय' हैं। इन वाक्यों में विधेय 'जाति' है और उद्देश 'उपजाति'।

(२) 'ए'=सामान्य निषेध, आ-नि-आ



इस वाक्य में उद्देश का चक्र विधेय के चक्र से एकदम अलग है। किसी अंश में भी दोनों नहीं मिलते। यह चित्र इस प्रकार के वाक्यों का सूचक है— कोई 'मनुष्य' 'अमर' नहीं है; कोई 'हब्शी' 'गोरा' नहीं है; 'मोहन' 'बीमार' नहीं हैं; 'यह' 'सुन्दर' नहीं है; कोई 'लड़का, मोहन को छोड़' 'गंदा' नहीं है।

(३) 'ई'=विशेष विधि

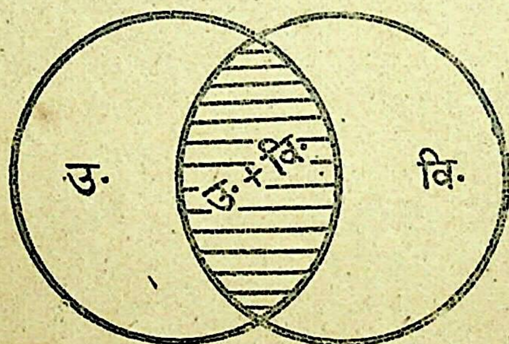
(क) ई-वि-आ



इस चित्र में उद्देश के पेट में विधेय का रा चक्र चला आया है। यह

चित्र इस प्रकार के वाक्यों का सूचक है—कुछ 'पशु' 'घोड़े' हैं; कुछ 'भारतीय' 'पंजाबी' हैं। इन वाक्यों में उद्देश 'जाति' है और विधेय 'उपजाति'।

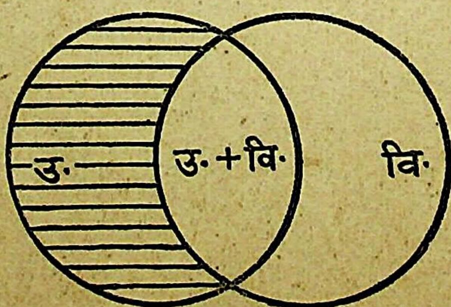
(ख) ई-वि-ई



इस चित्र में उद्देश का एक अंश विधेय के एक अंश से मिला है। यही अंश वाक्य के निर्देश को सूचित करता है। यह चित्र इस प्रकार के वाक्यों का सूचक है—कुछ 'पंजाबी' 'वीर लड़ाकू' हैं; कुछ 'भारतीय' 'गोरे' हैं। इन वाक्यों में उद्देश 'उपजाति' है और विधेय 'जाति'।

(४) 'ओ' विशेष निषेध

ई-नि-ओ



इस चित्र में इस बात पर ध्यान देना है कि विधेय का चक्र उद्देश के भीतर एक ही अंश में अन्तर्गत है। उद्देश का बचा हुआ अंश विधेय की परिधि से एकदम बाहर है। यह वाक्य उद्देश के उसी बचे हुए अंश को निर्देश करता है जो विधेय के पूरे चक्र से बाहर है। यह चित्र इस प्रकार के वाक्यों का सूचक है—कुछ 'भारतीय' 'पंजाबी' नहीं हैं; कुछ 'पशु' 'घोड़े' नहीं हैं; कुछ 'पंजाबी' 'वीर लड़ाकू' नहीं हैं।

§ ४—वाक्यों के चित्रीकरण की समीक्षा

हमने अभी देखा कि इस चित्रीकरण से वाक्य में उद्देश तथा विधेय के विस्तार और उनके परस्पर सम्बन्ध को समझने में आसानी होती है। किन्तु फिर भी, यहाँ प्रश्न होता है कि क्या सभी वाक्यों के उद्देश और विधेय दोनों व्यक्तिबोध के ही सूचक होते हैं?

सभी 'पंजाबी' 'भारतीय' हैं; कोई 'घोड़ा' 'गाय' नहीं है—इन जैसे वाक्यों में कह सकते हैं कि इनके दोनों पद अपने अपने व्यक्तिबोध में ही समझे जाने चाहिए। इन वाक्यों को ऊपर की पद्धति से बड़ी आसानी से दिखा सकते हैं, क्योंकि इनके दोनों पदों के विस्तार चक्र से चित्रित कर सकते हैं।

किंतु, 'आप की बात' 'सच' नहीं है; 'कपड़े का रंग' 'गाढ़ा' है—इन जैसे वाक्यों का चित्रीकरण बड़ा कठिन है; क्योंकि इनके विधेय-पद को स्वभावबोध में ही समझा जा सकता है, व्यक्तिबोध में नहीं। इनके पदों में व्याप्य-व्यापक का सम्बन्ध नहीं है, किन्तु इनमें धर्मी और धर्म का सम्बन्ध है। इसे चित्र से नहीं प्रकट कर सकते।

§ ५—भेद-सूचक वर्ग[१]

वे दो वाक्य एक दूसरे के भिन्न कहे जाते हैं जिनके उद्देश-पद और

---

[१] The Square of Opposition.

विधेय-पद समान होते हुए भी उनके 'गुण', या 'अंश', या दोनों समान न हों। 'आ', 'ए', 'ई' और 'ओ'—इन चार वाक्यों में, दो दो को ले कर देखें तो चार प्रकार के सम्बन्ध सिद्ध होंगे।

(१) दो वाक्य ऐसे हो सकते हैं कि उनमें एक के सत्य होने से दूसरा झूठ, और एक के झूठ होने से दूसरा सत्य ठहरता हो। न तो दोनों का सत्य होना सम्भव हो, और न दोनों का झूठ होना। वाक्यों के परस्पर इस सम्बन्ध को अत्यन्त विरोध का भेद[1] कहते हैं। यह सम्बन्ध 'आ' और 'ओ' वाक्यों में, तथा 'ए' और 'ई' वाक्यों में प्राप्त है।

जैसे, 'सभी मनुष्य मरणशील हैं', और 'कुछ मनुष्य मरणशील नहीं हैं'—इन दो वाक्यों में यह सम्बन्ध है। ये दोनों सत्य भी नहीं हो सकते, और दोनों झूठ भी नहीं हो सकते। दोनों में एक अवश्य सत्य होगा, और एक अवश्य झूठ। इसी तरह, 'कोई मनुष्य मरणशील नहीं है', और 'कुछ मनुष्य मरणशील हैं'—इन दो वाक्यों में भी यही सम्बन्ध है।[2]

(२) दो वाक्य ऐसे हैं कि वे दोनों झूठ तो हो सकते हैं, किन्तु दोनों सत्य नहीं हो सकते। वाक्यों के परस्पर इस सम्बन्ध को भेदकता का भेद[3] कहते हैं। वे वाक्य एक दूसरे के 'भेदक' कहे जाते हैं। यह सम्बन्ध 'आ' और 'ए' वाक्यों में प्राप्त है।

जैसे, 'सभी मनुष्य कवि हैं', और 'कोई मनुष्य कवि नहीं है'—इन दो वाक्यों में यही सम्बन्ध है। ये दोनों वाक्य झूठ तो हो सकते हैं, किंतु दोनों सत्य नहीं हो सकते।

---

[1] Contradictory Opposition. [2] देखो पृ० ९८
[3] Contrariety or Contrary Opposition.

(३) दो वाक्य ऐसे हैं कि वे दोनों सत्य तो हो सकते हैं, किंतु दोनों झूठ नहीं हो सकते। वाक्यों के परस्पर इस सम्बन्ध को उपभेदकता का भेद[1] कहते हैं। वे वाक्य एक दूसरे के 'उपभेदक' कहे जाते हैं। यह सम्बन्ध 'ई' और 'ओ' वाक्यों में प्राप्त है।

जैसे, 'कुछ मनुष्य कवि हैं,' और 'कुछ मनुष्य कवि नहीं हैं'—इन दो वाक्यों में यही सम्बन्ध है। ये दोनों वाक्य सत्य हो सकते हैं, किंतु दोनों झूठ नहीं हो सकते।

(४) दो दो वाक्य ऐसे हैं कि उनमें पहले के सत्य होने से दूसरा भी सत्य, और दूसरे के झूठ होने से पहला भी झूठ ठहरता है। वाक्यों के परस्पर इस सम्बन्ध को समावेशता का भेद[2] कहते हैं। इनमें पहला वाक्य 'समावेशक', और दूसरा 'समाविष्ट' कहा जाता है। यह सम्बन्ध 'आ' और 'ई' वाक्यों में, तथा 'ए' और 'ओ' वाक्यों में प्राप्त है।

जैसे, 'सभी मनुष्य कवि हैं' और 'कुछ मनुष्य कवि हैं'—इन दो वाक्यों में यही सम्बन्ध है। यदि पहला सत्य हो तो दूसरा अवश्य सत्य होगा। और, यदि दूसरा झूठ है तो पहला भी सत्य नहीं हो सकता। यही सम्बन्ध इन दो वाक्यों में भी है—'कोई मनुष्य कवि नहीं है' और 'कुछ मनुष्य कवि नहीं हैं'।

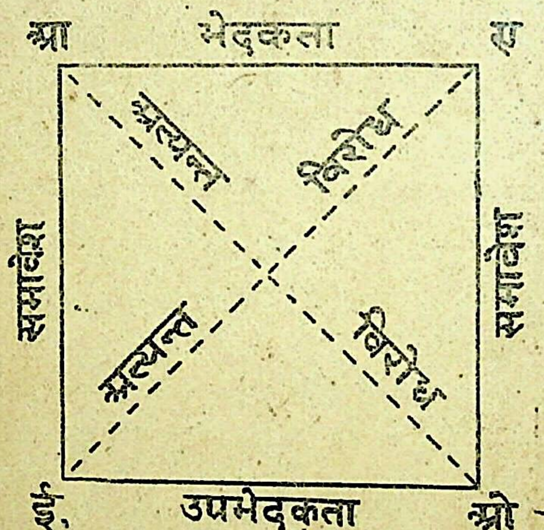
इन चार सम्बन्धों को इस चित्र से सूचित करते हैं, जिसे भेद-सूचक वर्ग[3] कहते हैं—

---

[1] Sub-contrariety or Sub-contrary Opposition.

[2] Sub alternation,

[3] Square of opposition.



इस अध्ययन से दो लाभ हैं—(१) इससे किन्हीं दो वाक्यों के बीच का सम्बन्ध झट समझ में आ जाता है; और (२) समान पदों वाले किन्हीं दो वाक्यों में एक का सत्यासत्य जान कर दूसरे का भी सत्यासत्य निश्चय पूर्वक जान सकते हैं। दूसरी बात के लिए निम्न तालिका सहायक होगी—

	आ	ए	ई	ओ
(१)	स	झू	स	झू
(२)	झू	स	झू	स
(३)	संदिग्ध	झू	स	संदिग्ध
(४)	झू	संदिग्ध	संदिग्ध	स

'आ' वाक्य के सत्य होने से शेष तीन वाक्यों में कौन सत्य होगा और कौन झूठ यह पहली पंक्ति (१) सूचित करता है; यह बात इससे प्रकट होती है कि बड़ा 'स' अक्षर 'आ' वाक्य के नीचे इसी पंक्ति में है। इसी तरह, जिस वाक्य के झूठ होने से शेष तीनों में कौन सत्य और कौन झूठ होगा यह देखने के लिए उस पंक्ति को देखना होगा जिसमें बड़ा अक्षर 'झ' है।

आठवाँ अध्याय

अनुमान-प्रकरण

निगमन-विधि[1]

पहला भाग

अनन्तरानुमान[2]

§ १—प्राक्कथन

एक या अनेक वाक्यों के आधार पर उनके परामर्श से किसी निष्कर्ष-वाक्य पर पहुँचने की प्रक्रिया को अनुमान करना कहते हैं। जिस वाक्य या वाक्यों के आधार पर अनुमान करते हैं उन्हें 'आधार-वाक्य'[3], और उनके परामर्श से जिस वाक्य पर पहुँचते हैं उसे 'निष्कर्ष-वाक्य'[4] कहते हैं।

'कोई मनुष्य अमर नहीं है' और 'मैं मनुष्य हूँ', इन दो वाक्यों से क्या ध्वनित होता है? यह कि, 'मैं अमर नहीं हूँ'। इसी ध्वनि को परामर्श कहते हैं। अनुमान का आधार यही है। कभी कभी हम इसे ठीक न समझ सकने के कारण मिथ्या निष्कर्ष निकाल लेते हैं। 'सभी हिन्दू भारतीय हैं' और 'सभी मुसल्मान भारतीय हैं'—इन दो वाक्यों से यदि यह परामर्श ग्रहण कर लें कि इसलिए 'सभी मुसल्मान हिन्दू हैं', तो

---

[1] Deduction. [2] Immediate Inference.
[3] Premise. [4] Conclusion.

यह अनर्थ होगा। प्रस्तुत प्रकरण में हम यही सविस्तार अध्ययन करेंगे कि सच्चे परामर्श के स्वरूप क्या हैं, उनके नियम क्या क्या हैं, तथा किस तरह उन्हें ठीक न समझ सकने के कारण गलतियाँ हो जाती हैं।

ऊपर देख चुके हैं कि अनुमान[1] की विधियाँ दो हैं—निगमन-विधि[2] और व्याप्ति-विधि[3]। पहली विधि में, व्यापक वाक्य या वाक्यों के आधार पर उतने ही या उतने से कम व्यापक निष्कर्ष निकालते हैं। 'सभी इङ्गलैण्ड-निवासी अंगरेज हैं', यह एक व्यापक वाक्य है। इससे यदि यह निष्कर्ष निकालें कि, इसलिए 'सभी अंगरेज इङ्गलैण्ड-निवासी हैं' तो देखेंगे कि दोनों वाक्यों की व्यापकता समान है। किंतु यदि 'सभी घोड़े पशु हैं' इस वाक्य से यह निष्कर्ष निकालें कि इसलिए 'कुछ पशु घोड़े हैं' तो देखेंगे कि इस वाक्य की व्यापकता आधार-वाक्य की व्यापकता से कम है। निगमन-विधि में निष्कर्ष-वाक्य की व्यापकता आधार-वाक्य की व्यापकता से कम होती है, बराबर भी हो सकती है, किंतु किसी भी अवस्था में अधिक नहीं। यदि मुझे दस ही रुपये प्राप्त हैं, तो मैं उससे कम ही खर्च करूँगा, पूरे का पूरा भी खर्च कर सकता हूँ, किंतु उससे कुछ भी अधिक नहीं।

एक या अनेक बातों के आधार पर सामान्य का ज्ञान प्राप्त करने की विधि 'व्याप्ति-विधि' है। वैद्य अनेक रोगियों पर किसी नये औषधि का प्रयोग करके सामान्य ज्ञान प्राप्त कर लेता है कि अमुक रोग से ग्रस्त सभी रोगियों को यह औषधि लाभ-प्रद है। इस विधि का अध्ययन पुस्तक के दूसरे खण्ड में करेंगे।

इस खण्ड के शेष भागों में 'निगमन-विधि' के अनुमान पर ही विचार होगा। निगमन-विधि भी दो प्रकार के हैं—'अनन्तरानुमान'[4] और 'परंपरानुमान'[5]।

---

[1] Inference. [2] Deduction. [3] Induction.
[4] Immediate Inference. [5] Mediate Inference.

एक ही वाक्य के आधार पर निष्कर्ष निकालने की प्रक्रिया को अनन्तरानुमान कहते हैं। इस प्रक्रिया के निष्कर्ष-वाक्य में उद्देश और विधेय में जो सम्बन्ध स्थापित किया जाता है उसका आधार आधार-वाक्य में उनका जो परस्पर सम्बन्ध है उसे छोड़ दूसरा कुछ नहीं है। 'सभी घोड़े पशु हैं', इस वाक्य से अनन्तरानुमान करते हैं कि—'कुछ पशु घोड़े हैं' या 'कोई घोड़े अ-पशु नहीं हैं'। इन निष्कर्ष-वाक्यों[1] में 'घोड़े' और 'पशु' में जो सम्बन्ध स्थापित किया गया है उसका आधार आधार-वाक्य[2] में उनका जो साक्षात् सम्बन्ध है वही है। यहाँ, आधार-वाक्य में ही निष्कर्ष-वाक्य के पदों के बीच सीधा कोई न कोई सम्बन्ध स्थापित रहता है। उसी सम्बन्ध के आधार पर उन्हीं के बीच दूसरे सम्बन्ध का अनुमान किया जाता है।

दो, या अधिक वाक्यों के आधार पर निष्कर्ष निकालने की प्रक्रिया को 'परंपरानुमान' कहते हैं। इस प्रक्रिया में निष्कर्ष-वाक्य के पदों के बीच आधार-वाक्यों में सीधा = अनन्तर सम्बन्ध स्थापित नहीं रहता। किंतु, उन दोनों का सीधा सम्बन्ध एक तीसरे पद से रहता है। इसी के आधार पर निष्कर्ष-वाक्य में उन पदों के बीच कोई सम्बन्ध स्थापित किया जाता है।

निष्कर्ष-वाक्य के उद्देश को 'उ', तथा विधेय को 'वि' संकेत से व्यक्त करते हैं। आधार-वाक्यों में उनका अलग अलग सीधा सम्बन्ध जिस तीसरे पद के साथ स्थापित रहता है उसे हेतु-पद[3] कहते हैं, क्योंकि निष्कर्ष-वाक्य में 'उ' और 'वि' के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का वही 'हेतु' होता है। इसे 'उभय-सम्बद्ध पद' भी कहते हैं, क्योंकि इसका 'उ' और 'वि' दोनों से अलग अलग सीधा सम्बन्ध है। इसे 'माध्यम-

---

[1] Conclusion. [2] Premise.
[3] Middle Term.

पद' भी कहते हैं, क्योंकि यही 'उ' और 'वि' में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने का माध्यम है। इसे 'घटक-पद', तथा 'परिचायक-पद' भी कह सकते हैं, क्योंकि यही 'उ' को 'वि' के साथ मिला देता है, उसका उससे परिचय करा देता है। जैसे—

सभी 'हे' 'वि' हैं,
सभी 'उ' 'हे' हैं,
∴ सभी 'उ' 'वि' हैं।[1]

वास्तविक उदाहरण में—

सभी 'मनुष्य' 'मरणशील' हैं,
सभी 'योगी' 'मनुष्य' हैं,
∴ सभी 'योगी' 'मरणशील' हैं।

यहाँ, आधार-वाक्यों में 'योगी' और 'मरणशील' पदों में सीधा = अनन्तर सम्बन्ध नहीं है। उन दोनों का अलग अलग सीधा सम्बन्ध एक तीसरे पद 'मनुष्य' से है। उसी के आधार पर निष्कर्ष-वाक्य में 'योगी' और 'मरणशील' के बीच सम्बन्ध सिद्ध हुआ है।

क्योंकि इस प्रक्रिया में 'उ' और 'वि' के बीच एक तीसरे पद—हेतु—के माध्यम से सम्बन्ध सिद्ध किया जाता है, इसलिए इसे परंपरानुमान[2] कहते हैं।

'तर्कशास्त्र' के लेखक श्री गुलाबराय ने अनन्तरानुमान को "अलैंगिक या अव्यवहित अनुमान", तथा परंपरानुमान को "लैंगिक या व्यवहित अनुमान" कहा है। यह ठीक नहीं है। लिंग—धूम्र—के दर्शन से

---

[1] All M is P.
All S is M.
∴ All S is P.

[2] Mediate Inference.

अनुमान प्रारम्भ होता है, यह भारतीय न्यायशास्त्र की पद्धति है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र की पद्धति भिन्न है। इसके अनुसार 'परंपरानुमान' का 'हेतु-पद' लिङ्ग = संकेत मात्र नहीं है, किंतु यहाँ इसका सबसे महत्वपूर्ण स्थान है। इसमें वह शक्ति है जिससे वह 'उ' और 'वि' को मिला सकता है। 'परंपरानुमान' को "व्यवहित अनुमान" कहना भी ठीक नहीं। यदि हेतु-पद व्यवधान = रुकावट का काम करता तो 'उ' और 'वि' कभी मिल ही नहीं सकते। इसके विरुद्ध, हेतु-पद तो दोनों के बीच में रह कर दोनों को मिलाने वाला है।

कुछ विद्वानों के अनुसार 'परंपरानुमान' को 'सहेतुकानुमान' और 'अनन्तरानुमान' को 'अहेतुकानुमान' कहना अच्छा होगा। परंपरानुमान को तो सहेतुकानुमान मजे में कह सकते हैं; किंतु अनन्तरानुमान को अहेतुकानुमान कहना ठीक नहीं। बिना हेतु के कोई अनुमान हो ही नहीं सकता। अनन्तरानुमान में कोई 'माध्यम-पद' हेतु नहीं है, किंतु यहाँ आधार-वाक्य में पदों के बीच जो सम्बन्ध है वही हेतु है, क्योंकि इसी के आधार पर निष्कर्ष निकाला जाता है।

'अनन्तरानुमान' यह सूचित करता है कि इसके आधार-वाक्य में 'उ' और 'वि' पदों के बीच अनन्तर = सीधा सम्बन्ध है, किसी अन्यपद के माध्यम से नहीं। अंगरेजी में इसे Immediate Inference कहते हैं, जिसका शाब्दिक अर्थ भी आनन्तर्य का है।

§ २—पद-व्यत्यय[1]

'पद-व्यत्यय' अनन्तरानुमान का वह रूप है जिसमें आधार-वाक्य के उद्देश और विधेय पदों का निष्कर्ष-वाक्य में विधिवत् व्यत्यय हो जाता है।

इस अनुमान के आधार-वाक्य को व्यत्येय,[2] और निष्कर्ष-वाक्य को व्यत्यस्त[3] कहते हैं।

---

[1] Conversion. [2] Convertend. [3] Converse.

'पद-व्यत्यय' करने के नियम ये हैं—

(१) व्यत्येय-वाक्य का उद्देश व्यत्यस्त-वाक्य में विधेय, और उसका विधेय इसमें उद्देश हो जाता है।

(२) व्यत्यस्त-वाक्य का 'गुण' (= Quality) वही रहता है जो व्यत्येय-वाक्य का है।

(३) व्यत्यस्त-वाक्य में ऐसा कोई पद सर्वांशी नहीं हो सकता जो व्यत्येय-वाक्य में असर्वांशी है।

इन नियमों का प्रयोग करके देखें कि चार रूपों में वाक्य के व्यत्यय किस प्रकार होंगे—

(क) 'आ' वाक्य का व्यत्यस्त 'ए' अथवा 'ओ' वाक्य नहीं हो सकता, क्योंकि दूसरे नियम के अनुसार उसका व्यत्यस्त विधानात्मक वाक्य ही होगा। तब, यह या तो 'आ' होगा, या 'ई'। किंतु यह 'आ' नहीं हो सकता। क्यों? यदि 'आ' वाक्य का व्यत्यस्त 'आ' मानें, तो यह आपत्ति आती है कि व्यत्येय का विधेय असर्वांशी होते हुए भी व्यत्यस्त में उद्देश बन कर सर्वांशी हो जाता है। यह तीसरे नियम का उल्लंघन हुआ। अतः 'आ' वाक्य का व्यत्यस्त 'ई' वाक्य ही होगा। इसमें कोई आपत्ति नहीं आती।

हाँ, 'आ' वाक्य यदि 'समव्यासिक' हो, तो उसका व्यत्यस्त 'आ' वाक्य ही हो सकता है। जैसे, 'सभी त्रिभुज तीन-भुजाओं के क्षेत्र हैं' इस वाक्य का व्यत्यस्त होगा—'सभी तीन-भुजाओं के क्षेत्र त्रिभुज हैं'। किंतु ऐसे समव्यासिक वाक्य के उदाहरण अत्यन्त ही विरले हैं।

'आ' वाक्य के विधेय प्रायः असर्वांशी ही होते हैं। उसका व्यत्यस्त 'ई' वाक्य होगा। जैसे—

व्यत्येय— सभी 'क' 'ख' हैं, सभी 'भारतीय' 'मनुष्य' हैं

व्यत्यस्त—∴ कुछ 'ख' 'क' हैं। ∴ कुछ 'मनुष्य' 'भारतीय' हैं।

(ख) 'ए' वाक्य का व्यत्यस्त, दूसरे नियम के अनुसार, निषेधात्मक ही होगा। 'ए' वाक्य के दोनों पद सर्वांशी हैं, अतः इसके व्यत्यस्त में तीसरे नियम के भङ्ग होने का कोई भय नहीं है। इसलिए, 'ए' वाक्य का व्यत्यस्त 'ए' वाक्य ही होगा। जैसे—

व्यत्येय— कोई 'क' 'ख' नहीं है, कोई 'मनुष्य' 'अमर' नहीं है,
व्यत्यस्त—∴ कोई 'ख' 'क' नहीं है। ∴ कोई 'अमर' 'मनुष्य' नहीं है।

(ग) 'ई' वाक्य का व्यत्यस्त विधानात्मक वाक्य ही होना चाहिए। 'ई' वाक्य में कोई पद सर्वांशी नहीं है, इसलिए इसका व्यत्यस्त 'आ' नहीं हो सकता, क्योंकि 'आ' वाक्य का उद्देश सर्वांशी होता है। तब, 'ई' वाक्य का व्यत्यस्त 'ई' वाक्य ही होगा। जैसे—

व्यत्येय— कुछ 'क' 'ख' हैं, कुछ 'धातु' 'बहुमूल्य' हैं,
व्यत्यस्त—∴कुछ 'ख' 'क' हैं। ∴ कुछ 'बहुमूल्य (पदार्थ)' 'धातु' हैं।

हाँ, जिस अवस्था में 'ई' वाक्य का विधेय सर्वांशी है उसमें इसका व्यत्यस्त 'आ' भी हो सकता है [पृ० १०९। 'ई-वि-आ']। जैसे—

व्यत्येय— कुछ पशु घोड़े हैं,
व्यत्यस्त—∴सभी घोड़े पशु हैं।

किंतु अमुक 'ई' वाक्य का विधेय सर्वांशी है या नहीं यह निश्चय करने के लिए उस विषय का पूरा ज्ञान चाहिए, जिसका आश्वासन तर्कशास्त्र नहीं दे सकता। तर्कशास्त्र में तो उसी रूप की स्थापना होगी जिसका कहीं व्यभिचार न हो। अतः 'ई' का व्यत्यस्त 'ई' ही होगा।

(घ) 'ओ' वाक्य का व्यत्यस्त निषेधात्मक वाक्य ही होना चाहिए। यह 'ए' वाक्य नहीं हो सकता, क्योंकि 'ए' वाक्य में दोनों पद सर्वांशी होते हैं, और व्यत्येय 'ओ' वाक्य में एक ही पद सर्वांशी है। तब, दूसरे पद को, व्यत्येय में असर्वांशी होते हुए, व्यत्यस्त में सर्वांशी होना पड़ेगा, जो तीसरे नियम के विरुद्ध है। 'ओ' वाक्य का व्यत्यस्त 'ओ' वाक्य भी नहीं

हो सकता। इसमें यह आपत्ति आएगी कि व्यत्येय का उद्देश असर्वांशी होते हुए भी, व्यत्यस्त में विधेय बन कर सर्वांशी बन जायगा। यह तीसरे नियम का उल्लंघन होगा।

अतः, 'ओ' वाक्य का व्यत्यय किया ही नहीं जा सकता।

निचोड़ यह हुआ कि—'आ' का व्यत्यस्त 'ई', 'ए' का 'ए', और 'ई' का 'ई' होगा। किंतु, 'ओ' वाक्य का व्यत्यय होगा ही नहीं।

व्यत्यय के दो रूप

मालूम हुआ कि व्यत्यय के दो रूप हैं—एक वह जिसमें व्यत्येय और व्यत्यस्त के 'अंश' समान रहते हैं, और दूसरा वह जिसमें सामान्य व्यत्येय का व्यत्यस्त विशेष हो जाता है। पहले रूप को सम-व्यत्यय[१], और दूसरे को विषम-व्यत्यय[२] कहते हैं। 'ए', 'ई', और समव्यातिक 'आ' वाक्यों के सम-व्यत्यय होते हैं; क्योंकि उनके व्यत्यस्त के अंश व्यत्येय से भिन्न नहीं होते। विषम-व्यातिक 'आ' वाक्य का व्यत्यस्त 'ई' वाक्य होता है; यही एक 'विषम-व्यत्यय' का उदाहरण है।

निषेधमुख के व्यत्यय[3]—ऊपर देख चुके हैं कि 'ओ' वाक्य का व्यत्यय हो ही नहीं सकता। कुछ तर्कशास्त्रियों ने निषेधमुख से इसका व्यत्यय करना शक्य बताया है। वे 'ओ' वाक्य के निषेध-सूचक शब्द 'न = नहीं = अ' को विधेय-पद से संयुक्त करके वाक्य को विधानात्मक रूप दे देते हैं। इस तरह, 'ओ' वाक्य 'ई' वाक्य में परिणत हो जाता है। तब, उसका व्यत्यय मजे में कर सकते हैं। जैसे—

'ओ' वाक्य

कुछ 'क' 'ख' नहीं हैं,

= कुछ 'क' 'ख-नहीं' हैं,

---

[१]Simple Conversion. [२]Conversion per accident. [३]Conversion by Negation.

∴ कुछ 'ख-नहीं' 'क' हैं।

वास्तविक उदाहरण में—

कुछ 'मनुष्य' 'ज्ञानी' नहीं हैं,
= कुछ 'मनुष्य' 'अज्ञानी' हैं,
∴ कुछ 'अज्ञानी' 'मनुष्य' हैं।

यथार्थ में यह व्यत्यय विधिपूर्वक नहीं है। इसमें व्यत्यय के दूसरे नियम का उल्लंघन हो गया है। निषेधात्मक व्यत्येय का व्यत्यस्त विधानात्मक नहीं होना चाहिए था। फिर, यहाँ व्यत्यस्त का उद्देश व्यत्येय का विधेय न हो कर उसका 'विरुद्ध-पद' है।

सम्बन्ध-व्यत्यय[1]—यदि वाक्य के दोनों पद परस्पर सम्बद्ध हों, तो उसका व्यत्यय उसी सम्बन्ध के अनुकूल होगा। जैसे—

सोहन मोहन का पिता है,
∴ मोहन सोहन का पुत्र है।
'क' 'ख से छोटा' है
∴ 'ख' 'क से बड़ा' है।

तर्कशास्त्र के लिए ऐसे व्यत्यय का कोई महत्व नहीं है। इसकी सिद्धि के कोई रूप नहीं बनाए जा सकते। इनका आधार तो विषय का ज्ञान ही है।

§ ३—परिवर्तन[2]

'परिवर्तन' अनन्तरानुमान का वह रूप है जिसमें आधार-वाक्य के गुण[3] का परिवर्तन करके निष्कर्ष-वाक्य सिद्ध होता है।

---

[1] Inference by Converse Relation.
[2] Obversion. [3] Quality.

यदि आधार-वाक्य निषेधात्मक हो तो निष्कर्ष-वाक्य विधानात्मक, और यदि आधार-वाक्य विधानात्मक हो तो निष्कर्ष-वाक्य निषेधात्मक हो जाता है। यह अनुमान निम्न दो नियमों पर आश्रित हैं—

(१) किसी बात का विधान करना या उसके 'विरुद्ध' का निषेध करना, दोनों बराबर है। जैसे—

'क' 'ख' है = 'क' 'नहीं-ख' नहीं है।

'मनुष्य' 'ज्ञानी' है = 'मनुष्य' 'अज्ञानी' नहीं है।

'घोड़ा' 'पशु' है = 'घोड़ा' 'अ-पशु' नहीं है।

(२) किसी बात का निषेध करना, या उस बात के 'विरुद्ध' का विधान करना, दोनों बराबर है। जैसे—

'क' 'ख' नहीं है = 'क' 'नहीं-ख' है।

'मनुष्य' 'ज्ञानी' नहीं है = 'मनुष्य' 'अज्ञानी' है।

'मनुष्य' 'घोड़ा' नहीं है = 'मनुष्य' 'अ-घोड़ा' है।

विधानात्मक वाक्य का 'परिवर्तनानुमान' पहले नियम, और निषेधात्मक वाक्य का दूसरे नियम के अनुसार होता है। इसके आधार-वाक्य को परिवर्त्य[1], और निष्कर्ष-वाक्य को परिवर्तित[2] कहते हैं। इस अनुमान के नियम ये हैं—

(१) 'परिवर्त्य' का जो उद्देश है वही 'परिवर्तित' का भी उद्देश होगा।

(२) 'परिवर्तित' का विधेय 'परिवर्त्य' के विधेय का 'विरुद्ध पद' होगा।

(३) 'परिवर्तित' का गुण 'परिवर्त्य' के गुण का ठीक उलटा होगा। अर्थात्, यदि परिवर्त्य विधानात्मक हो तो उसका परिवर्तित निषेधात्मक, और यदि परिवर्त्य निषेधात्मक हो तो उसका परिवर्तित विधानात्मक होगा।

---

[1]Obvertend. [2]Obverse.

(४) 'परिवर्त्य' का जो 'अंश' है वही परिवर्तित का भी होगा। अर्थात्, यदि परिवर्त्य सामान्य है तो परिवर्तित भी सामान्य, और यदि परिवर्त्य विशेष है तो परिवर्तित भी विशेष होगा।

प्रक्रिया—किसी वाक्य को परिवर्तित करने का सीधा तरीका यह है कि उसके विधेय का विरुद्ध-पद ले लें, और उसके 'संयोजक' का 'गुण' बदल दें। जैसे—

(क) 'आ' वाक्य का 'परिवर्तित' 'ए' वाक्य होता है। जैसे—

परिवर्त्य	परिवर्तित
सभी 'क' 'ख' हैं,	∴ कोई 'क' 'अ-ख' नहीं है।
सभी 'मनुष्य' 'मरने वाले' हैं,	∴ कोई 'मनुष्य' 'नहीं-मरने-वाला' नहीं है।
सभी 'घोड़ा' 'पशु' हैं,	∴ कोई 'घोड़ा' 'अ-पशु' नहीं है।

(ख) 'ए' वाक्य का परिवर्तित 'आ' वाक्य होता है। जैसे—

परिवर्त्य	परिवर्तित
कोई 'क' 'ख' नहीं है,	∴ सभी 'क' 'नहीं-ख' हैं।
कोई 'मनुष्य' 'ज्ञानी' नहीं है,	∴ सभी 'मनुष्य' 'अज्ञानी' हैं।
कोई 'मनुष्य' 'अमर' नहीं है,	∴ सभी 'मनुष्य' 'मरणशील' हैं।
कोई 'लड़का' 'अक्ल वाला' नहीं है,	∴ सभी 'लड़के' 'बे-अक्ल' हैं।

(ग) 'ई' वाक्य का परिवर्तित 'ओ' वाक्य होता है। जैसे—

परिवर्त्य	परिवर्तित
कुछ 'क' 'ख' हैं,	∴ कुछ 'क' 'नहीं-ख' नहीं हैं।
कुछ 'मनुष्य' 'ज्ञानी' हैं।	∴ कुछ 'मनुष्य' 'अज्ञानी' नहीं हैं।
कुछ 'लड़के' 'अक्ल वाले' हैं।	∴ कुछ 'लड़के' 'बे-अक्ल' नहीं हैं।

(घ) 'ओ' वाक्य का परिवर्तित 'ई' वाक्य होता है। जैसे—

परिवर्त्य	परिवर्तित
कुछ 'क' 'ख' नहीं हैं,	∴ कुछ 'क' 'नहीं-ख' हैं।
कुछ 'मनुष्य' 'ज्ञानी' नहीं हैं,	∴ कुछ 'मनुष्य' 'अज्ञानी' हैं।

तब, सब को एक साथ कह सकते हैं कि—'आ' का परिवर्तित 'ए', 'ए' का 'आ', 'ई' का 'ओ', तथा 'ओ' का 'ई' होता है।

वस्तुभूत परिवर्तन[1]—तर्कशास्त्री बेन इन रूपों के अलावे एक दूसरे प्रकार का 'परिवर्तन' बताता है, जो वस्तु की परीक्षा और अनुभूति से प्राप्त होता है। जैसे—

ठंड सुखद है,	∴ गर्म दुःखद है।
युद्ध अनर्थकारी है,	∴ शान्ति उन्नतिकारी है।
ज्ञान प्रकाश-स्वरूप है,	∴ अज्ञान अंधकार-स्वरूप है।
मित्र प्रिय होता है,	∴ शत्रु अप्रिय होता है।

बेन महाशय स्वयं इस प्रकार के 'परिवर्तन' को ऊपर से सर्वथा भिन्न मानते हैं। यहाँ, 'परिवर्तन' के किसी भी नियम का पालन नहीं किया गया है। पहला नियम यह था कि, परिवर्तित का उद्देश वही रहता है जो परिवर्त्य का है। किंतु, यहाँ वह उसका विरुद्ध-पद है। फिर, एक मुख्य नियम यह था कि परिवर्तित का गुण परिवर्त्य से उलटा हो जाता है; किंतु यहाँ दोनों का गुण एक ही है। इन अनुमानों का आधार वस्तुभूत की परीक्षा और अनुभूति है। उनके रूप निश्चय नहीं किए जा सकते। अतः, वे तर्कशास्त्र के अनुमान की कोटि में नहीं आते।

§ ४—परिवर्तित-व्यत्यय[2]

'परिवर्तित-व्यत्यय' अनन्तरानुमान का वह रूप है जिसमें निष्कर्ष-वाक्य का उद्देश आधार-वाक्य के विधेय का विरुद्ध-पद हो।

---

[1] Material Obversion. [2] Contraposition.

इस अनुमान के आधारवाक्य को 'परिवर्तितव्यत्येय'[१], और निष्कर्ष-वाक्य को 'परिवर्तितव्यत्यस्त'[२] कहते हैं।

इस अनुमान की प्रक्रिया के नियम ये हैं—

(१) निष्कर्ष-वाक्य का उद्देश आधार-वाक्य के विधेय का विरुद्ध-पद होता है।

(२) निष्कर्ष-वाक्य का विधेय आधार-वाक्य का उद्देश-पद होता है।

(३) निष्कर्ष-वाक्य का गुण[३] आधार-वाक्य के गुण का उलटा हो जाता है। अर्थात्, यदि आधार-वाक्य विधानात्मक हो तो निष्कर्ष-वाक्य निषेधात्मक, और यदि आधार-वाक्य निषेधात्मक हो तो निष्कर्ष-वाक्य विधानात्मक हो जाता है।

(४) जो पद आधार-वाक्य में असर्वांशी है वह निष्कर्ष-वाक्य में सर्वांशी नहीं हो सकता।

प्रक्रिया—'परिवर्तित-व्यत्यय' करने का सीधा तरीका यह है कि पहले वाक्य का 'परिवर्तन' करें, और फिर उस निष्कर्ष का 'व्यत्यय' कर लें। इस तरह, यह प्रक्रिया 'परिवर्तन' और 'व्यत्यय' दोनों का संयुक्त रूप है।

(क) 'आ' वाक्य का परिवर्तित-व्यत्यस्त 'ए' वाक्य होता है। जैसे—

क.		सभी 'क' 'ख' हैं,	'आ'
ख.	=	कोई 'क' 'नहीं-ख' नहीं है,	'ए'
ग.	=	कोई 'नहीं-ख' 'क' नहीं है,	'ए'

(क) आधार-वाक्य है, (ख) उसका 'परिवर्तित' रूप है, और (ग) उसका भी 'व्यत्यस्त' रूप है। यही तीसरा वाक्य 'परिवर्तित-व्यत्यस्त' हुआ, क्योंकि इसका उद्देश 'नहीं-ख' मूल आधार-वाक्य के विधेय का विरुद्ध-पद है।

---

[१] अंगरेजी में कोई नाम नहीं है

[२] Contrapositive. [३] Quality.

वास्तविक उदाहरण—

सभी 'मनुष्य' 'मरने वाले' हैं,
= कोई 'मनुष्य' 'अमर' नहीं है,
∴ कोई 'अमर' 'मनुष्य' नहीं है।

(ख) 'ए' वाक्य का परिवर्तित व्यत्यस्त 'ई' वाक्य होता है। जैसे—

कोई 'क' 'ख' नहीं है, 'ए'
= सभी 'क' 'नहीं-ख' हैं, 'आ'
∴ कुछ 'नहीं-ख' 'क' हैं, 'ई'

वास्तविक उदाहरण—

कोई 'मनुष्य' 'अमर' नहीं है,
= सभी 'मनुष्य' 'मरने वाले' हैं,
∴ कुछ 'मरने वाले' 'मनुष्य' हैं।

(ग) 'ई' वाक्य का 'परिवर्तित-व्यत्यय' नहीं होता। क्योंकि, 'ई' वाक्य का 'परिवर्तित' रूप 'ओ' होता है, और 'ओ' वाक्य का व्यत्यय नहीं होता। अतः, 'ई' वाक्य का 'परिवर्तित-व्यत्यय' नहीं हो सकता।

(घ) 'ओ' वाक्य का 'परिवर्तित-व्यत्यस्त' 'ई' वाक्य होता है। क्योंकि, 'ओ' वाक्य का 'परिवर्तित' रूप 'ई' होता है, और उसका व्यत्यस्त 'ई' वाक्य होता है। जैसे—

कुछ 'क' 'ख' नहीं हैं,
= कुछ 'क' 'नहीं-ख' हैं,
∴ कुछ 'नहीं-ख' 'क' हैं।

इस तरह, 'आ' का परिवर्तित-व्यत्यस्त 'ए', 'ए' का 'ई', तथा 'ओ' का 'ई' होता है। और, 'ई' वाक्य का परिवर्तित-व्यत्यय होता ही नहीं।

परिवर्तित-व्यत्यय सीधा सम्भव नहीं

'परिवर्तित-व्यत्यय' की प्रक्रिया में दो प्रक्रियाओं का संयोग है। 'परिवर्तन' और 'व्यत्यय', इन दोनों का बिना क्रमशः प्रयोग किए, यदि हम इसके नियमों को सीधा लगा कर वाक्य से निष्कर्ष निकालना चाहें तो ठीक नहीं।

नियमों को सीधे लगा कर देखें—

'आ'—सभी 'मनुष्य' 'प्राणी' हैं,
∴ कोई 'अ-प्राणी' 'मनुष्य' नहीं है।
'ओ'—कुछ 'मनुष्य' 'ज्ञानी' नहीं हैं,
∴ कुछ 'अज्ञानी' 'मनुष्य' हैं।

इन दोनों का निष्कर्ष ठीक निकला। सभी नियमों का भी पालन हो गया। आधार-वाक्य के विधेय के विरुद्ध-पद को निष्कर्ष-वाक्य में उद्देश बनाया। आधार-वाक्य के उद्देश्य को निष्कर्ष-वाक्य में विधेय बनाया। उनके 'गुण' को भी बदल दिया। 'आ' वाक्य का विधेय-पद निष्कर्ष में आ कर सर्वांशी हो गया है, ऐसा संदेह भी नहीं होना चाहिए। क्योंकि, आधार-वाक्य का विधेय-पद 'प्राणी' निष्कर्ष-वाक्य के उद्देश-पद 'अप्राणी' से भिन्न है। इस तरह, परिवर्तित-व्यत्यय के नियमों को सीधे लगा कर, पहले 'परिवर्तन' और फिर 'व्यत्यय' करने की लम्बी प्रक्रिया से बिना गुजरे, 'आ' और 'ओ' वाक्यों के 'परिवर्तित-व्यत्यस्त' निकाले जा सकते हैं। तब, क्या वह लम्बी प्रक्रिया निरर्थक है? नहीं, इस प्रक्रिया की तर्कशास्त्रीय आवश्यकता तब प्रगट होती है जब हम 'ए' वाक्य पर नियमों को सीधे लगा कर उसका 'परिवर्तित-व्यत्यस्त' निकालने का प्रयत्न करते हैं। जैसे—

'ए'—कोई 'कुत्ता' 'बिल्ली' नहीं है,
∴ सभी 'गैर-बिल्ली' 'कुत्ते' हैं।

इस उदाहरण में 'ए' वाक्य पर सभी नियमों को सीधे लागू कर निष्कर्ष निकाला है। आधार-वाक्य के विधेय 'बिल्ली' के विरुद्ध-पद 'गैर-बिल्ली' को निष्कर्ष-वाक्य में उद्देश बनाया। आधार-वाक्य के उद्देश 'कुत्ता' को निष्कर्ष-वाक्य में विधेय बनाया। आधार-वाक्य निषेधात्मक था, अतः निष्कर्ष-वाक्य को विधानात्मक बनाया। आधार-वाक्य के किसी असर्वांशी पद के निष्कर्ष-वाक्य में सर्वांशी होने का भी दोष नहीं है।

सब नियमों का पालन होने पर भी निष्कर्ष ठीक नहीं निकला। "सभी गैर-बिल्ली" कुत्ते नहीं हैं। मनुष्य, गाय, घोड़ा सभी 'गैर-बिल्ली' हैं। इसलिए, कुछ ही 'गैर-बिल्ली' कुत्ते हो सकते हैं, सभी नहीं।

'परिवर्तन' और 'व्यत्यय' की संयुक्त प्रक्रिया से ही निष्कर्ष निश्चय-पूर्वक ठीक होता है। जैसे—

ए—कोई 'कुत्ता' 'बिल्ली' नहीं है,

= सभी 'कुत्ता' 'गैर-बिल्ली' हैं,

∴ कुछ 'गैर-बिल्ली' 'कुत्ता' हैं,

अतः, 'परिवर्तित-व्यत्यय' अनन्तरानुमान का कोई शुद्ध रूप नहीं, किंतु 'परिवर्तन' और 'व्यत्यय' का मिश्र रूप ही है।

§ ५—विपर्यय[१]

'विपर्यय' अनन्तरानुमान का वह रूप है जिसमें निष्कर्ष-वाक्य का उद्देश आधार-वाक्य के उद्देश का विरुद्ध-पद होता है।

इसके आधार-वाक्य को विपर्येय[२], और निष्कर्ष-वाक्य को विपर्यस्त[३] कहते हैं। 'विपर्यय' दो प्रकार का होता है—'पूर्ण-विपर्यय'[४] और 'अपूर्ण-विपर्यय'[५]। 'पूर्ण-विपर्यय' में 'विपर्यस्त' का विधेय भी 'विपर्येय' के विधेय

---

[१] Inversion. [२] Invertend. [३] Inverse.
[४] Complete inversion. [५] Partial inversion.

का विरुद्ध-पद होता है। किंतु, 'अपूर्ण-विपर्यय' में 'विपर्यय' का विधेय उसी रूप में 'विपर्यस्त' का भी विधेय होता है।

विपर्यय के नियम ये हैं—

(१) विपर्यस्त का उद्देश विपर्यय के उद्देश का विरुद्ध-पद होता है।

(२) 'पूर्ण-विपर्यय' में विपर्यस्त का विधेय भी विपर्यय के विधेय का विरुद्ध-पद होता है। किंतु, 'अपूर्ण-विपर्यय' में विपर्यस्त का विधेय वही होता है जो 'विपर्यय' का विधेय हो।

(३) 'विपर्यय' अनुमान केवल सामान्य-वाक्य का होता है, विशेष-वाक्य का नहीं। और, उसका 'विपर्यस्त' बराबर विशेष-वाक्य होता है, सामान्य नहीं।

(४) 'पूर्ण-विपर्यय' में विपर्यस्त का 'गुण' विपर्यय के गुण के समान ही होता है। अपूर्ण-विपर्यय में विपर्यस्त का गुण विपर्यय के गुण का उलटा होता है।

प्रक्रिया—

'परिवर्तित-व्यत्यय' की तरह, 'विपर्यय' भी 'परिवर्तन' और 'व्यत्यय' का मिश्र रूप है। इसकी प्रक्रिया यह है कि, किसी एक से प्रारम्भ कर, 'परिवर्तन' और 'व्यत्यय' से लगातार वाक्य का निष्कर्ष निकालते जायँ जब तक कि निष्कर्ष-वाक्य का उद्देश आधार-वाक्य के उद्देश का विरुद्ध-पद न हो जाय।

(क) 'आ' वाक्य—'परिवर्तन' से प्रारम्भ कर इस प्रकार अपेक्षित निष्कर्ष प्राप्त किया जा सकता है—

विपर्यय— सभी 'क' 'ख' हैं,
(उसका परिवर्तित) = कोई 'क' 'नहीं-ख' नहीं है,
(उसका व्यत्यस्त) = कोई 'नहीं-ख' 'क' नहीं है,
(उसका परिवर्तित) = सभी 'नहीं-ख' 'नहीं-क' हैं,
(उसका व्यत्यस्त) ∴ कुछ 'नहीं-क' 'नहीं-ख' हैं, पूर्ण-विपर्यस्त

(उसका परिवर्तित) ∴ कुछ 'नहीं-क' 'ख' नहीं हैं। अपूर्ण-विपर्यस्त

यदि इस प्रक्रिया को 'व्यत्यय' से प्रारम्भ करें तो 'विपर्यस्त' प्राप्त होने के पूर्व ही रुक जाना पड़ेगा।

जैसे—

सभी 'क' 'ख' हैं —'आ'

कुछ 'ख' 'क' हैं —'ई'

= कुछ 'ख' 'नहीं-क' नहीं हैं —ओ

अब, इसका व्यत्यय नहीं हो सकता, क्योंकि यह 'ओ' वाक्य है।

अतः, 'आ' वाक्य का विपर्यस्त निकालने के लिए प्रक्रिया को 'परिवर्तन' से प्रारम्भ करना होगा। उसका पूर्ण विपर्यस्त 'ई' वाक्य, और अपूर्ण-विपर्यस्त 'ओ' वाक्य होता है।

(ख) 'ए' वाक्य का विपर्यस्त निकालने के लिए प्रक्रिया को 'व्यत्यय' से प्रारम्भ करना होगा। 'परिवर्तन' से प्रारम्भ करने से अपेक्षित निष्कर्ष प्राप्त करने के पूर्व ही रुक जाना पड़ता है; क्योंकि, 'ए' का परिवर्तित 'आ' हुआ, उसका व्यत्यस्त 'ई' हुआ, और उसका परिवर्तित 'ओ' हुआ, जिसका व्यत्यय नहीं हो सकता।

प्रक्रिया को व्यत्यय से प्रारम्भ कर 'ए' वाक्य का विपर्यस्त इस प्रकार निकाला जा सकता है—

विपर्यय— कोई 'क' 'ख' नहीं है, 'ए'

(उसका व्यत्यस्त) = कोई 'ख' 'क' नहीं है, 'ए'

(उसका परिवर्तित) = सभी 'ख' 'नहीं-क' हैं, 'आय'

(उसका व्यत्यस्त) ∴ कुछ 'नहीं-क' 'ख' हैं, अपूर्ण विपर्यस्त 'ई'

पूर्ण विपर्यस्त ∴ कुछ 'नहीं-क' 'नहीं-ख' नहीं हैं, (उसका परिवर्तित) 'ओ'

अतः, 'ए' वाक्य का विपर्यस्त निकालने के लिए प्रक्रिया को 'व्यत्यय'

से प्रारम्भ करना होगा। उसका पूर्ण-विपर्यस्त 'ओ' वाक्य, और अपूर्ण-विपर्यस्त 'ई' वाक्य होता है।

'ई' तथा 'ओ', इन विशेष-वाक्यों का 'विपर्यय' नहीं होता, यह तो इस अनुमान के नियमों में ही कहा जा चुका है। फिर भी, प्रक्रिया को उन पर लागू करके देख लें कि किस तरह अपेक्षित निष्कर्ष प्राप्त होने के पूर्व ही 'ओ' वाक्य के व्यत्यय की बात से बीच ही में रुक जाना पड़ता है—

(ग) 'ई' वाक्य—

'व्यत्यय' से प्रारम्भ कर

	विपर्येय—कुछ 'क' 'ख' हैं,	'ई'
(उसका व्यत्यस्त)	= कुछ 'ख' 'क' हैं,	'ई'
(उसका परिवर्तित)	= कुछ 'ख' 'नहीं-क' नहीं हैं,	'ओ'

अब, इसका व्यत्यय नहीं हो सकता।

'परिवर्तन' से प्रारम्भ कर

	विपर्येय—कुछ 'क' 'ख' हैं,	'ई'
(उसका परिवर्तित)	= कुछ 'क' 'नहीं-ख' नहीं हैं,	'ओ'

अब, इसका व्यत्यय नहीं हो सकता।

(घ) 'ओ' वाक्य—

'ओ' वाक्य का 'व्यत्यय' होता ही नहीं, इसलिए 'परिवर्तन' से प्रक्रिया को प्रारम्भ करके देखें—

	विपर्येय—कुछ 'क' 'ख' नहीं हैं,	'ओ'
(उसका परिवर्तित)	= कुछ 'क' 'नहीं-ख' हैं,	'ई'
(उसका व्यत्यस्त)	= कुछ 'नहीं-ख' 'क' हैं,	'ई'
(उसका परिवर्तित)	= कुछ 'नहीं-ख' 'नहीं-क' नहीं हैं,	'ओ'

अब, इसका व्यत्यय नहीं हो सकता।

तब, कह सकते हैं कि—

(१) विशेष-वाक्यों का विपर्यय हो ही नहीं सकता ।

(२) सामान्य-वाक्यों के पूर्ण-विपर्यस्त के 'गुण' अपने विपर्यय के समान होंगे, और उनके अपूर्ण-विपर्यस्त के 'गुण' अपने विपर्यय से ठीक उलटे होंगे : क्योंकि, 'आ' का पूर्ण विपर्यस्त 'ई', तथा 'ए' का 'ओ' है : और 'आ' का अपूर्ण-विपर्यस्त 'ओ', तथा 'ए' का 'ई' है ।

अनन्तरानुमान के यही चार—व्यत्यय, परिवर्तन, परिवर्तित-व्यत्यय, और विपर्यय—रूप मुख्य हैं । चारों के एक साथ तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए निम्न तालिका दी जाती है—

'आ' वाक्य

आधार वाक्य	सभी 'क' 'ख' हैं	सभी 'पंजाबी' 'भारतीय' हैं
१. व्यत्यय	कुछ 'ख' 'क' हैं	कुछ 'भारतीय' 'पंजाबी' हैं
२. परिवर्तन	कोई 'क' 'नहीं-ख' नहीं है	कोई 'पंजाबी' 'अभारतीय' नहीं है
३. परिवर्तित-व्यत्यय	कोई 'नहीं-ख' 'क' नहीं है	कोई 'अभारतीय' 'पंजाबी' नहीं है
४. विपर्यय	कुछ 'नहीं-क' 'नहीं-ख' हैं अथवा कुछ 'नहीं-क' 'ख' नहीं हैं	कुछ 'अपंजाबी' 'अभारतीय' हैं अथवा कुछ 'अपंजाबी' 'भारतीय' नहीं हैं

चारों वाक्यों के निष्कर्ष इन चारों अनुमानों में किस प्रकार होते हैं सो निम्न तालिका से प्रकट होगा—

आधार-वाक्य	व्यत्यस्त	परिवर्तित	परिवर्तित-व्यत्यस्त	विपर्यस्त पूर्ण अपूर्ण
'आ'	'ई'	'ए'	'ए'	'ई', 'ओ'
'ए'	'ए'	'आ'	'ई'	'ओ', 'ई'
'ई'	'ई'	'ओ'		
'ओ'		'ई'	'ई'	

§ ६—वाक्य के बलाबल पर अनुमान[1]

'बलाबल' की दृष्टि से वाक्य तीन प्रकार के हैं—निश्चित, प्रतिज्ञात और संदिग्ध। इनमें एक प्रकार के आधार पर दूसरे प्रकार का अनुमान किया जा सकता है। इसे 'वाक्य के बलाबल पर अनुमान' कहते हैं। यह भी अनन्तरानुमान का एक रूप है। इसके नियम ये हैं—

पहला नियम—किसी अधिक 'बल' वाले वाक्य के सत्य होने से उससे कम बल वाले वाक्य भी अवश्य सत्य होंगे, किंतु इसका प्रतिलोम नहीं।

यदि कोई 'निश्चित वाक्य' सत्य हो तो उसके 'प्रतिज्ञात' तथा 'संदिग्ध' रूप अवश्य सत्य होंगे। 'क' 'ख' अवश्य है, यदि यह वाक्य सत्य हो तो 'क' 'ख' है, और कदाचित् 'क' 'ख' है, अवश्य सत्य होंगे।

[1] Modal Consequence.

उसी तरह यदि 'क' 'ख' है, यह वाक्य सत्य हो तो उसका 'संदिग्ध रूप' कदाचित् 'क' 'ख' है अवश्य सत्य होगा। किंतु इस नियम का प्रतिलोम ठीक नहीं उतरता। 'संदिग्ध' वाक्य के सत्य होने से 'प्रतिज्ञात' या 'निश्चित' वाक्य की सत्यता सिद्ध नहीं हो सकती।

दूसरा नियम—किसी कम 'बल' वाले वाक्य के असत्य होने से उससे अधिक बल वाले वाक्य भी असत्य होंगे, किंतु इसका प्रतिलोम नहीं।

यदि कोई 'संदिग्ध-वाक्य' असत्य हो तो उसके 'प्रतिज्ञात' तथा 'निश्चित' रूप भी अवश्य असत्य होंगे। अथवा, यदि कोई 'प्रतिज्ञात वाक्य' असत्य हो तो उसका 'निश्चित' रूप भी अवश्य असत्य होगा। जैसे, कदाचित् 'क' 'ख' है, इस वाक्य में सत्यता यदि नहीं है तो 'क' 'ख' है या 'क' 'ख' अवश्य है, इन वाक्यों का असत्य होना जरूर है। उसी तरह, यदि 'क' 'ख' है, यह वाक्य असत्य है तो 'क' 'ख' अवश्य है यह वाक्य भी अवश्य असत्य होगा। किंतु, इस नियम का प्रतिलोम ठीक नहीं उतरता। 'निश्चित' वाक्य की असत्यता से 'प्रतिज्ञात' या 'संदिग्ध' की, अथवा 'प्रतिज्ञात' की असत्यता से 'संदिग्ध' की असत्यता सिद्ध नहीं होगी।

§ ७—वाक्य के सम्बन्ध का परस्पर रूपान्तर[1]

ऊपर देख चुके हैं कि सम्बन्ध की दृष्टि से वाक्य तीन प्रकार के होते हैं—निरपेक्ष, हेतुफलाश्रित और वैकल्पिक। इनमें एक प्रकार के वाक्य को दूसरे प्रकार के वाक्य में रूपान्तर किया जा सकता है। इसे 'वाक्य के सम्बन्ध का परस्पर रूपान्तर' कहते हैं। यह भी अनन्तरानुमान का एक रूप है।

वाक्य के सम्बन्ध का परस्पर रूपान्तर चार प्रकार से हो सकता है—

(१) निरपेक्ष वाक्य को हेतुफलाश्रित वाक्य बनाना।

(२) हेतुफलाश्रित वाक्य को निरपेक्ष वाक्य बनाना।

(३) वैकल्पिक वाक्य के कई हेतुफलाश्रित वाक्य बनाना।

---

[1] Change of Relation.

(४) कई हेतुफलाश्रित वाक्यों से एक वैकल्पिक वाक्य बनाना।

* * * *

निरपेक्ष और हेतुफलाश्रित वाक्यों को परस्पर रूपान्तर करने के लिए इन बातों को ख्याल रखना जरूरी है—

(क) हेतुफलाश्रित वाक्य में 'हेतु' का स्थान वही है जो निरपेक्ष वाक्य में उद्देश का है।

(ख) हेतुफलाश्रित वाक्य में 'फल' का स्थान वही है जो निरपेक्ष वाक्य में विधेय का है।

(ग) हेतुफलाश्रित वाक्य में 'अंश' वही समझा जायगा जो उसके 'हेतु' में व्यक्त हुआ है।

(घ) हेतुफलाश्रित वाक्य का 'गुण' वही समझा जायगा जो उसके 'फल' में व्यक्त हुआ है।

(१) निरपेक्ष-से हेतुफलाश्रित

निरपेक्ष	हेतुफलाश्रित
'आ'—सभी 'क' 'ख' हैं	= यदि 'क' है तो 'ख' है
सभी मनुष्य मरणशील हैं	= यदि मनुष्य है, तो मरणशील है
'ए'—कोई 'क' 'ख' नहीं है	= यदि 'क' है, तो 'ख' नहीं है
कोई मनुष्य अमर नहीं है	= यदि मनुष्य है, तो अमर नहीं है
'ई'—कुछ 'क' 'ख' हैं	= यदि कुछ अवस्थाओं में 'क' है तो 'ख' है
कुछ मनुष्य पण्डित हैं	= यदि कुछ अवस्थाओं में मनुष्य हैं, तो पण्डित हैं।
'ओ'—कुछ 'क' 'ख' नहीं हैं	= यदि कुछ अवस्थाओं में 'क' है, तो 'ख' नहीं है
कुछ मनुष्य पण्डित नहीं हैं	= यदि कुछ अवस्थाओं में मनुष्य हैं, तो पण्डित नहीं हैं।

(२) हेतुफलाश्रित से निरपेक्ष

हेतुफलाश्रित	निरपेक्ष
'आ'—यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है	= सभी 'क के ख होने की अवस्थायें' 'ग के घ होने की अवस्थायें' हैं।
यदि अमुक प्रकार का मच्छर काटे, तो मलेरिया हो	= सभी 'अमुक प्रकार के मच्छर के काटने की अवस्थायें' 'मलेरिया होने की अवस्थायें' हैं।
'ए'—यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' नहीं है	= कोई 'क के ख होने की अवस्था' 'ग के घ होने की अवस्था' नहीं है।
यदि पानी बरसे, तो जमीन सूखी न रहे	= कोई 'पानी बरसने की अवस्था' 'जमीन सूखी रहने की अवस्था' नहीं है।
'ई'—यदि कुछ अवस्थाओं में 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है	= कुछ 'क के ख होने की अवस्थायें' 'ग के घ होने की अवस्थायें' हैं।
यदि कुछ अवस्थाओं में बीज बोया जाता है, तो वृक्ष होता है	= कुछ 'बीज बोने की अवस्थायें' 'वृक्ष होने की अवस्थायें' हैं।
'ओ'—यदि कुछ अवस्थाओं में 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' नहीं है	= कुछ 'क के ख होने की अवस्थायें' 'ग के घ होने की अवस्थायें' नहीं हैं।

यदि कुछ अवस्थाओं में बीज बोया जाता है, तो वृक्ष नहीं होता है = कुछ 'बीज बोने की अवस्थायें' 'वृक्ष होने की अवस्थायें' नहीं हैं।

(३) वैकल्पिक से हेतुफलाश्रित

वैकल्पिक वाक्य के दोनों विकल्पों में परस्पर क्या सम्बन्ध है इस विषय पर मिल और युबर्वेग दो तर्कशास्त्रियों में मतभेद है। मिल के मतानुसार वे परस्पर 'उप-भेदक'[1] हैं, जिससे उनमें एक के झूठ होने से दूसरा सत्य ठहरता है, किंतु इसका प्रतिलोम नहीं। तब, किसी 'वैकल्पिक' वाक्य से दो ही हेतुफलाश्रित वाक्य सिद्ध हो सकेंगे।

युबर्वेग के मतानुसार वे परस्पर 'विरुद्ध'[2] हैं, जिससे उनमें एक के सत्य होने से दूसरा झूठ, और एक के झूठ होने से दूसरा सत्य ठहरता है। तब, किसी वैकल्पिक वाक्य से चार हेतुफलाश्रित वाक्य सिद्ध हो सकेंगे।

[सविस्तार व्याख्या के लिए देखिए पृ० ९४, ९५]

(४) हेतुफलाश्रित से वैकल्पिक

मिल और युबर्वेग के जिन सिद्धान्तों से वैकल्पिक वाक्य से हेतुफलाश्रित वाक्यों के निकालने की विधि ऊपर हमने देखी, उन्हीं के प्रतिलोम प्रयोग से हेतुफलाश्रित वाक्यों से किसी वैकल्पिक वाक्य की रचना हो सकती है। मिल के अनुसार, जैसा हम देख चुके हैं, दो हेतुफलाश्रित वाक्यों के आधार पर ही किसी वैकल्पिक वाक्य की रचना हो सकती है। किंतु, युबर्वेग के अनुसार एक वैकल्पिक वाक्य की रचना के लिए चार हेतुफलाश्रित वाक्यों की आवश्यकता है।

---

[1] Sub-contrary. [2] Contradictory.

§ ८—विशेषण संयोगानुमान[1]

विशेषण संयोगानुमान अनन्तरानुमान का वह रूप है जिसमें किसी वाक्य के दोनों पदों के साथ समान विशेषण लगाकर निष्कर्ष निकाला जाय। जैसे—

भारतीय मनुष्य हैं, ∴ ईमानदार भारतीय ईमानदार मनुष्य हैं।

लोहा धातु है, ∴ गरम लोहा गरम धातु है।

टेबल एक सामान है, ∴ सुन्दर टेबल एक सुन्दर सामान है।

ऐसे अनुमान के लिए यह आवश्यक है कि जो विशेषण दोनों पदों के साथ लगाया जाय वह दोनों के विस्तार को समान रूप से ही सीमित करे। विशेषण के शब्द समान रहने पर भी, बहुधा वे दोनों पदों को विषम रूप से सीमित करते हैं, और निष्कर्ष ठीक नहीं होता। जैसे, 'चींटी एक जीव है', इस वाक्य से ऐसा निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि, 'एक बड़ी चींटी एक बड़ा जीव है'। चींटी कितनी भी बड़ी क्यों न हो, 'बड़ा जीव' नहीं हो सकती। एक ही शब्द 'बड़ा' चींटी के साथ कुछ दूसरा अर्थ रखता है, और जीव के साथ कुछ दूसरा; क्योंकि यह एक सापेक्ष शब्द है जो अपने अर्थ उसी के अनुपात में निर्धारित करता है जिसके साथ उसका प्रयोग हुआ हो। ऐसी अवस्थाओं में, इस विधि से प्राप्त निष्कर्ष असत्य हो नहीं, बड़े हास्यास्पद होंगे। जैसे—

गवैया आदमी है,
∴ बुरा गवैया बुरा आदमी है।

चोर आदमी है,
∴ अच्छा चोर अच्छा आदमी है। इत्यादि,

---

[1] Inference by Added Determinants.

§ ९—मिश्रप्रत्ययानुमान[1]

'मिश्रप्रत्ययानुमान' अनन्तरानुमान का वह रूप है जिसमें वाक्य के दोनों पदों को समान रूप से मिश्र बना कर निष्कर्ष निकाला जाय।

जैसे—

'घोड़ा' 'एक पशु' है,

∴ 'घोड़े का चित्र' 'एक पशु का चित्र' है।

यहाँ, निष्कर्ष-वाक्य के पद आधार-वाक्य के पदों से बिलकुल भिन्न हैं। 'घोड़ा' और 'घोड़े का चित्र' दो चीजें हैं। दोनों में समानता केवल इतनी है कि 'घोड़ा' शब्द का प्रयोग दोनों में हुआ है। किंतु, पहला एक ही 'प्रत्यय' है; और दूसरा, उसके साथ एक और मिल कर, एक 'मिश्र-प्रत्यय' है।

विशेषण संयोगानुमान और मिश्रप्रत्ययानुमान में भेद यह है कि पहले में पदों के साथ कोई समान विशेषण युक्त होता है, जो उसके विस्तार को संकीर्ण तो कर देता है, किंतु उन्हें भिन्न अर्थ का बोधक नहीं बनाता; किंतु दूसरे में पद समान प्रत्यय के साथ मिल कर भिन्न अर्थ के बोधक हो जाते हैं।

इस अनुमान में भी, नये संयुक्त होने वाले अंश यदि दोनों पदों में समान रूप से प्रयुक्त न हों तो निष्कर्ष ठीक नहीं होता। जैसे—

'जुलाहे' 'मनुष्य' हैं,

∴ 'अधिकांश जुलाहे' 'अधिकांश मनुष्य' हैं।

यह अनुमान ठीक नहीं है, क्योंकि जुलाहों की अपेक्षा सभी मनुष्यों की संख्या अत्यन्त अधिक है। चाहे कितने भी अधिक जुलाहे क्यों न हों, मनुष्य की संख्या के अनुपात में बहुत थोड़े ही होंगे।

---

[1] Inference by Complex Conception.

नवाँ अध्याय

अनुमान-प्रकरण

निगमन-विधि

दूसरा भाग

परंपरानुमान[1]

न्यायवाक्य[2]

(क. शुद्ध[3])

§ १—न्याय-वाक्य क्या है ?

'अनन्तरानुमान' की परीक्षा कर लेने के बाद, अब 'परंपरानुमान' के रूपों का अध्ययन करेंगे। ऊपर देख चुके हैं कि इसे 'परंपरानुमान' इस कारण कहते हैं कि इस प्रक्रिया में 'उ'[4] और 'वि'[5] के साथ निष्कर्ष में जो सम्बन्ध स्थापित करते हैं, उसका आधार दोनों का पृथक् पृथक् एक तीसरे पद के साथ सम्बन्ध का होना है।* यह तीसरा पद 'हेतु'[6] कहा जाता है, जिसे बराबर 'हे' संकेत से प्रकट करेंगे। इस तरह, 'परंपरा-

---

[1] Mediate Inference. [2] Syllogism. [3] Pure.
[4] S = Subject of the Conclusion = Minor Term (पक्ष)
[5] P = Predicate of the Conclusion = Major Term. (साध्य) [6] M = Middle Term. *पृ० १२०-२४

नुमान' में तीन वाक्य होते हैं—पहला वाक्य 'हे' का 'वि' के साथ सम्बन्ध दिखाता है, दूसरा वाक्य यह दिखाता है कि 'उ' भी 'हे' के साथ सम्बद्ध है, और इन दोनों के आधार पर तीसरा वाक्य निष्कर्ष दिखाता है कि 'उ' का 'वि' के साथ सम्बन्ध है। जैसे—

सभी 'हे' 'वि' हैं,
सभी 'उ' 'हे' हैं,
∴ सभी 'उ' 'वि' हैं।
सभी 'मनुष्य' 'मरणशील' हैं,
'राम' 'मनुष्य' है,
∴ 'राम' 'मरणशील' है।

'परंपरानुमान' के ये वाक्य यथार्थ में तीन नहीं हैं; किंतु सभी मिल कर एक ही 'महावाक्य' की रचना करते हैं। तीन अवयवों वाले इस महावाक्य को 'न्याय-वाक्य' कहते हैं। हमें स्मरण रखना चाहिए कि 'न्यायवाक्य' अनुमान की निगमन-विधि के परंपरानुमान का रूप है, जिसमें अधिक व्यापक आधार से कम व्यापकता का निष्कर्ष निकाला जाता है।

§ २—न्यायवाक्य का स्वरूप

'न्यायवाक्य' का स्वरूप समझने के लिए फिर भी इन तीन बातों को स्पष्ट कर लेना अच्छा होगा—

(१) न्यायवाक्य के तीन अवयव होते हैं। पहले अवयव में निष्कर्ष के विधेय-पद (= 'वि') के साथ 'हेतु' (= 'हे') का सम्बन्ध रहता है, इसलिए इसे विधेय-वाक्य[१] कहते हैं। दूसरे अवयव में निष्कर्ष के उद्देश-पद (= 'उ') के साथ हेतु का सम्बन्ध रहता है, इसलिए इसे उद्देश-वाक्य[२] कहते हैं। इन दोनों को 'आधार-वाक्य'[३] कहते हैं, क्योंकि इन्हीं के

---

[१] Major Premise. [२] Minor Premise. [३] Premise.

संयुक्त आधार पर निष्कर्ष निकाला जाता है। तीसरा अवयव 'निष्कर्ष-वाक्य'[1] है, जो दोनों आधार-वाक्यों के संयुक्त परामर्श से सिद्ध होता है।

अंगरेजी में निष्कर्ष-वाक्य के उद्देश को Minor term (= व्याप्य पद) और विधेय को Major term (= व्यापक पद) कहते हैं। न्याय-वाक्य का निष्कर्ष यदि 'आ' वाक्य हो तो यह बड़ा सत्य है। 'आ' वाक्य का विधेय व्यापक और उद्देश व्याप्य होता है। 'सभी घोड़े पशु हैं', यहाँ 'पशु' व्यापक है और 'घोड़ा' व्याप्य, क्योंकि पहले का विस्तार अधिक है जिसमें दूसरा अन्तर्गत है।

(२) जैसा ऊपर देख चुके हैं, 'न्यायवाक्य' निगमनविधि का एक रूप है। अधिक सामान्य बात के आधार पर उससे कम सामान्य बात के विषय में अनुमान करना ही निगमन-विधि है। अतः, 'न्यायवाक्य' में निष्कर्ष-वाक्य अपने आधार-वाक्यों से अधिक विस्तार का कभी नहीं हो सकता। सभी मनुष्यों के विषय में किसी जानकारी के आधार पर सभी प्राणियों के विषय में कुछ अनुमान नहीं कर सकते; किंतु सभी प्राणियों के विषय में किसी जानकारी के आधार पर सभी मनुष्यों के विषय में कुछ अलबत्ता अनुमान कर सकते हैं, क्योंकि सभी प्राणियों में सभी मनुष्य अन्तर्गत हैं, सभी मनुष्यों में सभी प्राणी नहीं।

(३) न्यायवाक्य की प्रामाणिकता[2] इसी में है कि उसके निष्कर्ष-वाक्य और आधार-वाक्यों में परस्पर पूरी संगति हो। न्यायवाक्य का निष्कर्ष इस बात का आश्वासन नहीं देता कि उससे वस्तु के साथ भी संवाद है। ऊपर देख चुके हैं कि इसी कारण तर्कशास्त्र को रूपविषयक सत्यता[3] का उत्तरदायी माना है, विषयविषयक सत्यता[4]

---

[1] Conclusion. [2] Validity.
[3] Formal Truth. [4] Material Truth.

का नहीं। किंतु हाँ, यदि न्यायवाक्य के आधार-वाक्यों की विषयविषयक सत्यता में पूरी दृढ़ता हो, तो निष्कर्ष-वाक्य की भी विषयविषयक सत्यता अवश्य होगी, क्योंकि यह तो उन्हीं से सिद्ध हुआ है। इसलिए, न्यायवाक्य का प्रामाण्य उसके आधार-वाक्यों के प्रामाण्य पर निर्भर करता है, उसके निष्कर्ष-वाक्य के प्रामाण्य पर नहीं।

निष्कर्ष के वास्तविक असत्य होने से उसके आधार-वाक्य की असत्यता तो सिद्ध होती है, किंतु आधार-वाक्यों के असत्य होने से उसके निष्कर्ष की असत्यता सिद्ध नहीं होती।

सभी मनुष्य चौपाये हैं,
सभी घोड़े मनुष्य हैं,
∴ सभी घोड़े चौपाये हैं।

इस न्यायवाक्य में निष्कर्ष वास्तविक सत्य है, किंतु इसके आधार-वाक्य वास्तविक सत्य नहीं हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि (१) आधार-वाक्यों के वास्तविक सत्य होने से निष्कर्ष भी अवश्य वास्तविक सत्य होगा, किंतु (२) निष्कर्ष के वास्तविक सत्य होने से आधार-वाक्यों की वास्तविक सत्यता सिद्ध नहीं होती।

ऊपर देख चुके हैं कि हेतुफलाश्रित वाक्य के 'हेतु' और 'फल' में ठीक यही सम्बन्ध है। 'हेतु' के सत्य होने से 'फल' सत्य होता है, किंतु इसका प्रतिलोम नहीं। और, 'फल' के असत्य होने से 'हेतु' असत्य होता है, किंतु इसका प्रतिलोम नहीं।

जो हो, हमें तो यहाँ न्यायवाक्य के वास्तविक सत्यासत्य से कोई मतलब नहीं। हमें यहाँ केवल यही अध्ययन करना है कि जो भी आधार-वाक्य प्राप्त हैं उनके संयुक्त परामर्श से निष्कर्ष कैसे निकाला जा सकता है। न्यायवाक्य के तीनों अवयवों में परस्पर असंगति न हो यहाँ यही हमारा लक्ष्य है।

§ ३—प्राच्य और पाश्चात्य पद्धतियों में न्यायवाक्य

भारतीय न्यायशास्त्र के अनुसार न्याय-वाक्य पाँच अवयवों में पूर्ण होता है, जैसे—

(१) प्रतिज्ञा— पर्वत अग्निमान् है,
(२) हेतु— क्योंकि, पर्वत धूम्रवान् है,
(३) उदाहरण— जहाँ जहाँ धूम्र है वहाँ वहाँ अग्नि है, जैसे रसोई घर में,
(४) उपनय— वैसे ही, यहाँ भी धूम्र है,
(५) निगमन— ∴ यहाँ भी अग्नि है।

जिस बात को सिद्ध करना है उसे सबसे पहले कह दिया, इसे 'प्रतिज्ञा' कहते हैं। 'प्रतिज्ञा' के उद्देश को 'पक्ष' कहते हैं, जिसके विषय में कुछ (यहाँ, अग्नि का होना) सिद्ध करना है। और, 'प्रतिज्ञा' के विधेय को 'साध्य' कहते हैं, जो 'पक्ष' के विषय में सिद्ध किया जाता है। इस तरह, प्राच्य-पद्धति में निष्कर्ष-वाक्य को सबसे पहले ही कह देते हैं कि इसे सिद्ध करना है, और अन्त में उसी बात का फिर भी कथन कर देते हैं कि यह सिद्ध हो गया। यहाँ 'प्रतिज्ञा' और 'निगमन' दोनों के रूप वही हैं जो पाश्चात्य पद्धति में 'निष्कर्ष-वाक्य' (= Conclusion) का है। और, 'पक्ष' तथा 'साध्य' वही हैं जिन्हें हमने ऊपर 'उ' तथा 'वि' संकेतों से पुकारा है, जो अंगरेजी में Minor Term तथा Major Term कहे जाते हैं।

कोई प्रश्न कर सकता है कि, प्राच्य पद्धति में निष्कर्ष को ही सबसे पहले कथन करने का क्या प्रयोजन है? इसका उत्तर यह है—तर्कशास्त्र 'प्रमाण-शास्त्र' (= Science of Proof) है, जिसका मुख्य काम किसी बात को युक्ति दे कर सिद्ध करना है। यह प्रकट करता है कि तर्कशास्त्र का अनुमान प्रधानतः निष्कर्ष से युक्ति की ओर जाता है; और तब यह

आवश्यक है कि उसका पहले कथन हो जाना चाहिए जिसे सिद्ध करना है; सिद्ध हो जाने पर फिर भी उसका कथन कर दिया जाय कि यह सिद्ध हो गया। रेखागणित में ठीक इसी प्रकार पहले प्रतिज्ञा होती है कि क्या सिद्ध करना है, फिर उसे सिद्ध करने की उपपत्ति देते हैं, और अन्त में सिद्ध हो जाने पर फिर भी दिखा देते हैं कि साध्य उपपन्न हुआ।

पाश्चात्य तर्कशास्त्री कार्वेथ रीड इसे स्पष्ट करते हुए लिखता है[1]—'अनुमान' शब्द दो भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है, जो बहुधा एक दूसरे का भ्रम उत्पन्न कर देता है। उन्हें साफ साफ समझ लेना चाहिए। पहला अर्थ उस विचार के क्रम से है जिससे कुछ जान या सुन कर हम कुछ अन्दाजा लगाते हैं। यह जानी या सुनी बात अत्यन्य अपर्याप्त तथा अस्पष्ट हो सकती है, जिससे कोई आशंका भर उत्पन्न हो। जैसे, आकाश की ओर देखकर किसी खास तरह के मौसिम होने की आशंका कर लेते हैं। अथवा, वह बात बड़ी प्रबल और पर्याप्त हो सकती है, उन पद-चिह्नों की तरह जिन्हें देखकर क्रूसो नरभक्षी जंगलियों का वहाँ होना जान कर भयभीत हो गया था। ये उदाहरण अनुमान करने की क्रिया के क्रम के हैं। 'अनुमान' शब्द के इस अर्थ से तर्कशास्त्र का कोई मतलब नहीं। यह तो मानसशास्त्र का अध्येय विषय है कि मन एक बात से दूसरी बात का कैसे अनुमान करता है, हम कैसे किसी बात का अन्दाजा लगा लेते हैं और उस पर कैसे मेरा विश्वास भी हो जाता है।

'अनुमान' शब्द का दूसरा अर्थ इस मानसिक प्रक्रिया से नहीं है, किंतु उस प्रक्रिया द्वारा प्राप्त फल से है। उस प्रक्रिया द्वारा फलित निष्कर्ष से है। इसी दूसरे अर्थ में 'अनुमान' तर्कशास्त्र का विषय है। तर्कशास्त्र का अध्येय विषय वस्तुस्थिति सम्बन्धी वह निष्कर्ष है जो वाक्य

---

[1] देखिए Carveth Read, Logic, p. 69.

में व्यक्त किया गया हो, जिसकी परीक्षा उस युक्ति के सम्बन्ध में करनी है जो उसे सिद्ध करने के लिए दी गई हो। तर्कशास्त्र यह बताता है कि कैसी युक्ति ठीक है। मानसशास्त्र इसकी व्याख्या करता है कि जानी या सुनी बात के आधार पर मन किस क्रम से निष्कर्ष पर पहुँचता है; किंतु तर्कशास्त्र निष्कर्ष को लेकर इसका पता लगाता है कि किस तरह यह सिद्ध हुआ है......[१]"

इस विचार से प्राच्यन्यायवाक्य की पद्धति अत्यन्त शास्त्रीय ठहरती है कि उसमें सबसे पहले 'प्रतिज्ञा' का अवयव है जो इसका कथन कर देता है कि क्या सिद्ध करना है।

दूसरा अवयव 'हेतु' है जो उस बात का कथन करता है जो 'पक्ष' में रह 'प्रतिज्ञा' की सिद्धि का आधार है। इस अवयव का वही स्थान है जो पाश्चात्य पद्धति में 'उद्देश-वाक्य' (= Minor Premise) का है, जिसमें निष्कर्ष के उद्देश के साथ हेतु का सम्बन्ध दिखाया रहता है।

तीसरा अवयव 'उदाहरण' है, जिसमें 'साध्य' का 'हेतु' के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। इसका वही स्थान है जो पाश्चात्य पद्धति में 'विधेय-वाक्य' (Major Premise) का है, जो निष्कर्ष के विधेय के साथ हेतु का सम्बन्ध बताता है।

इस तरह, 'पक्ष' (= 'उ' = Minor Term) और 'साध्य' (= 'वि' = Major Term) क्रमशः दूसरे और तीसरे अवयवों में

---

[१] Whilst Psychology explains how the mind goes forward from data to conclusions, Logic takes a conclusion and goes back to the data, inquiring whether those data, together with any other evidence that can be collected, are of a nature to warrant the conclusion.

'हेतु' (= 'हे' = Middle Term) के साथ पृथक् पृथक् सम्बद्ध होकर परंपरानुमान से निष्कर्ष में परस्पर सम्बद्ध सिद्ध होते हैं।

दूसरे और तीसरे अवयवों में युक्ति का देना पूरा हो जाता है। अब, इस युक्ति को प्रस्तुत प्रसंग में लागू करके निष्कर्ष सिद्ध हो गया यह दिखा देने का कार्य चौथे और पाँचवें अवयवों से पूर्ण होता है। चौथा अवयव दूसरे का, और पाँचवाँ अवयव पहले का पुनःकथन मात्र है।

प्राच्य पद्धति के पाँचों अवयवों में पाश्चात्य पद्धति के समान ही केवल तीन पद हैं—(१) 'पक्ष' = निष्कर्ष-वाक्य का उद्देश, जिसे 'उ' संकेत से व्यक्त करते हैं = Minor Term (ऊपर के उदारहण में 'पर्वत',) (२) हेतु, जिसे 'हे' संकेत से व्यक्त करते हैं = Middle Term (ऊपर के उदाहरण में 'धूम्र'), और (३) 'साध्य' = निष्कर्ष-वाक्य का विधेय, जिसे 'वि' संकेत से व्यक्त करते हैं = Major Term (ऊपर के उदाहरण में 'अग्नि')। और, पाश्चात्य पद्धति के परंपरानुमान के समान ही प्राच्य पद्धति में भी 'हेतु' के माध्यम से निष्कर्ष में 'पक्ष' के साथ 'साध्य' का सम्बन्ध स्थापित हुआ है।

प्राच्य पद्धति का तीसरा अवयव, 'उदाहरण' (ऊपर के उदाहरण में, जहाँ जहाँ धूम्र है वहाँ वहाँ अग्नि है) पाश्चात्य-पद्धति का विधेयवाक्य Major Premise है; और इसका दूसरा या चौथा अवयव (यहाँ, पर्वत में धूम्र है) उसका उद्देशवाक्य = Minor Premise है।

पाश्चात्य पद्धति का न्यायवाक्य है—

सभी मनुष्य मरणशील हैं,
सभी बादशाह मनुष्य हैं,
∴ सभी बादशाह मरणशील हैं।

इसी का प्राच्य न्यायवाक्य में रूप होगा—

प्रतिज्ञा— सभी बादशाह मरणशील हैं,

हेतु— क्योंकि सभी बादशाह मनुष्य हैं,
उदाहरण— सभी मनुष्य मरणशील हैं,
उपनय— और, सभी बादशाह मनुष्य हैं,
निगमन— ∴ सभी बादशाह मरणशील हैं।

इन्हीं दोनों पद्धतियों को अपने संकेतों में इस प्रकार रख सकते हैं—

पाश्चात्य—

विधेय-वाक्य—	सभी 'हे' 'वि' हैं,	व्याप्ति
उद्देश-वाक्य—	सभी 'उ' 'हे' हैं,	पक्षधर्मता
निष्कर्ष-वाक्य—	∴ सभी 'उ' 'वि' हैं।	निगमन

प्राच्य— सभी 'उ' 'वि' हैं,
क्योंकि सभी 'उ' 'हे' हैं,
सभी 'हे' 'वि' हैं,
और सभी 'उ' 'हे' हैं,
∴ सभी 'उ' 'वि' हैं।

स्मरण रखना है कि प्राच्य पद्धति में 'उ' = पक्ष, 'वि' = साध्य, और 'हे' = हेतु है।

§ ४—न्यायवाक्य के प्रकार

यह देख चुके हैं कि सम्बन्ध की दृष्टि से वाक्य तीन प्रकार के होते हैं—निरपेक्ष, हेतुफलाश्रित, और वैकल्पिक। न्यायवाक्य में इन तीनों का प्रयोग हो सकता है। यदि न्यायवाक्य के तीनों अवयव एक ही प्रकार के वाक्य हों तो उसे शुद्धन्यायवाक्य[१] कहते हैं। यदि तीनों अवयव 'निरपेक्ष' हों, तो उसे 'शुद्धनिरपेक्षन्यायवाक्य'[२] कहते हैं। जैसे—

---

[१] Pure Syllogism.
[२] Pure Categorical Syllogism.

सभी मनुष्य मरणशील हैं,
सभी बादशाह मनुष्य हैं,
∴ सभी बादशाह मरणशील हैं,

यदि तीनों अवयव 'हेतुफलाश्रित' हों, तो उसे 'शुद्ध-हेतुफलाश्रित-न्यायवाक्य'[१] कहते हैं। जैसे—

यदि वृष्टि हो, तो धान हो,
यदि धान हो, तो लोग सुखी हों,
∴ यदि वृष्टि हो, तो लोग सुखी हों।

यदि न्यायवाक्य के अवयव भिन्न प्रकार के हों तो उसे मिश्र-न्यायवाक्य कहते हैं। 'मिश्र न्यायवाक्य' तीन प्रकार के होते हैं—हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष, वैकल्पिक-निरपेक्ष और मेण्डक-प्रयोग। 'हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष-न्यायवाक्य'[३] वह है जिसका विधेय-वाक्य हेतुफलाश्रित हो, और उद्देश-वाक्य तथा निष्कर्ष-वाक्य निरपेक्ष हों। जैसे—

यदि 'क' 'ख' है, तो 'क' 'ग' है,
'क' 'ख' है,
∴ 'क' 'ग' है।
यदि राम धनी है, तो वह सुखी है,
राम धनी है,
∴ राम सुखी है।

'वैकल्पिक-निरपेक्ष-न्यायवाक्य'[४] वह है जिसका विधेय-वाक्य वैकल्पिक हो, और शेष दोनों निरपेक्ष हों। जैसे—

---

[१]Pure Hypothetical Syllogism. [२]Mixed Syllogism. [३]Hypothetical-Categorical Syllogism. [४]Disjunctive-Categorical Syllogism.

'क' या तो 'ख' है, या 'ग',
'क' 'ख' नहीं है,
∴ 'क' 'ग' है ।

मेण्डक-प्रयोग[1] मिश्रन्यायवाक्य का वह रूप है जिसके विधेयवाक्य में दो हेतुफलाश्रित वाक्य संयुक्त हों, उद्देश-वाक्य वैकल्पिक हो, और निष्कर्ष-वाक्य निरपेक्ष हो या हेतुफलाश्रित हो । जैसे—

सांकेतिक—यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है; और यदि 'च' 'छ' है,
तो 'ग' 'घ' है,
या तो 'क' 'ख' है, या 'च' 'छ' है,
∴ 'ग' 'घ' है ।

वास्तविक—यदि उसका भाई व्यापारी है, तो राम धनी है; और यदि
उसका पिता जमींदार है, तो भी वह धनी है,
या तो उसका भाई व्यापारी है, या पिता जमींदार है,
∴ राम धनी है ।

इस तरह, न्यायवाक्य पाँच प्रकार के हुए—

शुद्ध	मिश्र
(१) शुद्ध-निरपेक्ष	(३) हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष
(२) शुद्ध-हेतुफलाश्रित	(४) वैकल्पिक-निरपेक्ष
	(५) मेण्डक-प्रयोग

§ ५—न्याय-वाक्य में चार क्रम[2]

न्यायवाक्य का विधेय-वाक्य 'वि' और 'हे' में, तथा उद्देशवाक्य 'उ'

---

[1] Dilemma. [देखो पृ० २४०]

[2] Four Figures of Syllogism.

और 'हे' में कोई न कोई सम्बन्ध व्यक्त करता है। उन में उद्देश-विधेय का भी सम्बन्ध हो सकता है, और विधेय-उद्देश का भी। अतः, दोनों आधार-वाक्यों के प्रबन्ध में चार क्रम हो सकते हैं—

(१) पहला क्रम—'हे' विधेय-वाक्य में उद्देश हो, और उद्देश-वाक्य में विधेय। जैसे—

सभी 'हे' 'वि' हैं,
सभी 'उ' 'हे' हैं,
∴ सभी 'उ' 'वि' हैं।
सभी 'मनुष्य' 'मरणशील' हैं,
सभी 'बादशाह' 'मनुष्य' हैं,
∴ सभी 'बादशाह' 'मरणशील' हैं।

(२) दूसरा क्रम—'हे' दोनों आधार-वाक्यों में विधेय हो। जैसे—

कोई 'वि' 'हे' नहीं है,
सभी 'उ' 'हे' हैं,
∴ कोई 'उ' 'वि' नहीं है।
कोई 'मनुष्य' 'चौपाया' नहीं है,
सभी 'घोड़े' 'चौपाये' हैं,
∴ कोई 'घोड़ा' 'मनुष्य' नहीं है।

(३) तीसरा क्रम—'हे' दोनों आधार-वाक्यों में उद्देश हो। जैसे—

सभी 'हे' 'वि' हैं,
सभी 'हे' 'उ' हैं,
∴ कुछ 'उ' 'वि' हैं।
सभी 'हबशी' 'काले' हैं,

सभी 'हब्शी' 'मनुष्य' हैं,
∴ कुछ 'मनुष्य' 'काले' हैं।

(४) चौथा क्रम—'हे' विधेय-वाक्य में विधेय, और उद्देश-वाक्य में उद्देश हो।

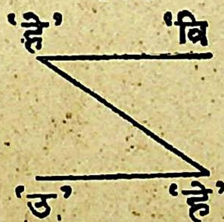
जैसे—

सभी 'वि' 'हे' हैं,
सभी 'हे' 'उ' हैं,
∴ कुछ 'उ' 'वि' हैं।

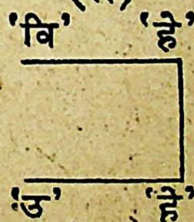
सभी 'अंगरेज' 'युरोपियन' हैं,
सभी 'युरोपियन' 'गोरे' हैं,
∴ कुछ 'गोरे' 'अंगरेज' हैं।

इन चार क्रमों को नीचे के चार चित्रों से व्यक्त कर सकते हैं—

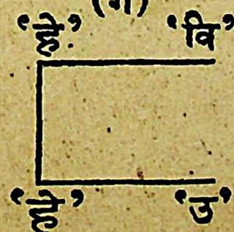
(क)



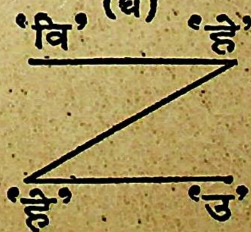
(ख)



(ग)



(घ)



§ ६—आधार-वाक्यों के सम्भव संयोग[1]

न्यायवाक्य के दोनों आधार-वाक्य 'गुण' तथा 'अंश' के भेद से किन्हीं भी चार प्रकार के हो सकते हैं।

सभी 'भारतीय' 'स्वतंत्र' हैं,
सभी 'बंगाली' 'भारतीय' हैं,
∴ सभी 'बंगाली' 'स्वतंत्र' हैं।

इस न्यायवाक्य में आधार-वाक्य 'आ'—'आ' हैं। किंतु,

सभी 'भारतीय' 'स्वतंत्र' हैं,
कुछ 'मुसल्मान' 'भारतीय' हैं,
∴ कुछ 'मुसल्मान' 'स्वतंत्र' हैं।

इस न्यायवाक्य में आधार-वाक्य 'आ'—'ई' हैं। इसी तरह, वाक्य के चार रूपों में आधार-वाक्यों को उलट-पलट कर रखें तो कुल १६ संयोग बनते हैं। जैसे—

'आ'-'आ'	'ए'-'आ'	'ई'-'आ'	'ओ'-'आ'
'आ'-'ए'	'ए'-'ए'	'ई'-'ए'	'ओ'-'ए'
'आ'-'ई'	'ए'-'ई'	'ई'-'ई'	'ओ'-'ई'
'आ'-'ओ'	'ए'-'ओ'	'ई'-'ओ'	'ओ'-'ओ'

इन सोलह संयोगों में कुछ तो ऐसे हैं जिनसे कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। जैसे—

कुछ 'भारतीय' 'हिन्दू' हैं,
कुछ 'ईसाई' 'भारतीय' हैं,

इन आधार-वाक्यों के संयोग से कोई परामर्श नहीं होता, जिससे कुछ निष्कर्ष निकाला जा सके। तब, इन सोलह संयोगों में किन किन के परा-

[1] Moods of Syllogism.

मर्शों से निष्कर्ष निकल सकते हैं इसकी परीक्षा करनी होगी। इसके लिए सबसे पहले न्यायवाक्य के उन साधारण नियमों का अध्ययन करना होगा जिनकी पूर्ति होना इस बात के लिए आवश्यक है कि उससे कोई संगत निष्कर्ष निकाला जा सके। जिन संयोगों से निष्कर्ष निकाला जा सकता है उन्हें सिद्ध-संयोग,[1] और जिनसे नहीं निकाला जा सकता है उन्हें असिद्ध-संयोग[2] कहते हैं।

§ ७—न्यायवाक्य के साधारण नियम

न्यायवाक्य के साधारण नियम दस हैं। इन नियमों में से किसी का भी जिस संयोग में विरोध हो वह 'सिद्ध' नहीं हो सकता। वे दस नियम हैं—

पहला नियम—न्यायवाक्य में तीन ही पदों का प्रयोग होता है।[3] न्यायवाक्य परंपरानुमान का वह रूप है, जिसमें किसी एक पद से सम्बद्ध दो पदों के बीच किसी सम्बन्ध का अनुमान किया जाता है। अतः, यदि तीन पद न हों तो इसका रूप ही खड़ा नहीं हो सकता। न्यायवाक्य में यदि चार पद हों तो भी अनुमान नहीं बनता, क्योंकि तब उनमें कोई माध्यम 'हेतु-पद' ही नहीं होगा जिसके द्वारा 'उ' और 'वि' में सम्बन्ध स्थापित हो। जैसे—

सभी 'मनुष्य' 'मरणशील' हैं,
सभी 'घोड़े' 'पशु' हैं,

इनसे भला क्या निष्कर्ष निकलेगा?

यहाँ, यह ध्यान देना आवश्यक है कि दोनों आधार-वाक्यों में हेतुपद एक ही अर्थ में प्रयुक्त हो। यदि कोई अनेकार्थक पद भिन्न अर्थों में

---

[1] Valid Moods.   [2] Invalid Moods.

[3] Every syllogism must contain three, and only three, terms.

प्रयुक्त हो कर आधार-वाक्यों में हेतु हो, तो भी अनुमान नहीं बनता। जैसे—

'सैंधव' 'घोड़ा' है,
'नमक' 'सैंधव' है,
∴ 'नमक' 'घोड़ा' है।
'जड़' 'पेड़ का एक अङ्ग' है,
'यह विद्यार्थी' 'जड़' है,
∴ 'यह विद्यार्थी' 'पेड़ का एक अङ्ग' है।

यहाँ 'सैंधव' या 'जड़' शब्द आधार-वाक्यों में हेतु होने का भ्रम उत्पन्न करते हैं, इसीसे ऐसे अनर्थ निष्कर्ष निकले। वास्तव में यहाँ कोई 'हेतु' ही नहीं है, क्योंकि 'सैंधव' तथा 'जड़' शब्द दोनों जगह भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। तर्कशास्त्र के लिए पद का अर्थ प्रधान है, न कि उसका बाह्य रूप। अतः, इस न्यायवाक्य में यथार्थतः चार पद हैं, तीन नहीं। इन आधार-वाक्यों से कोई निष्कर्ष नहीं निकलता। न्यायवाक्य के इस दोष को 'भ्रामक-हेतु दोष'[१] या 'चतुष्पदी दोष'[२] कहते हैं।

दूसरा नियम—प्रत्येक न्यायवाक्य में तीन ही वाक्य रहेंगे।[3] न्यायवाक्य का कार्य यह है कि, इस आधार पर कि [१] 'वि' का भी और [२] 'उ' का भी 'हे' के साथ पृथक् पृथक् सम्बन्ध है, वह निष्कर्ष में [३] 'उ' और 'वि' के बीच सम्बन्ध स्थापित करे। इस कार्य की सिद्धि न तो तीन वाक्यों से कम में होगी, और न अधिक में।

तीसरा नियम—हेतु-पद कम से कम एक बार अवश्य सर्वांशी होना

---

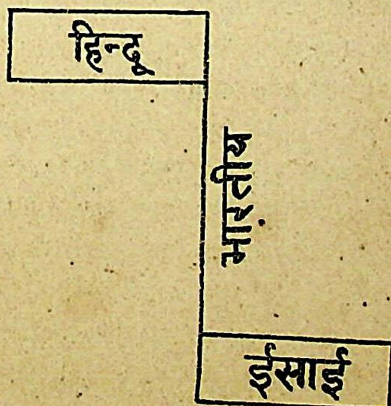
[१] Equivocation. [२] Fallacy of Four Terms.

[3] A syllogism must consist of three, and only three, propositions.

चाहिए।[1] यदि हेतु-पद कम से कम एक बार भी सर्वांशी न हो तो वह 'उ' और 'वि' के सम्बन्ध का आश्वासन नहीं दे सकता। यदि हेतुपद दोनों आधार-वाक्यों में असर्वांशी हो, तो हो सकता है कि 'वि' उसके एक अंश से सम्बद्ध हो, और 'उ' दूसरे अंश से। वैसी हालत में 'उ' और 'वि' के बीच कोई माध्यम नहीं रहेगा, जिसके द्वारा उनमें कोई सम्बन्ध हो सके। जैसे—

सभी 'हिन्दू' 'भारतीय' हैं,
सभी 'ईसाई' 'भारतीय' हैं,

इनके आधार पर 'ईसाई' और 'हिन्दू' में कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता; क्योंकि, यहाँ हेतु-पद 'भारतीय' दोनों वाक्यों में असर्वांशी है। 'हिन्दू' 'भारतीय' के एक अंश से सम्बद्ध है, और 'ईसाई' दूसरे अंश से। इसे इस चित्र से प्रकट कर सकते हैं—



[1]The Middle-term must be distributed at least once in the premises.

इस दोष को 'असर्वांशी-हेतु दोष'[१] कहते हैं।

चौथा नियम—जो पद आधार-वाक्य में असर्वांशी है वह निष्कर्ष-वाक्य में सर्वांशी कभी नहीं हो सकता[२]। ऊपर देख चुके हैं कि अनुमान की निगमन-विधि में यही पहली बात है कि यह अधिक व्यापक आधार से कम व्यापक निष्कर्ष निकालने की प्रक्रिया है। यह भी देख चुके हैं कि समव्याप्तिक आधार से उतना ही व्यापक निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है। किंतु, किसी भी अवस्था में, निष्कर्ष आधार से अधिक व्यापक नहीं हो सकता। प्रस्तुत नियम निगमन-विधि के इसी प्राथमिक सिद्धान्त पर आश्रित है। यह नियम तो अत्यन्त स्पष्ट है कि पद के किसी अनिश्चित अंश के विषय में कुछ जान कर, उसके पूरे अंश के विषय में कुछ कैसे कहा जा सकता है! 'कुछ मनुष्य ऐसे हैं', इसके आधार पर कैसे कह सकते हैं कि इसलिए 'सभी मनुष्य ऐसे हैं'? इसलिए, निष्कर्ष-वाक्य में उद्देश या विधेय तब तक सर्वांशी नहीं हो सकता जब तक वह पहले आधारवाक्य में वैसा न हो ले।

इस नियम के उल्लङ्घन को 'अनुचित रीति'[3] दोष कहते हैं। यदि आधार-वाक्य में बिना सर्वांशी हुए निष्कर्ष-वाक्य में उद्देश-पद सर्वांशी हो गया हो तो वह न्यायवाक्य 'असिद्ध' ठहरता है। इस दोष को अनुचित-उद्देश दोष[४] कहते हैं। निष्कर्ष-वाक्य के विधेय-पद के साथ भी यही दोष उपस्थित हो सकता है। उसे अनुचित-विधेय दोष[५] कहते हैं। जैसे—

---

[१] Fallacy of Undistributed Middle.

[२] No term can be distributed in the conclusion, unless it is distributed in the premise.

[3] Illicit process.

[४] Fallacy of Illicit Minor.

[५] Fallacy of Illicit Major.

अनुचित-उद्देश

सभी 'भारतीय' 'एशियाई' हैं,
कुछ 'ईसाई' 'भारतीय' हैं,
∴ सभी 'ईसाई' 'एशियाई' हैं।

अनुचित-विधेय

कुछ 'भारतीय' 'काले' हैं,
कोई 'हब्शी' 'भारतीय' नहीं है,
∴ कोई 'हब्शी' 'काला' नहीं है।

पहले उदाहरण के निष्कर्ष का उद्देश 'ईसाई' सर्वांशी है, किंतु आधार-वाक्य में वह असर्वांशी ही है, अतः यह न्यायवाक्य 'असिद्ध' ठहरा। उसी तरह दूसरे उदाहरण में निष्कर्ष का विधेय 'काला' सर्वांशी है, (क्योंकि वह 'ए' वाक्य का विधेय है), किंतु आधार-वाक्य में वह असर्वांशी ही है; अतः, यह न्यायवाक्य भी 'असिद्ध' ठहरता है।

इस सम्बन्ध में यह भी ख्याल कर लेना है कि इस नियम का प्रतिलोम सत्य नहीं होता। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि यदि कोई पद निष्कर्ष में असर्वांशी हो तो आधार में भी असर्वांशी ही होगा, अथवा यह कि यदि कोई पद आधार में सर्वांशी हो तो निष्कर्ष में भी सर्वांशी ही होगा। स्मरण रहे कि अनुमान की निगमनविधि में आधार से निष्कर्ष के कम होने में कोई दोष नहीं है। दोष है आधार से निष्कर्ष के अधिक होने में।

पाँचवाँ नियम—यदि दोनों आधार-वाक्य निषेधात्मक हों, तो कोई निष्कर्ष नहीं निकलता।[1] निषेधात्मक वाक्य सूचित करता है कि उसके दोनों पद एक दूसरे से सर्वथा पृथक् हैं। यदि दोनों आधारवाक्य निषेधात्मक हों, तो इसका यह अर्थ होता है कि माध्यम 'हेतु-पद' से न

---

[1] From two negative premises, no conclusion can be drawn.

तो 'उ' सम्बद्ध है और न 'वि'। तब, वे किसी निष्कर्ष का परामर्श कैसे देंगे ? जैसे—

कोई 'मनुष्य' 'राक्षस' नहीं है,

कोई 'पेड़' 'मनुष्य' नहीं है,

इनके आधार पर 'पेड़' और 'राक्षस' में विधानात्मक या निषेधात्मक कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता।

अतः, दो आधार-वाक्यों में कम से कम एक का विधानात्मक होना आवश्यक है।

छठा नियम—यदि आधार वाक्यों में एक भी निषेधात्मक हो, तो निष्कर्ष अवश्य निषेधात्मक होगा।[1] पाँचवें नियम के अनुसार, यदि एक आधार-वाक्य निषेधात्मक हो तो दूसरे को अवश्य विधानात्मक होना चाहिए। यह विधानात्मक वाक्य माध्यम 'हेतु' के साथ दोनों में से किसी एक पद का सम्बन्ध होना बताता है; और, दूसरा निषेधात्मक वाक्य बताता है कि दूसरा पद उससे सर्वथा अलग है। इस तरह, माध्यम से एक के सम्बद्ध होने और दूसरे के सर्वथा पृथक् होने से उन दोनों के परस्पर सम्बद्ध होने का अनुमान नहीं किया जा सकता। अर्थात् उनसे विधानात्मक निष्कर्ष नहीं निकाल सकते। यदि निष्कर्ष निकलेगा तो वह निषेधात्मक ही होगा।

यहाँ यह देख लेना है कि इस नियम का प्रतिलोम भी ठीक है। यह कि, यदि निष्कर्ष निषेधात्मक हो, तो उसके आधार वाक्यों में एक अवश्य निषेधात्मक होगा।[1] निषेधात्मक निष्कर्ष का यह अर्थ है कि 'उ' से 'वि' सर्वथा पृथक् है। यदि 'उ' और 'वि' दोनों 'हे' से सम्बद्ध होते, तो उससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। एक के सम्बद्ध होने और एक

[1] If one premise be negative, the conclusion must be negative and vice versa.

के पृथक् होने से ही यह निष्कर्ष सम्भव है। अर्थात्, निषेधात्मक निष्कर्ष के दोनों आधार-वाक्य विधानात्मक नहीं हो सकते, एक का निषेधात्मक होना आवश्यक है।

सातवाँ नियम—यदि दोनों आधार-वाक्य विधानात्मक हों, तो उनका निष्कर्ष भी विधानात्मक ही होगा।[१] यदि दोनों आधार-वाक्य विधानात्मक हों, तो इसका यह अर्थ हुआ कि 'उ' और 'वि' दोनों 'हे' से सम्बद्ध हैं। इसके आधार पर यह कभी नहीं कहा जा सकता कि 'उ' और 'वि' परस्पर असम्बद्ध हैं। अर्थात्, इससे निषेधात्मक निष्कर्ष कभी नहीं निकल सकता। यदि कोई निष्कर्ष निकलेगा तो वह अवश्य विधानात्मक ही होगा।

इस नियम का प्रतिलोम भी ठीक है। यह कि, यदि निष्कर्ष विधानात्मक हो, तो उसके दोनों आधार-वाक्य भी अवश्य विधानात्मक होंगे।[१] ऊपर देख चुके हैं कि आधार-वाक्यों में एक के भी निषेधात्मक होने से निष्कर्ष अवश्य निषेधात्मक होगा। अतः, विधानात्मक निष्कर्ष के दोनों आधार-वाक्य अवश्य विधानात्मक होंगे।

आठवाँ नियम—यदि दोनों आधार-वाक्य 'विशेष' हों तो कोई निष्कर्ष नहीं निकलता।[२] यदि दोनों आधार-वाक्य 'विशेष' हों तो उनके सम्भव संयोग चार होंगे—'ई'-'ई', 'ई'-'ओ', 'ओ'-'ई', और 'ओ'-'ओ'। इन संयोगों में पहला अक्षर 'उद्देश-वाक्य' के, और दूसरा अक्षर 'विधेय-वाक्य' के रूप का सूचक है। इन चार संभव संयोगों की परीक्षा करके देखें कि क्या किसी से निष्कर्ष निकल सकता है।

---

[१] If both the premises be affirmative, the conclusion is affirmative; and vice versa.

[२] If both the premises be particular, nothing can be inferred.

'ई'-'ई', इस संयोग में कोई भी पद सर्वांशी नहीं है, क्योंकि 'ई' वाक्य के दोनों पद असर्वांशी होते हैं। इसलिए, इन वाक्यों में हेतु-पद को एक बार भी सर्वांशी होने का अवसर प्राप्त नहीं है। और ऊपर देख चुके हैं कि यदि आधार-वाक्यों में हेतु-पद कम से कम एक बार भी सर्वांशी न हुआ हो तो उनसे कोई निष्कर्ष नहीं निकलता [३रा नियम]।

'ओ'-'ओ', इस संयोग से भी कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता, क्योंकि ये दोनों वाक्य निषेधात्मक हैं; और, दो निषेधात्मक वाक्यों के आधार से कोई निष्कर्ष नहीं निकलता [पाँचवाँ नियम]।

'ई'-'ओ' तथा 'ओ'-'ई'—इन दोनों संयोगों में एक वाक्य निषेधात्मक है। इसलिए, इनसे यदि कोई निष्कर्ष निकलेगा तो वह अवश्य निषेधात्मक होगा [छठा नियम......]। और तब, निषेधात्मक होने के कारण, उसका विधेय (= 'वि') सर्वांशी होगा। निष्कर्ष वाक्य में 'वि' के सर्वांशी होने के लिए पहले इसे आधार-वाक्य में सर्वांशी होना आवश्यक है।

इस तरह, इन आधार-वाक्यों के प्रत्येक संयोग में कम से कम दो पद सर्वांशी होने चाहिए, एक तो 'वि' और कम से कम एक बार 'हे'। किंतु, इन संयोगों में केवल एक ही पद, 'ओ' वाक्य का विधेय, सर्वांशी है। यदि वह पद 'वि' हो तो 'हे' असर्वांशी रह जाता है; और यदि वह पद 'हे' हो तो 'वि' असर्वांशी रह जाता है। अतः, इनसे निष्कर्ष निकालने में या तो 'असर्वांशी-हेतु' का या 'अनुचित विधेय' का दोष लगा ही रहेगा। इससे यह पता चला कि ये दोनों संयोग 'असिद्ध' हैं, और इनसे कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता।

विशेष-वाक्यों के चारों सम्भव संयोगों की परीक्षा करके देखा कि वे सभी 'असिद्ध' हैं। आधार-वाक्यों का कोई संयोग तब तक 'सिद्ध'[1] नहीं हो सकता जब तक उनमें कम से कम एक सामान्य न हो।

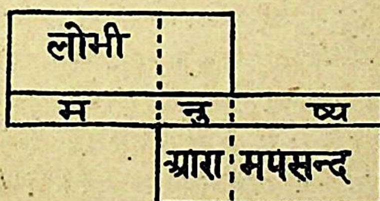
---

[1] Valid.

इस सम्बन्ध में यह उल्लेख किया जा सकता है कि यदि उसका हेतु-पद दोनों वाक्यों में अधिकांश (= आधे से अधिक) का बोध करे, तो दो विशेष-वाक्यों के आधार पर भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है। जैसे—

अधिकांश मनुष्य लोभी हैं,
अधिकांश मनुष्य आरामपसंद हैं,
∴ कुछ आरामपसंद लोग लोभी हैं।

'मनुष्य' के विस्तार के आधे से अधिक अंश से 'लोभी' और 'आरामपसंद' के पृथक् पृथक् सम्बद्ध होने से उसका कुछ अंश ऐसा अवश्य रह जायगा जिसमें दोनों पद समान हों। इसे नीचे के चित्र से व्यक्त कर सकते हैं—



नवाँ नियम—यदि दो आधारवाक्यों में एक 'विशेष' हो, तो निष्कर्ष भी अवश्य विशेष होगा।[1] यदि एक आधार-वाक्य विशेष हो, तो दूसरा अवश्य सामान्य होगा; क्योंकि दो विशेष वाक्यों से कोई निष्कर्ष नहीं निकलता। एक विशेष और एक सामान्य वाक्य के कुल इतने संभव संयोग हो सकते हैं—

'आ'-'ई', 'आ'-'ओ', 'ए'-'ई' और 'ए'-'ओ', सीधे या उलटे।

---

[1] If one premise be particular, so is the conclusion.

सीधे या उलटे 'ए'-'ओ' संयोग तो 'असिद्ध' है, क्योंकि दोनों निषेधात्मक हैं।

सीधे या उलटे 'आ'-'ई' संयोग में केवल एक पद—'आ' का उद्देश—सर्वांशी है। वह पद अवश्य 'हेतु' होना चाहिए, क्योंकि बिना हेतु के सर्वांशी हुए कोई निष्कर्ष नहीं निकलता। आधार-वाक्यों में और किसी पद के सर्वांशी न होने के कारण निष्कर्ष के दोनों पद असर्वांशी ही रहेंगे। यह केवल 'ई' वाक्य में होता है। अतः इस संयोग से 'ई' निष्कर्ष निकलेगा, जो विशेष है।

'आ'-'ओ' तथा 'ए'-'ई', इन दोनों संयोगों में, सीधे या उलटे, केवल दो ही पद सर्वांशी हैं: पहले में 'आ' का उद्देश तथा 'ओ' का विधेय, और दूसरे में 'ए' के दोनों। दोनों संयोगों में एक वाक्य निषेधात्मक है, इससे उनका निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा। निषेधात्मक निष्कर्ष में विधेय-पद सर्वांशी होगा। तब, आधार-वाक्यों में कम से कम दो पद सर्वांशी अवश्य होने चाहिए—एक तो 'वि', और कम से कम एक बार 'हे'। इन संयोगों में जो दो पद सर्वांशी हैं वे यही दोनों होंगे। तब, आधार-वाक्य में 'उ' असर्वांशी ही रहा। निष्कर्ष में भी यह असर्वांशी ही रहेगा; सर्वांशी नहीं हो सकता। इसका अर्थ यह हुआ कि निष्कर्ष 'विशेष' ही रहेगा; सामान्य नहीं हो सकता। इससे यह नियम सिद्ध हुआ कि एक 'विशेष' और एक 'सामान्य' वाक्य के जितने संयोग होंगे उनसे यदि निष्कर्ष निकलेगा तो वह विशेष ही हो सकता है, सामान्य नहीं।

इस सम्बन्ध में यह देख लेना चाहिए कि इस नियम का प्रतिलोम ठीक नहीं ठहरता। निष्कर्ष के 'विशेष' होने पर ऐसा नहीं कह सकते कि इसके आधारवाक्यों में भी एक अवश्य विशेष होगा। दो सामान्य वाक्यों के आधार पर भी विशेष निष्कर्ष निकलता है। आधार-वाक्य में 'उ' के सर्वांशी होने पर भी निष्कर्ष में वह असर्वांश में लिया जा

सकता है। ऊपर देख चुके हैं कि सर्वांश से असर्वांश निकालने में कोई दोष नहीं है; किंतु दोष तो है असर्वांश से सर्वांश निकालने में।

इससे यह बात स्पष्ट है कि यदि निष्कर्ष सामान्य हो तो दोनों आधार-वाक्य अवश्य सामान्य होंगे, क्योंकि यदि एक भी आधार-वाक्य विशेष होता तो निष्कर्ष भी विशेष हो जाता। इस नियम की सिद्धि स्वतंत्र रूप से भी इस तरह की जा सकती है—

यदि निष्कर्ष सामान्य है तो वह या तो 'आ' होगा या 'ए'। यदि वह 'आ' है, तो विधानात्मक होने के कारण, इसके दोनों आधार-वाक्य भी अवश्य विधानात्मक होंगे। क्योंकि इसका 'उ' सर्वांशी है इसलिए, आधार-वाक्यों में कम से कम दो पद अवश्य सर्वांशी होंगे—एक तो 'उ' और एक 'हे'। यह तभी हो सकता है जब इसके दोनों आधार-वाक्य सामान्य हों, अर्थात् उनका संयोग 'आ'-'आ' हो। इनमें पहले वाक्य (=विधेय-वाक्य) का उद्देश 'हे', और दूसरे (=उद्देश-वाक्य) का उद्देश 'उ' होगा। यदि आधारवाक्यों में कोई भी 'ई' होता तो, क्योंकि इसके दोनों पद असर्वांशी हैं, या तो 'असर्वांशी-हेतु' का दोष हो जाता, या 'अनुचित उद्देश' का।

और, यदि निष्कर्ष-वाक्य 'ए' हो तो, इसके निषेधात्मक होने के कारण, इसके आधार-वाक्यों में एक अवश्य निषेधात्मक होगा। फिर, क्योंकि इसके दोनों पद सर्वांशी हैं, उन्हें आधार-वाक्यों में भी सर्वांशी होना चाहिए। इस तरह, आधार-वाक्यों में कम से कम तीन पद सर्वांशी होंगे—'उ', 'वि' और एक बार 'हे'। यह केवल इन संयोगों में सम्भव है—'ए'-'ए', 'ए'-'ओ', और 'ए'-'आ' सीधे या उलटे। इनमें पहले दो संयोग तो, दोनों निषेधात्मक होने के कारण, 'असिद्ध' हैं। अतः, 'ए' निष्कर्ष के आधार-वाक्यों का संयोग 'ए'-'आ' ही सीधे या उलटे हो सकता है। यह दोनों सामान्य-वाक्य हैं।

तब, यह नियम सिद्ध हुआ कि निष्कर्ष-वाक्य यदि सामान्य हो तो उसके दोनों आधार-वाक्य भी अवश्य सामान्य होंगे।

दसवाँ नियम—यदि विधेय-वाक्य विशेष और उद्देश-वाक्य निषेधात्मक हो, तो उनसे कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता।[1] यदि उद्देश-वाक्य निषेधात्मक हो तो विधेयवाक्य अवश्य विधानात्मक होगा, क्योंकि दो निषेधात्मक-वाक्यों के आधार पर कोई निष्कर्ष नहीं निकलता। तब, विधेय-वाक्य के विशेष-विधानात्मक (= 'ई' वाक्य) होने के कारण उसका कोई पद सर्वांशी नहीं होगा।

इधर, एक आधारवाक्य निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी अवश्य निषेधात्मक होगा; और तब 'वि' सर्वांशी होगा, जो आधारवाक्य में वैसा नहीं है। इस तरह, यहाँ 'अनुचित विधेय' का दोष हो जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि विधेयवाक्य के विशेष, और उद्देशवाक्य के निषेधात्मक होने से कोई निष्कर्ष नहीं निकलता।

न्यायवाक्य के इन दस साधारण नियमों को देखने से पता चलता है कि पहले दो नियम न्यायवाक्य की बनावट के विषय में हैं; दूसरे दो नियम पदों के विस्तार के विषय में हैं; और शेष छः तीनों अवयव वाक्यों के गुण या अंश के विषय में हैं। इन नियमों में पहले छः मुख्य हैं; शेष चार गौण हैं, जो उन्हीं मुख्य नियमों से निकले हैं।

इन छः मुख्य नियमों को याद रखने के लिए निम्न श्लोक उपयोगी होंगे—

---

[1] From a particular major and a negative minor, no conclusion follows.

पदानि चैव वाक्यानि
त्रीणि भवन्ति नित्यशः।
एकत्र क्वापि सर्वांशी
हेतुर्ध्रुवतया मतः ॥ १ ॥
एकांशिपदमाधारे
निष्कर्षे नान्यथा भवेत् ।
निष्कर्षो नैव प्राप्येत
आधारयोर्निषेधयोः ॥ २ ॥
निषेधात्मनि चैकस्मिन्
आधारद्वयमध्यतः ।
निषेध एव निष्कर्षे
भवति नात्र संशयः ॥ ३ ॥

पहले श्लोक में तीन नियम कहे गए हैं—(१–२) पद और वाक्य नित्य तीन होते हैं। (३) हेतु एक जगह कहीं भी ध्रुव रूप से सर्वांशी होगा।

दूसरे श्लोक में दो नियम कहे गए हैं—(४) आधार में जो एकांशि-पद (= असर्वांशी) है वह निष्कर्ष में अन्यथा (= सर्वांशी) नहीं हो सकता। (५) दो निषेधात्मक आधारों से निष्कर्ष प्राप्त नहीं होता।

तीसरे श्लोक में केवल एक नियम कहा गया है—(६) दो आधार-वाक्यों के मध्य एक के निषेधात्मक होने से निष्कर्ष भी निषेधवाक्य ही होता है।

§ ८—साधारण नियमों से सिद्ध संयोग[1]

न्यायवाक्य के उक्त दस साधारण नियमों को दृष्टि में रख कर देखें कि आधार-वाक्यों के सोलह सम्भव 'संयोगों' में कौन सिद्ध ठहरते हैं और कौन असिद्ध—[पृ० १६०]

---

[1] Determination of Valid Moods. ✓

वे सोलह सम्भव 'संयोग' हैं—

(१) 'आ'-'आ' (२) 'आ'-'ए' (३) 'आ'-'ई' (४) 'आ'-'ओ'
(५) 'ए'-'आ' (६) 'ए'-'ए' (७) 'ए'-'ई' (८) 'ए'-'ओ'
(९) 'ई'-'आ' (१०) 'ई'-'ए' (११) 'ई'-'ई' (१२) 'ई'-'ओ'
(१३) 'ओ'-'आ' (१४) 'ओ'-'ए' (१५) 'ओ'-'ई' (१६) 'ओ'-'ओ'

इनमें (६) 'ए'-'ए', (८) 'ए'-'ओ' (१४) 'ओ'-'ए' और (१६) 'ओ'-'ओ', ये चार 'संयोग' इस कारण असिद्ध हैं, क्योंकि इनके दोनों वाक्य निषेधात्मक हैं (पाँचवाँ नियम)।

(११) 'ई'-'ई', (१२) 'ई'-'ओ', (१५). 'ओ'-'ई'—ये तीन संयोग इस कारण असिद्ध हैं, क्योंकि इनके दोनों वाक्य विशेष हैं (आठवाँ नियम)।

(१०) 'ई'-'ए', यह संयोग इस कारण असिद्ध है, क्योंकि इसका विधेय-वाक्य विशेष, और उद्देश-वाक्य निषेधात्मक है (दसवाँ नियम)।

शेष आठ 'संयोगों' में साधारण नियमों का कोई विरोध नहीं पड़ता। न्यायवाक्य के चार क्रमों में किसी न किसी एक में वे अवश्य सिद्ध होंगे।

अब, इन आठ 'संयोगों' को प्रत्येक 'क्रम' में परीक्षा करके देखें कि चारो भिन्न भिन्न 'क्रमों' में कौन कौन संयोग सिद्ध ठहरते हैं।

§९—पहले क्रम के सिद्ध 'संयोग'[1]

हमने अभी देखा कि न्याय-वाक्य के दस साधारण नियमों की दृष्टि से परीक्षा करने पर आधार-वाक्यों के सोलह सम्भव 'संयोगों' में आठ ऐसे हैं जिनसे कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। शेष आठ 'संयोगों'

---

[1] Valid Moods of the First Figure.

से निष्कर्ष निकाला जा सकता है। वे हैं—'आ'-'आ', 'आ'-'ए', 'आ'-'ई', 'आ'-'ओ', 'ए'-'आ', 'ए'-'ई', 'ई'-'आ', और 'ओ'-'आ'। एक एक करके इनकी परीक्षा करनी चाहिए कि पहले 'क्रम' में किन से निष्कर्ष निकल सकता है और किन से नहीं।

याद रहे कि आधार-वाक्यों में हेतु के स्थान पहले क्रम में इस प्रकार रहते हैं—

'हे'—'वि'
'उ'—'हे'
∴ 'उ'—'वि'

(१) 'आ'-'आ' संयोग का पहले 'क्रम' में यह रूप होगा—

'आ'—सभी 'हे' 'वि' हैं,	सभी 'मनुष्य' 'मरणशील' हैं,
'आ'—सभी 'उ' 'हे' हैं,	सभी 'राजा' 'मनुष्य' हैं,
∴ सभी 'उ' 'वि' हैं।	∴ सभी 'राजा' 'मरणशील' हैं।

इस न्यायवाक्य में हेतुपद विधेयवाक्य में सर्वांशी है; क्योंकि वह यहाँ 'आ' वाक्य का उद्देश है। फिर, दोनों आधार-वाक्यों के विधानात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी विधानात्मक है। निष्कर्ष के 'आ' वाक्य होने में कोई दोष नहीं है। यहाँ जो 'उ' सर्वांशी है वह आधार-वाक्य में भी सर्वांशी ही है; अतः 'अनुचित उद्देश' के दोष का भी भय नहीं है। इसलिए, आधार-वाक्यों का यह संयोग सिद्ध ठहरा। न्यायवाक्य के इस रूप का सांकेतिक नाम बार्बारा[1] है। इसके तीनों स्वर 'आ-आ-आ' सूचित करते हैं कि इस न्यायवाक्य के तीनों अवयव 'आ' वाक्य हैं।

[इसी तरह, आगे भी जिन सिद्ध संयोगों के सांकेतिक नाम दिये जायेंगे उनमें तीन स्वर रहेंगे जो न्यायवाक्य के तीनों अवयवों के रूप

[1] Barbara.

का बोध करेंगे। उनमें प्रयुक्त व्यञ्जनाक्षरों के निर्देश क्या हैं यह आगे चल कर देखेंगे]

(२) 'आ'-'ए' संयोग का पहले 'क्रम' में यह रूप होगा—

'आ'—सभी 'हे' 'वि' हैं,	सभी 'घोड़े' 'चौपाये' हैं,
'ए'—कोई 'उ' 'हे' नहीं है,	कोई 'ऊँट' 'घोड़ा' नहीं है,
कोई निष्कर्ष नहीं।	कोई निष्कर्ष नहीं।

यहाँ, एक आधारवाक्य निषेधात्मक है, इससे इनका निष्कर्ष निषेधात्मक ही होता। और तब निष्कर्ष-वाक्य में 'वि' सर्वांशी होता। इसके लिए उसे पहले आधारवाक्य में सर्वांशी होना चाहिए था। किंतु, यहाँ तो आधारवाक्य में 'वि' सर्वांशी नहीं है। ऐसी अवस्था में इस संयोग से यदि कोई भी निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न करें तो 'अनुचित विधेय' के दोष से बच नहीं सकते। इसलिए यह संयोग असिद्ध ठहरा, इससे कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता।

(३) 'आ'-'ई' संयोग का पहले 'क्रम' में यह रूप होगा—

'आ'—सभी 'हे' 'वि' हैं,	सभी 'मनुष्य' 'द्विपद' हैं,
'ई'—कुछ 'उ' 'हे' हैं,	कुछ 'प्राणी' 'मनुष्य' हैं,
∴ कुछ 'उ' 'वि' हैं।	∴ कुछ 'प्राणी' 'द्विपद' हैं।

यहाँ, दोनों आधार-वाक्यों के विधानात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी विधानात्मक होना चाहिए। और, एक आधारवाक्य के विशेषात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी विशेषात्मक होना चाहिये। अतः, निष्कर्ष 'ई' वाक्य होगा। इसके विधेय-वाक्य में हेतु-पद सर्वांशी हो चुका है। और, निष्कर्षवाक्य में किसी पद के सर्वांशी न होने के कारण, किसी 'अनुचित' दोष का भी भय नहीं है। अतः, यह संयोग सिद्ध ठहरा। इस न्यायवाक्य का सांकेतिक नाम है दारीई।[१] इसके अवयव हैं—'आ'-'ई'-'ई'।

---

[१] Darii.

(४) 'आ'-'ओ' संयोग का पहले 'क्रम' में यह रूप होगा—

'आ'—सभी 'हे' 'वि' हैं, सभी 'चिड़ियाँ' 'अण्डज' हैं,
'ओ'—कुछ 'उ' 'हे' नहीं हैं, कुछ 'प्राणी' 'चिड़ियाँ' नहीं हैं,
कोई निष्कर्ष नहीं। कोई निष्कर्ष नहीं।

यहाँ, एक आधारवाक्य निषेधात्मक है, इससे इनका निष्कर्ष निषेधात्मक ही होता। और तब, निष्कर्ष-वाक्य में 'वि' सर्वांशी होता। इसके लिए उसे पहले आधारवाक्य में सर्वांशी होना चाहिए था। किंतु, यहाँ तो आधारवाक्य में 'वि' सर्वांशी नहीं है। ऐसी अवस्था में इस संयोग से यदि कोई भी निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न करें तो 'अनुचित विधेय' के दोष से बच नहीं सकते। इसलिए, पहले क्रम में यह संयोग असिद्ध ठहरा। इससे कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता।

(५) 'ए'-'आ' संयोग का पहले 'क्रम' में यह रूप होगा—

'ए'—कोई 'हे' 'वि' नहीं है, कोई 'प्राणी' 'अमर' नहीं है,
'आ'—सभी 'उ' 'हे' हैं, सभी 'मनुष्य' 'प्राणी' हैं,
∴ कोई 'उ' 'वि' नहीं है। ∴ कोई 'मनुष्य' 'अमर' नहीं है।

यहाँ हेतु-पद विधेय-वाक्य में सर्वांशी है। एक आधार-वाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा। दोनों आधार-वाक्यों के सामान्य होने के कारण निष्कर्ष भी सामान्य हो सकता है। इसलिए, निष्कर्ष 'ए' वाक्य हुआ। निष्कर्ष में दोनों पद सर्वांशी हैं; वे आधारवाक्यों में भी सर्वांशी ही हैं। इसलिए यहाँ किसी 'अनुचित' दोष की भी सम्भावना नहीं है। अतः पहले क्रम में यह संयोग सिद्ध ठहरा। इस सिद्ध न्यायवाक्य का सांकेतिक नाम केलारेण्ट[१] है। 'ए'-'आ'-'ए'।

(६) 'ए'-'ई' संयोग का पहले 'क्रम' में यह रूप होगा—

'ए'—कोई 'हे' 'वि' नहीं है, कोई 'मनुष्य' 'अमर' नहीं है,

[१] Celarent.

'ई'— कुछ 'उ' 'हे' हैं, कुछ 'प्राणी' 'मनुष्य' हैं,
∴ कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं। ∴ कुछ 'प्राणी' 'अमर' नहीं हैं।

यहाँ, हेतु-पद विधेय-वाक्य में सर्वांशी है। एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी निषेधात्मक होना चाहिए। एक आधारवाक्य के विशेष होने के कारण निष्कर्ष भी विशेष होना चाहिए। अर्थात्, निष्कर्ष 'ओ' वाक्य होगा। निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष-वाक्य में 'वि' सर्वांशी है; वह आधार-वाक्य में भी सर्वांशी है। अतः, पहले 'क्रम' में यह संयोग सिद्ध ठहरा। इस सिद्ध न्यायवाक्य का सांकेतिक नाम है फेरीओ[1]। 'ए'-'ई'-'ओ'।

(७) 'ई'-'आ' संयोग का पहले 'क्रम' में यह रूप होगा—

'ई'—कुछ 'हे' 'वि' हैं, कुछ 'मनुष्य' 'पण्डित' हैं,
'आ'—सभी 'उ' 'हे' हैं, सभी 'भारतीय' 'मनुष्य' हैं,
कोई निष्कर्ष नहीं कोई निष्कर्ष नहीं

यहाँ आधारवाक्यों में हेतुपद एक बार भी सर्वांशी नहीं है, अतः इनसे कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता। पहले क्रम में यह संयोग असिद्ध ठहरा।

(८) 'ओ'-'आ' संयोग में इसका रूप होगा—

'ओ'—कुछ 'हे' 'वि' नहीं है, कुछ 'मनुष्य' 'पण्डित' नहीं हैं,
'आ'—सभी 'उ' 'हे' हैं, सभी 'भारतीय' 'मनुष्य' हैं,
कोई निष्कर्ष नहीं कोई निष्कर्ष नहीं

ऊपर ही की तरह, इन आधारवाक्यों में भी हेतुपद एक बार भी सर्वांशी नहीं है। अतः, इनसे कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता। पहले क्रम में यह संयोग असिद्ध ठहरा।

---

[1] Ferio.

§ १०—पहले क्रम के अपने नियम

आधार-वाक्यों के आठ संभव सिद्ध संयोगों की परीक्षा करके देखा कि उनमें केवल चार ऐसे हैं जो पहले क्रम में सिद्ध होते हैं। उनके निष्कर्ष के साथ पूरे न्यायवाक्य के अपने अपने सांकेतिक नाम भी दे दिए गए हैं—वार्बारा, केलारेण्ट, दारीई, फेरीओ। पहले क्रम में इन सिद्ध न्यायवाक्यों को प्रथम-क्रम-सिद्ध-संयोग कहते हैं। इन संयोगों को एक साथ रख कर देखें कि उनमें क्या समानतायें हैं—

'आ'—'आ'—'आ'

'ए'—'आ'—'ए'

'आ'—'ई'—'ई'

'ए'—'ई'—'ओ'

इन संयोगों में पहली समानता तो यह है कि सभी के विधेय-वाक्य सामान्य हैं; और दूसरी यह कि सभी के उद्देशवाक्य विधानात्मक हैं। न्यायवाक्य के पहले 'क्रम' के यही दो अपने असाधारण नियम हैं। न्यायवाक्य के 'साधारण नियमों' का प्रयोग करके भी इन दो 'असाधारण नियमों' की सत्यता दिखाई जा सकती है। जैसे—

(१) पहले क्रम में विधेय-वाक्य अवश्य सामान्य होगा।[१]

इस नियम की सत्यता प्रतिलोम विधि से प्रामाणित की जा सकती है। यदि विधेयवाक्य सामान्य नहीं हो तो विशेष होगा। तब, उसमें हेतुपद सर्वांशी नहीं होगा। न्यायवाक्य में 'असर्वांशी हेतु' का दोष न हो इसलिए हेतुपद को उद्देशवाक्य में सर्वांशी होना आवश्यक होगा। पहले क्रम में उद्देशवाक्य में हेतुपद विधेय रहता है। उसके सर्वांशी होने का अर्थ है कि वह वाक्य अवश्य निषेधात्मक होगा।

---

[१] In the first figure, the major premise must be universal.

उद्देशवाक्य निषेधात्मक होने का मतलब है कि विधेयवाक्य अवश्य विधानात्मक (क्योंकि दो निषेधात्मक वाक्यों के आधार पर कोई निष्कर्ष नहीं निकलता) और निष्कर्ष निषेधात्मक होगा। निष्कर्ष के निषेधात्मक होने से उसमें 'वि' सर्वांशी होगा। किंतु वह यहाँ विधानात्मक आधारवाक्य के विधेय होने के कारण सर्वांशी नहीं होगा। इस तरह, पहले क्रम में न्यायवाक्य के विधेयवाक्य को यदि सामान्य न मान कर विशेष मानें तो जाकर 'अनुचित विधेय'[1] का दोष आ जाता है।

(२) पहले क्रम में उद्देश-वाक्य अवश्य विधानात्मक होगा।[2]

यदि उद्देशवाक्य विधानात्मक न होकर निषेधात्मक हो तो कोई निष्कर्ष नहीं निकलेगा। कैसे? इसके निषेधात्मक होने से विधेयवाक्य अवश्य विधानात्मक, और निष्कर्ष निषेधात्मक होंगे। निष्कर्ष के निषेधात्मक होने से उसमें 'वि' सर्वांशी होगा। किंतु वह यहाँ विधानात्मक आधारवाक्य के विधेय होने के कारण सर्वांशी नहीं होगा। इस तरह, पहले क्रम में न्यायवाक्य के उद्देशवाक्य को विधानात्मक न, मान कर निषेधात्मक मानें तो 'अनुचित विधेय' का दोष आ जाता है। अतः, यह प्रामाणित हुआ कि इसका उद्देशवाक्य अवश्य विधानात्मक होगा।

* * *

पहले क्रम के इन दो 'असाधारण नियमों' को आधारवाक्यों के सोलह संभव संयोगों पर सीधे लागू करके भी देख सकते हैं कि यहाँ यही चार संयोग सिद्ध ठहरेंगे। वे सोलह संभव संयोग हैं—

'आ'-'आ'	'ए'-'आ'	'ई'-'आ'	'ओ'-'आ'
'आ'-'ए'	'ए'-'ए'	'ई'-'ए'	'ओ'-'ए'

---

[1] Illicit Major. [2] In the first figure, the minor premise must be affirmative.

'आ'-'ई'	'ए'-'ई'	'ई'-'ई'	'ओ'-'ई'
'आ'-'ओ'	'ए'-'ओ'	'ई'-'ओ'	'ओ'-'ओ'

पहले नियम के अनुसार अन्तिम आठ संयोग असिद्ध हैं, क्योंकि उनके विधेय-वाक्य सामान्य नहीं हैं। दूसरे नियम के अनुसार 'आ'-'ए', 'ए'-'ए', 'आ'-'ओ' तथा 'ए'-'ओ' भी असिद्ध हैं, क्योंकि उनके उद्देश-वाक्य विधानात्मक नहीं हैं। शेष चार ही संयोग पहले क्रम में सिद्ध हैं, जो हम ऊपर देख चुके हैं।

§ ११—दूसरे क्रम के सिद्ध संयोग[1]

आधार-वाक्यों में हेतु के स्थान दूसरे क्रम में इस प्रकार रहते हैं—

'वि'—'हे'

'उ'—'हे'

दूसरे क्रम में भी उन्हीं आठ संभव सिद्ध संयोगों की परीक्षा करके देखें कि उनमें कौन सिद्ध ठहरते हैं और कौन असिद्ध—

(१) 'आ'-'आ' संयोग का दूसरे 'क्रम' में यह रूप होगा—

'आ'—सभी 'वि' 'हे' हैं,	सभी 'प्राणी' 'मरणशील' हैं,
'आ'—सभी 'उ' 'हे' हैं,	सभी 'मनुष्य' 'मरणशील' हैं,
कोई निष्कर्ष नहीं	कोई निष्कर्ष नहीं

यहाँ हेतुपद दोनों वाक्यों में असर्वांशी ही है। अतः, इनके आधार पर कोई निष्कर्ष नहीं निकलता। दूसरे क्रम में यह संयोग असिद्ध ठहरा।

(२) 'आ'-'ए' संयोग का दूसरे 'क्रम' में यह रूप होगा—

'आ'—सभी 'वि' 'हे' हैं,	सभी 'मनुष्य' 'द्विपद' हैं,
'ए'—कोई 'उ' 'हे' नहीं है,	कोई 'घोड़ा' 'द्विपद' नहीं है,

[1] Valid Moods of the Second Figure.

∴ कोई 'उ' 'वि' नहीं है। ∴ कोई 'घोड़ा' 'मनुष्य' नहीं है।

यहाँ, हेतुपद उद्देशवाक्य में सर्वांशी है। एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष निषेधात्मक होगा। दोनों आधारवाक्यों के सामान्य होने के कारण उनका निष्कर्ष भी सामान्य हो सकता है। अर्थात् निष्कर्ष 'ए' वाक्य होगा। आधारवाक्यों में 'वि' और 'उ' दोनों के सर्वांशी होने के कारण किसी 'अनुचित दोष' की भी आशंका नहीं है। इस तरह, यह संयोग सिद्ध ठहरा। न्यायवाक्य के इस रूप का सांकेतिक नाम कामेस्ट्रेस्[1] है।

(३) 'आ'-'ई' संयोग का दूसरे 'क्रम' में यह रूप होगा—

'आ'—सभी 'वि' 'हे' हैं	सभी 'मनुष्य' 'द्विपद' हैं,
'ई'—कुछ 'उ' 'हे' हैं,	कुछ 'प्राणी' 'द्विपद' हैं,
कोई निष्कर्ष नहीं	कोई निष्कर्ष नहीं

यहाँ, हेतुपद किसी भी आधारवाक्य में सर्वांशी नहीं है, इसलिए कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता। दूसरे क्रम में यह संयोग असिद्ध ठहरा।

(४) 'आ'-'ओ' संयोग का दूसरे 'क्रम' में यह रूप होगा—

'आ'—सभी 'वि' 'हे' हैं,	सभी 'मनुष्य' 'द्विपद' हैं,
'ओ'—कुछ 'उ' 'हे' नहीं हैं,	कुछ 'प्राणी' 'द्विपद' नहीं हैं,
∴ कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं।	∴ कुछ 'प्राणी' 'मनुष्य' नहीं हैं।

यहाँ, हेतुपद उद्देशवाक्य में सर्वांशी है। एक आधारवाक्य के निषेधात्मक और विशेष होने के कारण निष्कर्ष भी अवश्य निषेधात्मक और विशेष होगा। निषेधात्मक निष्कर्ष में 'वि' सर्वांशी होगा। वह आधारवाक्य में भी सर्वांशी है। अतः, 'अनुचित विधेय' दोष की आशंका नहीं है। इस तरह, दूसरे क्रम में यह संयोग सिद्ध ठहरा। इसका सांकेतिक नाम है बारोको[2]।

[1] Camestres. [2] Baroco.

(५) 'ए'-'आ' संयोग का दूसरे 'क्रम' में यह रूप होगा—

'ए'— कोई 'वि' 'हे' नहीं है,   कोई 'मनुष्य' 'चतुष्पद' नहीं है,
'आ'— सभी 'उ' 'हे' हैं,   सभी 'घोड़े' 'चतुष्पद' हैं,
∴ कोई 'उ' 'वि' नहीं है।   ∴ कोई 'घोड़ा' 'मनुष्य' नहीं है।

यहाँ, हेतुपद विधेयवाक्य में सर्वांशी है। एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष निषेधात्मक होगा। दोनों आधारवाक्यों के सामान्य होने के कारण निष्कर्ष भी सामान्य हो सकता है। अतः, निष्कर्ष 'ए' वाक्य हो सकता है। ऐसा होने में किसी 'अनुचित दोष' की भी आशंका नहीं है, क्योंकि आधारवाक्यों में 'उ' और 'वि' दोनों सर्वांश हैं। निष्कर्ष में वे मजे में सर्वांशी हो सकते हैं। अतः, दूसरे क्रम में यह संयोग सिद्ध ठहरा। इस न्यायवाक्य का सांकेतिक नाम है—केसारे[1]।

(६) 'ए'-'ई' संयोग का दूसरे 'क्रम' में यह रूप होगा—

'ए'— कोई 'वि' 'हे' नहीं है,   कोई 'सिंह' 'डरपोक' नहीं है,
'ई'— कुछ 'उ' 'हे' हैं,   कुछ 'जानवर' 'डरपोक' हैं,
∴ कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं।   ∴ कुछ 'जानवर' 'सिंह' नहीं हैं।

यहाँ, हेतुपद विधेयवाक्य में सर्वांशी है। एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष निषेधात्मक होगा। और, एक आधारवाक्य के विशेष होने के कारण निष्कर्ष भी विशेष होगा। अर्थात्, निष्कर्ष 'ओ' वाक्य होगा। निषेधात्मक निष्कर्ष में 'वि' सर्वांशी होगा। वह आधारवाक्य में भी सर्वांशी है; इससे 'अनुचित विधेय' का दोष नहीं हो सकता। अतः, दूसरे क्रम में यह संयोग सिद्ध ठहरा। इस न्यायवाक्य का सांकेतिक नाम है—फेस्टीनो[2]।

(७) 'ई'-'आ' संयोग का दूसरे 'क्रम' में यह रूप होगा—

'ई'— कुछ 'वि' 'हे' हैं,   कुछ 'प्राणी' 'अण्डज' हैं,

---

[1] Cesare.   [2] Festino.

'आ'— सभी 'उ' 'हे' हैं, सभी 'कबूतर' 'अण्डज' हैं,
कोई निष्कर्ष नहीं कोई निष्कर्ष नहीं

यहाँ, हेतुपद किसी भी आधारवाक्य में सर्वांशी नहीं है। अतः, कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता। दूसरे क्रम में यह संयोग असिद्ध ठहरा।

(८) 'ओ'-'आ' संयोग का दूसरे 'क्रम' में यह रूप होगा—

'ओ'— कुछ 'वि' 'हे' नहीं हैं, कुछ 'मनुष्य' 'ज्ञानी' नहीं हैं,
'आ'— सभी 'उ' 'हे' हैं, सभी 'योगी' 'ज्ञानी' हैं,
कोई निष्कर्ष नहीं कोई निष्कर्ष नहीं

यहाँ, हेतुपद विधेयवाक्य में सर्वांशी है, अतः 'असर्वांशी हेतु' का दोष नहीं है। एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष निषेधात्मक होता। तब, उसमें 'वि' सर्वांशी होता। किंतु आधारवाक्य में वह असर्वांशी ही है। अतः इनके आधार पर निष्कर्ष निकालने में 'अनुचित विधेय' का दोष हो जायगा। दूसरे क्रम में यह संयोग असिद्ध ठहरा।

§ १२—दूसरे क्रम के अपने नियम[1]

दूसरे क्रम में आधारवाक्यों के आठ संभव सिद्ध संयोगों की परीक्षा करके देखा कि उनमें केवल चार सिद्ध ठहरते हैं। निष्कर्ष के साथ इन सिद्ध न्यायवाक्यों को द्वितीय-क्रम-सिद्ध-संयोग कहते हैं। उन्हें एक साथ रख कर देखें कि उनमें क्या समानतायें हैं—

'ए'–'आ'–'ए' केसारे
'आ'–'ए'–'ए' कामेस्ट्रेस
'ए'–'ई'–'ओ' फेस्टीनो
'आ'–'ओ'–'ओ' बारोको

---

[1]The Special Rules of the Second Figure.

इनमें तीन समानतायें हैं:—(१) सभी में विधेयवाक्य सामान्य हैं, (२) सभी में एक आधारवाक्य अवश्य निषेधात्मक है, और (३) सभी में निष्कर्ष निषेधात्मक है। दूसरे क्रम के यही तीन अपने असाधारण नियम हैं। न्यायवाक्य के साधारण नियमों का भी प्रयोग करके इनकी सत्यता प्रामाणित कर सकते हैं। जैसे—

(१) दूसरे क्रम में विधेयवाक्य अवश्य सामान्य होगा।[1]

यदि विधेयवाक्य सामान्य नहीं हो तो विशेष होगा। तब, उसका उद्देश 'वि' सर्वांशी नहीं होगा। निष्कर्ष में भी वह सर्वांशी नहीं हो सकता। निष्कर्ष में 'वि' के सर्वांशी न होने का अर्थ हुआ कि वह विधानात्मक होगा, क्योंकि निषेधात्मक वाक्य का विधेय अवश्य सर्वांशी होता है। फिर, निष्कर्ष के विधानात्मक होने का अर्थ है कि दोनों आधारवाक्य अवश्य विधानात्मक होंगे, क्योंकि उनमें एक के भी निषेधात्मक होने से निष्कर्ष वैसा न हो सकता। यदि दोनों आधारवाक्य विधानात्मक हुए तो उनमें हेतुपद के एक बार भी सर्वांशी होने का अवसर नहीं होगा, क्योंकि दूसरे क्रम में हेतुपद दोनों आधारवाक्यों में विधेय होते हैं।

इस तरह, यहाँ विधेयवाक्य के विशेष होने से जा कर 'असर्वांशी हेतु' का दोष उपस्थित होता है। इससे प्रामाणित हुआ कि दूसरे क्रम में विधेयवाक्य विशेष नहीं किन्तु सामान्य ही होगा।

(२) दूसरे क्रम में एक आधारवाक्य अवश्य निषेधात्मक होगा।[2]

दूसरे क्रम में हेतुपद दोनों आधार-वाक्यों में विधेय होता है। अतः उसे एक बार सर्वांशी होने के लिए एक आधारवाक्य को अवश्य निषेधात्मक होना होगा, क्योंकि निषेधात्मक वाक्य का ही विधेय सर्वांशी होता

[1] In the Second Figure, the major premise must be universal. [2] In the Second Figure, one of the premises must be negative.

है। यदि दोनों आधारवाक्य विधानात्मक हुए तो हेतुपद के एक बार भी सर्वांशी न होने के कारण 'असर्वांशी हेतु' का दोष हो जायगा। इससे प्रामाणित हुआ कि दूसरे क्रम में एक आधारवाक्य अवश्य निषेधात्मक होगा।

(३) दूसरे क्रम में निष्कर्ष अवश्य निषेधात्मक होगा।[1]

यदि निष्कर्ष निषेधात्मक न हुआ तो विधानात्मक होगा। तब, दोनों आधारवाक्य भी विधानात्मक होंगे। वैसी दशा में, जैसा ऊपर देख चुके हैं, हेतुपद के एक बार भी सर्वांशी होने का अवसर न होगा। इस तरह, निष्कर्ष को विधानात्मक मानने से जा कर, 'असर्वांशी हेतु' का दोष उपस्थित होता है। इससे यह नियम प्रामाणित हुआ कि दूसरे क्रम में निष्कर्ष अवश्य निषेधात्मक होगा।

इन तीन 'असाधारण नियमों' को उन सोलह संभव संयोगों पर लागू कर निश्चित कर सकते हैं कि दूसरे क्रम में कौन सिद्ध होंगे, और कौन नहीं। पहले नियम से अन्तिम आठ संयोग असिद्ध होते हैं, क्योंकि उनका विधेय-वाक्य सामान्य नहीं है। दूसरे नियम के अनुसार 'आ'–'आ', और 'आ'–'ई' असिद्ध हैं, क्योंकि इनमें एक भी निषेधात्मक नहीं है। इसी नियम के अनुसार 'ए'–'ए' और 'ए'–'ओ' भी असिद्ध हैं, क्योंकि ये दोनों निषेधात्मक हैं। शेष चार संयोग ही सिद्ध हैं, जिनके सांकेतिक नाम हैं—केसारे, कामेस्ट्रेस्, फेस्टीनो और बारोको।

§ १३—तीसरे क्रम के सिद्ध संयोग[2]

तीसरे क्रम में हेतुपद के स्थान आधारवाक्यों में इस प्रकार होते हैं—

---

[1] In the Second Figure, the conclusion must be negative. [2] Valid Moods of the Third Figure.

'हे'—'वि'

'हे'—'उ'

इस क्रम में भी आठ संभव सिद्ध संयोगों की परीक्षा करके देखें कि उनमें कौन सिद्ध ठहरते हैं और कौन असिद्ध ।

(१) 'आ'-'आ' संयोग का तीसरे 'क्रम' में यह रूप होगा—

'आ'—सभी 'हे' 'वि' हैं,	सभी 'भारतीय' 'स्वतंत्र' हैं,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' हैं,	सभी 'भारतीय' 'देशभक्त' हैं,
∴ कुछ 'उ' 'वि' हैं ।	∴ कुछ 'देशभक्त' 'स्वतंत्र' हैं ।

यहाँ हेतुपद दोनों आधारवाक्यों में सर्वांशी है । दोनों आधारवाक्यों के विधानात्मक होने के कारण उनका निष्कर्ष भी विधानात्मक होगा । दोनों आधारवाक्यों के सामान्य होने के कारण निष्कर्ष भी सामान्य हो सकता था; किंतु आधारवाक्य में 'उ' के सर्वांशी न होने के कारण निष्कर्ष में वह असर्वांशी ही रहेगा । अतः, निष्कर्ष सामान्य न होकर विशेष ही होगा । अर्थात्, वह 'ई' वाक्य होगा । 'ई' वाक्य में कोई पद सर्वांशी नहीं होता; अतः किसी 'अनुचित दोष' के होने की भी संभावना नहीं है । तब, यह संयोग तीसरे क्रम में सिद्ध ठहरा । इस न्यायवाक्य का सांकेतिक नाम दाराप्ती[1] है ।

(२) 'आ'-'ए' संयोग का तीसरे 'क्रम' में यह रूप होगा—

'आ'—सभी 'हे' 'वि' हैं,	सभी 'मनुष्य' 'द्विपद' हैं,
'ए'—कोई 'हे' 'उ' नहीं है,	कोई 'मनुष्य' 'चतुष्पद' नहीं है,
कोई निष्कर्ष नहीं	कोई निष्कर्ष नहीं

यहाँ, हेतुपद दोनों आधारवाक्यों में सर्वांशी है । एक आधारवाक्य

[1] Darapti.

के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा, और तब उसमें 'वि' सर्वांशी होगा। किंतु आधारवाक्य में 'वि' सर्वांशी नहीं है। अतः, 'अनुचित विधेय' दोष हो जाने के कारण यह संयोग असिद्ध ठहरा। इससे कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता।

(३) 'आ'-'ई' संयोग का तीसरे 'क्रम' में रूप होगा—

'आ'—सभी 'हे' 'वि' हैं,	सभी 'मनुष्य' 'द्विपद' हैं,
'ई'— कुछ 'हे' 'उ' हैं,	कुछ 'मनुष्य' 'गोरे' हैं,
∴ कुछ 'उ' 'वि' हैं।	∴ कुछ 'गोरे' 'द्विपद' हैं।

यहाँ, हेतुपद विधेयवाक्य में सर्वांशी है। दोनों आधारवाक्यों के विधानात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी विधानात्मक होगा। एक आधार-वाक्य के विशेष होने के कारण निष्कर्ष भी विशेष होगा। अर्थात् वह 'ई' वाक्य होगा। 'ई' वाक्य में कोई पद सर्वांशी नहीं है, अतः किसी 'अनुचित दोष' की आशंका भी नहीं है। इस तरह, तीसरे क्रम में यह संयोग सिद्ध ठहरा। इसका सांकेतिक नाम है दातीसी[१]।

(४) 'आ'-'ओ' संयोग का तीसरे 'क्रम' में यह रूप होगा—

'आ'—सभी 'हे' 'वि' हैं,	सभी 'वृक्ष' 'हरे' हैं,
'ओ'—कुछ 'हे' 'उ' नहीं हैं,	कुछ 'वृक्ष' 'बड़े' नहीं हैं,
कोई निष्कर्ष नहीं	कोई निष्कर्ष नहीं

यहाँ, हेतुपद विधेयवाक्य में सर्वांशी है। एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी निषेधात्मक होता। और तब उसमें 'वि' सर्वांशी होता। किंतु आधारवाक्य में 'वि' सर्वांशी नहीं है। अतः, 'अनुचित विधेय' दोष उत्पन्न होने के कारण कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता। तीसरे क्रम में यह संयोग असिद्ध ठहरा।

(५) 'ए'-'आ' संयोग का तीसरे 'क्रम' में यह रूप होगा—

---

[१] Datisi.

'ए'— कोई 'हे' 'वि' नहीं है   कोई 'चोर' 'सत्यवादी' नहीं है,
'आ'— सभी 'हे' 'उ' हैं,   सभी 'चोर' 'हिंसक' हैं,
∴ कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं। ∴ कुछ 'हिंसक' 'सत्यवादी' नहीं हैं।

यहाँ, हेतुपद दोनों आधारवाक्यों में सर्वांशी है। एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा। दोनों आधारवाक्यों के सामान्य होने के कारण निष्कर्ष सामान्य हो सकता था। किंतु, आधारवाक्य में 'उ' असर्वांशी होने के कारण वह निष्कर्ष में सर्वांशी नहीं हो सकता। अर्थात्, निष्कर्ष सामान्य नहीं होगा; 'ओ' होगा। इस तरह, यह संयोग तीसरे क्रम में सिद्ध ठहरा। इसका सांकेतिक नाम है फेलाप्टोन्[1]।

(६) 'ए'-'ई' संयोग का तीसरे 'क्रम' में यह रूप होगा—
'ए'— कोई 'हे' 'वि' नहीं है,   कोई 'मनुष्य' 'चतुष्पद' नहीं है,
'ई'— कुछ 'हे' 'उ' हैं,   कुछ 'मनुष्य' 'काने' हैं,
∴ कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं। ∴ कुछ 'काने' 'चतुष्पद' नहीं हैं।

यहाँ, हेतुपद विधेयवाक्य में सर्वांशी है। एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा। और, एक आधारवाक्य के विशेष होने से निष्कर्ष भी विशेष होगा। अर्थात्, वह 'ओ' वाक्य होगा। निष्कर्ष के निषेधात्मक होने के कारण उसमें 'वि' सर्वांशी होगा। वह यहाँ आधारवाक्य में भी सर्वांशी है, अतः 'अनुचित विधेय' का दोष नहीं हो सकता। इस तरह, तीसरे क्रम में यह संयोग सिद्ध ठहरा। इस न्यायवाक्य का सांकेतिक नाम है फेरीसोन्[2]।

(७) 'ई'-'आ' संयोग का तीसरे 'क्रम' में यह रूप होगा—
'ई'— कुछ 'हे' 'वि' हैं,   कुछ 'पंजाबी' 'वीर' हैं,
'आ'— सभी 'हे' 'उ' हैं,   सभी 'पंजाबी' 'भारतीय' हैं,

---

[1] Felapton.   [2] Ferison.

∴ कुछ 'उ' 'वि' हैं।　　∴ कुछ 'भारतीय' 'वीर' हैं।

यहाँ, हेतुपद उद्देशवाक्य में सर्वांशी है। दोनों आधारवाक्यों के विधानात्मक होने के कारण निष्कर्ष भो विधानात्मक होगा। एक आधार-वाक्य के विशेष होने के कारण निष्कर्ष भी विशेष होगा। अर्थात् वह 'ई' वाक्य होगा। 'ई' वाक्य में कोई पद सर्वांशी नहीं होता, अतः किसी 'अनुचित दोष' की संभावना नहीं है। इस तरह, यह संयोग तीसरे क्रम में सिद्ध ठहरा। इस न्यायवाक्य का सांकेतिक नाम है दीसामीस्[1]।

(८) 'ओ'-'आ' संयोग का तीसरे 'क्रम' में यह रूप होगा—

'ओ'—	कुछ 'हे' 'वि' नहीं हैं,	कुछ 'आम' 'मीठे' नहीं हैं,
'आ'—	सभी 'हे' 'उ' हैं,	सभी 'आम' 'फल' हैं
	∴ कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं।	∴ कुछ "फल' 'मीठे' नहीं हैं।

यहाँ, हेतुपद उद्देशवाक्य में सर्वांशी है। एक आधारवाक्य के विशेष और निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी वैसा ही होगा। अर्थात् वह 'ओ' वाक्य होगा। निष्कर्ष के निषेधात्मक होने के कारण उसमें 'वि' सर्वांशी होगा। वह आधारवाक्य में भी सर्वांशी है, अतः 'अनुचित दोष' नहीं हो सकता। इस तरह, तीसरे क्रम में यह संयोग सिद्ध ठहरा। इस न्यायवाक्य का सांकेतिक नाम है बोकार्डो[2]।

§ १४—तीसरे क्रम के अपने नियम[3]

तीसरे क्रम में भी आधारवाक्यों के आठ संभव सिद्ध संयोगों की परीक्षा करके देखा कि उनमें केवल दो को छोड़ शेष छः सिद्ध ठहरते हैं। निष्कर्ष के साथ इन सिद्ध न्यायवाक्यों को तृतीय-क्रम-सिद्ध-संयोग कहते हैं। उन्हें एक साथ रख कर देखें कि उनमें क्या समानतायें हैं—

---

[1] Disamis.　　[2] Bocardo.
[3] The Special Rules of the Third Figure.

'आ'—'आ'—'ई'   दाराप्ती
'आ'—'ई'—'ई'   दातीसी
'ए'—'आ'—'ओ'   फेलाप्तो
'ए'—'ई'—'ओ'   फेरीसीन्
'ई'—'आ'—'ई'   दीसामीस्
'ओ'—'आ'—'ओ'   बोकार्डो

इनमें दो समानतायें हैं—(१) सभी के उद्देशवाक्य विधानात्मक हैं, (२) सभी में निष्कर्ष विशेष है। तीसरे क्रम के यही अपने असाधारण नियम हैं। न्यायवाक्य के साधारण नियमों का प्रयोग करके भी तीसरे क्रम के इन असाधारण नियमों की प्रामाणिकता दिखाई जा सकती है। जैसे—

(१) तीसरे क्रम में उद्देशवाक्य विधानात्मक ही होगा।[1]

यदि उद्देशवाक्य विधानात्मक न हुआ तो निषेधात्मक होगा। तब विधेयवाक्य विधानात्मक होगा, क्योंकि दो निषेधात्मक वाक्यों के आधार पर कोई निष्कर्ष नहीं निकलता। और, एक आधार वाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा। निष्कर्ष के निषेधात्मक होने से उसमें 'वि' सर्वांशी होगा। किंतु वह विधानात्मक विधेयवाक्य में विधेय होने के कारण सर्वांशी नहीं हो सकता। अतः, उद्देशवाक्य को निषेधात्मक मानने से जा कर 'अनुचित विधेय' का दोष हो जायगा। इससे यह नियम प्रामाणित हुआ कि तीसरे क्रम में उद्देशवाक्य विधानात्मक ही होगा।

(२) तीसरे क्रम में निष्कर्ष विशेष ही होगा।[2]

---

[1] In the third figure, the minor premise must be affirmative. [2] In the third figure, the conclusion must be particular.

यदि निष्कर्ष विशेष नहीं हो तो सामान्य होगा। निष्कर्ष के सामान्य होने का अर्थ है कि उसमें 'उ' सर्वांशी है। निष्कर्ष में 'उ' के सर्वांशी होने से उसे आधारवाक्य में भी सर्वांशी होना चाहिए। तीसरे क्रम में उद्देशवाक्य में 'उ' विधेय होता है, अतः उसके सर्वांशी होने का अर्थ है कि वह निषेधात्मक वाक्य होगा; क्योंकि विधानात्मक वाक्य का विधेय कभी सर्वांशी नहीं होता। उद्देशवाक्य के निषेधात्मक होने से विधेयवाक्य विधानात्मक और निष्कर्ष निषेधात्मक होगा। निष्कर्ष के निषेधात्मक होने से उसमें 'वि' सर्वांशी होगा; और तब उसे विधेय-वाक्य में भी सर्वांशी होना चाहिए। किंतु अभी देख चुके हैं कि विधेयवाक्य विधानात्मक होगा; और इस कारण इस क्रम में उसमें 'वि' सर्वांशी नहीं होगा। अतः, निष्कर्ष को सामान्य मान लेने से जा कर 'अनुचित विधेय-दोष' उत्पन्न हो जाता है। इससे यह नियम प्रामाणित हुआ कि तीसरे क्रम में निष्कर्ष अवश्य विशेष होगा।

अब, इन असाधारण नियमों को उन सोलह संभव संयोगों पर लागू कर निश्चित कर सकते हैं कि तीसरे क्रम में कौन सिद्ध होंगे और कौन नहीं। पहले नियम से ये संयोग असिद्ध ठहरते हैं—'आ'-'ए', 'आ'-'ओ', 'ए'-'ए', 'ए'-'ओ', 'ई'-'ए', 'ई'-'ओ', 'ओ'-'ए', और 'ओ'-'ओ', क्योंकि इनके उद्देशवाक्य विधानात्मक नहीं हैं।

'ई'-'ई' और 'ई'-'ओ', इन दो संयोगों को इस साधारण नियम से असिद्ध ठहरा सकते हैं कि दो विशेष-वाक्यों के आधार पर कोई निष्कर्ष नहीं निकलता (नियम ५.)। इन्हें असाधारण नियम से असिद्ध ठहराने के लिए कुछ पुस्तकों में तीसरे क्रम का एक और असाधारण नियम स्वीकार किया गया है, कि दोनों आधारवाक्यों में एक अवश्य सामान्य होगा। और इसे साधारण नियमों से इस प्रकार प्रामाणित करते हैं कि—

तीसरे क्रम में हेतुपद दोनों आधारवाक्यों में उद्देश होता है, अतः उसे कम से कम एक बार सर्वांशी होने के लिए एक को अवश्य सामान्य होना होगा।

किंतु, यथार्थ में यह नियम तो न्यायवाक्य का ८ वाँ साधारण नियम ही है। तब, इस क्रम के सिद्ध संयोग हुए—दाराप्ती, दीसामीस, दार्तीसी, फेलाप्टोन्, बोकार्डो, और फेरीसोन्।

§ ६५—चौथे क्रम के सिद्ध संयोग[1]

चौथे क्रम में हेतुपद के स्थान आधारवाक्यों में इस प्रकार होते हैं—

'वि'—'हे'

'हे'—'उ'

इस क्रम में भी आठ सम्भव सिद्ध संयोगों की परीक्षा करके देखें कि उनमें कौन सिद्ध ठहरते हैं और कौन असिद्ध—

(१) 'आ'-'आ' संयोग का चौथे 'क्रम' में यह रूप होगा—

'आ'—सभी 'वि' 'हे' हैं,	सभी 'तिवारी' 'ब्राह्मण' हैं
'आ'—सभी 'हे' 'उ' हैं,	सभी 'ब्राह्मण' 'हिन्दू' हैं,
∴ कुछ 'उ' 'वि' हैं।	∴ कुछ 'हिन्दू' 'तिवारी' हैं।

यहाँ, हेतुपद उद्देशवाक्य में सर्वांशी है। दोनों आधारवाक्यों के विधानात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी विधानात्मक होगा। आधारवाक्य में 'उ' असर्वांशी होने के कारण निष्कर्ष में भी वैसा ही होगा। अर्थात् निष्कर्ष विशेष विधानात्मक (= 'ई') होगा। 'ई' वाक्य में कोई पद सर्वांशी नहीं होता; अतः, किसी 'अनुचित दोष' की आशंका नहीं है। इस तरह, यह संयोग चौथे क्रम में सिद्ध ठहरा। इस न्यायवाक्य का सांकेतिक नाम है ब्रामान्तीप्।[2]

(२) 'आ'-'ए' संयोग का चौथे 'क्रम' में यह रूप होगा—

'आ'—सभी 'वि' 'हे' हैं,	सभी 'ब्राह्मण' 'हिन्दू' हैं,

---

[1] Valid moods of the Fourth Figure.

[2] Bramantip.

'ए'—कोई 'हे' 'उ' नहीं है, कोई 'हिन्दू' 'मुसल्मान' नहीं है,
∴ कोई 'उ' 'वि' नहीं है। ∴ कोई 'मुसल्मान' 'ब्राह्मण' नहीं है।

यहाँ, हेतुपद उद्देशवाक्य में सर्वांशी है। एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष निषेधात्मक होगा। दोनों आधारवाक्यों के सामान्य होने के कारण निष्कर्ष भी सामान्य हो सकता है। अर्थात् यह 'ए' वाक्य होगा। आधारवाक्यों में 'उ' और 'वि' दोनों सर्वांशी हैं; अतः निष्कर्ष में उनके सर्वांशी होने से कोई दोष नहीं। इस तरह, यह संयोग चौथे क्रम में सिद्ध ठहरा। इस न्यायवाक्य का सांकेतिक नाम है कामेनेस्[1]।

(३) 'आ'-'ई' संयोग का चौथे 'क्रम' में यह रूप होगा—
'आ'—सभी 'वि' 'हे' हैं, सभी 'आम' 'फल' हैं,
'ई'—कुछ 'हे' 'उ' हैं, कुछ 'फल' 'कंटीले' हैं,
कोई निष्कर्ष नहीं। कोई निष्कर्ष नहीं।

यहाँ, हेतुपद किसी भी आधारवाक्य में सर्वांशी नहीं है। अतः इनसे कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता। यह संयोग चौथे क्रम में असिद्ध ठहरा।

(४) 'आ'-'ओ' संयोग का चौथे 'क्रम' में यह रूप होगा—
'आ'—सभी 'वि' 'हे' हैं। सभी 'गाय' 'चतुष्पद' हैं,
'ओ'—कुछ 'हे' 'उ' नहीं हैं, कुछ 'चतुष्पद' 'घोड़े' नहीं हैं,
कोई निष्कर्ष नहीं। कोई निष्कर्ष नहीं।

यहाँ भी ऊपर ही की तरह हेतुपद आधारवाक्यों में एक बार भी सर्वांशी नहीं है। अतः इनसे कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता। यह संयोग चौथे क्रम में असिद्ध ठहरा।

(५) 'ए'-'आ' संयोग का चौथे 'क्रम' में यह रूप होगा—

---

[1] Camenes.

'ए'—कोई 'वि' 'हे' नहीं है,   कोई 'निर्धन' 'सेठ' नहीं है,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' हैं,   सभी 'सेठ' 'दानी' हैं,
∴ कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं।   ∴ कुछ 'दानी' 'निर्धन' नहीं हैं।

यहाँ, हेतुपद दोनों आधारवाक्यों में सर्वांशी है। एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष निषेधात्मक होगा। दोनों आधारवाक्यों के सामान्य होने के कारण निष्कर्ष भी सामान्य हो सकता था। किंतु आधारवाक्य में 'उ' असर्वांशी होने के कारण निष्कर्ष में सर्वांशी नहीं हो सकता। अर्थात् निष्कर्ष सामान्य नहीं हो सकता; वह विशेष ही ('ओ') रहेगा। निष्कर्ष में 'वि' सर्वांशी है, वह आधारवाक्य में भी सर्वांशी है। इस तरह, यह संयोग चौथे क्रम में सिद्ध ठहरा। इस न्यायवाक्य का सांकेतिक नाम है फेसापो[1]।

(६) 'ए'-'ई' संयोग का चौथे 'क्रम' में यह रूप होगा—

'ए'—कोई 'वि' 'हे' नहीं है,   कोई 'पण्डित' 'मूर्ख' नहीं है,
'ई'—कुछ 'हे' 'उ' हैं,   कुछ 'मूर्ख' 'चमार' हैं,
∴ कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं।   ∴ कुछ 'चमार' 'पण्डित' नहीं हैं।

यहाँ, हेतुपद विधेयवाक्य में सर्वांशी है। एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा। एक आधारवाक्य के विशेष होने के कारण निष्कर्ष भी विशेष होगा। अर्थात् वह 'ओ' वाक्य होगा। निष्कर्ष के निषेधात्मक होने से उसमें 'वि' सर्वांशी होगा; वह आधारवाक्य में भी सर्वांशी है, अतः 'अनुचित विधेय' का दोष नहीं आ सकता। इस तरह, यह संयोग चौथे क्रम में सिद्ध ठहरा। इस न्यायवाक्य का सांकेतिक नाम है फ्रेसीसोन्[2]।

(७) 'ई'-'आ' संयोग का चौथे 'क्रम' में यह रूप होगा—

'ई'—कुछ 'वि' 'हे' हैं,   कुछ 'भारतीय' 'ब्राह्मण' हैं,

---

[1] Fesapo.   [2] Fresison.

'आ'—सभी 'हे' 'उ' हैं, सभी 'ब्राह्मण' 'हिन्दू' हैं,
∴ कुछ 'उ' 'वि' हैं। ∴ कुछ 'हिन्दू' 'भारतीय' हैं।

यहाँ, हेतुपद उद्देशवाक्य में सर्वांशी है। दोनों आधारवाक्यों के विधानात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी विधानात्मक होगा। एक आधार-वाक्य के विशेष होने के कारण निष्कर्ष भी विशेष होगा। अर्थात् वह 'ई' वाक्य होगा। 'ई' वाक्य में कोई पद सर्वांशी नहीं होता, अतः किसी 'अनुचित दोष' की आशंका नहीं है। इस तरह, यह संयोग चौथे क्रम में सिद्ध ठहरा। इस न्यायवाक्य का सांकेतिक नाम है दीमारीस्[1]।

(८) 'ओ'-'आ' संयोग का चौथे 'क्रम' में यह रूप होगा—

'ओ'—कुछ 'वि' 'हे' नहीं हैं, कुछ 'अफ्रीकी' 'हब्शी' नहीं हैं,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' हैं, सभी 'हब्शी' 'काले' हैं,
कोई निष्कर्ष नहीं। कोई निष्कर्ष नहीं।

यहाँ, हेतुपद दोनों आधारवाक्यों में सर्वांशी है। एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा। तब, इसमें 'वि' सर्वांशी होगा। किन्तु यहाँ आधारवाक्य में 'वि' सर्वांशी नहीं है। अतः 'अनुचित विधेय' का दोष उपस्थित हो जायगा। इस तरह, यह संयोग चौथे क्रम में असिद्ध ठहरा।

§ १६—चौथे क्रम के अपने नियम[2]

चौथे क्रम में भी आधारवाक्यों के आठ सम्भव सिद्ध संयोगों की परीक्षा करके देखा कि उनमें तीन को छोड़ शेष पाँच सिद्ध ठहरते हैं। निष्कर्ष के साथ इन सिद्ध न्यायवाक्यों को 'चतुर्थ-क्रम-सिद्ध-संयोग' कहते हैं। उन्हें एक साथ रख कर उनकी परीक्षा करें—

---

[1] Dimaris.

[2] The Special Rules of the Fourth Figure.

'आ'-'आ'-'ई'   ब्रामान्तीप्
'आ'-'ए'-'ए'   कामेनेस्
'ए'-'आ'-'ओ'   फेसापो
'ए'-'ई'-'ओ'   फ्रेसीसोन्
'ई'-'आ'-'ई'   दीमारीस्

इन्हें देखने से इनमें ये नियम निकलते हैं—

(१) यदि विधेयवाक्य विधानात्मक हो, तो उद्देशवाक्य सामान्य होगा।

(२) यदि उद्देशवाक्य विधानात्मक हो, तो निष्कर्ष विशेष होगा।

(३) यदि कोई भी आधारवाक्य निषेधात्मक हो, तो विधेयवाक्य सामान्य होगा।[१]

न्यायवाक्य के साधारण नियमों को भी लागू करके इन असाधारण नियमों की प्रामाणिकता दिखाई जा सकती है। जैसे—

(१) यदि विधेयवाक्य विधानात्मक हो तो इसमें हेतुपद सर्वांशी नहीं हो सकता। अतः इसे उद्देशवाक्य में सर्वांशी होना अवश्य चाहिए। इस क्रम में हेतुपद उद्देशवाक्य में उद्देश होता है। उसके सर्वांशी होने का अर्थ है कि वाक्य सामान्य होगा।

---

[१](१) If the major premise be affirmative, the minor must be universal.

(२) If the minor premise be affirmative, the conclusion must be particular.

(३) If either premise be negative, the major must be universal.

(२) यदि उद्देशवाक्य विधानात्मक हो, तो इसमें उद्देशपद सर्वांशी नहीं होगा। अतः यह निष्कर्ष में भी सर्वांशी नहीं हो सकता। निष्कर्ष में उद्देश के असर्वांशी होने का अर्थ है कि वह वाक्य विशेष होगा।

(३) यदि कोई भी आधारवाक्य निषेधात्मक होगा तो निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा। तब, उसका विधेय सर्वांशी होगा। 'अनुचित विधेय' के दोष से बचने के लिए उसे विधेयवाक्य में भी सर्वांशी होना होगा। और, इस क्रम में विधेयवाक्य में 'वि' उद्देश होता है। उसके सर्वांशी होने का अर्थ है कि वह वाक्य सामान्य होगा।

§ १७—संक्षेप

आधारवाक्यों के कुल सोलह संभव-संयोग हैं। न्यायवाक्य के 'साधारण नियमों' को लागू करने पर उनमें केवल आठ संभव-सिद्ध-संयोग निकले।

आधारवाक्यों के इन आठ 'संभव-सिद्ध-संयोगों' को चारो क्रमों में जाँच कर देखा कि प्रथम क्रम में चार, द्वितीय में चार, तृतीय में छः, और चतुर्थ में पाँच ऐसे हैं जिनसे कोई निष्कर्ष निकलता है। आधारवाक्यों के साथ उनके निष्कर्ष-वाक्यों को भी युक्त कर जो ये १९ सिद्ध न्यायवाक्य बनते हैं उन्हें सिद्ध-न्यायवाक्य-संयोग कहते हैं।

'आ'-'आ'	'ए'-'आ'	'ई'-'आ'	'ओ'-'आ'
'आ'-'ए'	'ए'-'ए' ×	'ई'-'ए' ×	'ओ'-'ए' ×
'आ'-'ई'	'ए'-'ई'	'ई'-'ई' ×	'ओ'-'ई' ×
'आ'-'ओ'	'ए'-'ओ' ×	'ई'-'ओ' ×	'ओ' 'ओ' ×

आधारवाक्यों के ये सोलह 'संभव-संयोग' हैं। × चिह्नित को छोड़ शेष ८ 'संभव-सिद्ध-संयोग' हैं। चार क्रमों में उनके आधार पर इस प्रकार १९ 'सिद्ध-न्यायवाक्य-संयोग बनते हैं—

संभव-सिद्ध-संयोग	पहला क्रम	दूसरा क्रम	तीसरा क्रम	चौथा क्रम
'आ'-'आ'	'आ'-'आ'-'आ'	..	'आ-'आ'-'ई'	'आ'-'आ'-'ई'
'आ'-'ए'	..	'आ'-'ए'-'ए'	..	'आ'-'ए'-'ए'
'आ'-'ई'	'आ'-'ई'-'ई'	..	'आ'-'ई'-'ई'	..
'आ'-'ओ'	..	'आ'-'ओ'-'ओ'	..	..
'ए'-'आ'	'ए'-'आ'-'ए'	'ए'-'आ'-'ए'	'ए'-'आ'-'ओ'	'ए'-'आ'-'ओ'
'ए'-'ई'	'ए'-'ई'-'ओ'	'ए'-'ई'-'ओ'	'ए'-'ई'-'ओ'	'ए'-'ई'-'ओ'
'ई'-'आ'	..	..	'ई'-'आ'-'ई'	'ई'-'आ'-'ई'
'ओ'-'आ'	..	..	'ओ'-'आ'-'ओ'	..

इन सिद्ध-न्यायवाक्य-संयोगों के संकेत-सूत्र[1] इस प्रकार हैं—

बार्बारा, (Barbara) केलारेण्ट्, (Celarent) दारीई, (Darii) फेरीओ; (Ferio)

केसारे, (Cesare) कामेस्ट्रेस, (Camestres) फेस्टीनो, (Festino) बारोको; (Baroco)

दाराप्ती, (Darapti) दीसामीस्, (Disamis) दातीसी, (Datisi) फेलाप्तोन्; (Felapton)

बोकार्डो, (Bocardo) फेरीसोन्; (Ferison)

ब्रामान्तीप्, (Bramantip), कामेनेस्, (Camenes) दीमारीस्, (Dimaris) फेसापो, (Fesapo)

फ्रेसीसोन्। (Fresison)

---

[1] The Mnemonic Lines. इन्हें कण्ठ कर लेना चाहिए।

§ १८—सिद्ध-न्यायवाक्य-संयोगों का परस्पर रूपान्तर

पाश्चात्य तर्कशास्त्र का आदि प्रणेता युनानी दार्शनिक अरस्तू ने एक सिद्धान्त बताया जिसे उसने सभी न्यायवाक्य की सिद्धि का आधार माना। वह सिद्धान्त युनानी भाषा में है—डिक्टम् डि ओम्नि एट् नल्लो। इसका शाब्दिक अर्थ है—वह कथन जो सभी के विषय में हो और जो किसी के भी विषय में न हो। इसका तात्पर्य यह है कि—जो बात किसी पूरे वर्ग के साथ सत्य हो, वह बात उसी तरह उस के साथ भी सत्य होगी जो उस वर्ग में अन्तर्गत है। तर्कशास्त्री वेट्ले इस सिद्धान्त का विश्लेषण इस प्रकार करता है*—

(१) जो बात किसी पूरे वर्ग के साथ सत्य हो, (विधेयवाक्य)
(२) उस वर्ग में कोई अन्तर्गत हो, (उद्देशवाक्य)
(३) उस अन्तर्गत के साथ वह बात सत्य है, (निष्कर्षवाक्य)

इस विश्लेषण को दृष्टि में लाने से स्पष्ट मालूम होता है कि अरस्तू के सिद्धान्त के अनुसार विधेयवाक्य को सामान्य होना चाहिए, और उद्देशवाक्य को विधानात्मक होना चाहिए। हम देख चुके हैं कि ये दोनों प्रथम क्रम के अपने असाधारण नियम हैं। इससे यह फलित होता है कि अरस्तू का उक्त सिद्धान्त 'प्रथम क्रम' ही पर साक्षात् लागू होता है, जिसके सिद्ध न्यायवाक्य-संयोग हैं—वार्बारा, केलारेण्ट्, दारीई और फेरीओ। अतः, अरस्तू के अनुसार प्रथम-क्रम ही उत्तम क्रम[१] है। शेष तीन हीन क्रम[२] हैं, क्योंकि उन पर उक्त सिद्धान्त साक्षात् रूप से लागू नहीं किया जा सकता। इस कारण, प्रथम क्रम के चार संयोगों को उत्तम-संयोग,[३] और अन्य क्रमों के शेष पन्द्रह संयोगों को हीन-संयोग[४]

---

[१] Perfect Figure. [२] Imperfect Figure.
[३] Perfect Moods. [४] Imperfect Moods.
*Whately, Logic, p. 23.

कहते हैं। अरस्तू किसी 'हीन-संयोग' को किसी 'उत्तम-संयोग' में रूपान्तर करके ही उसकी प्रामाणिकता सिद्ध करता है।

अतः इस विचार से 'हीन-संयोगों' को 'उत्तम-संयोगों' में रूपान्तर करने का बड़ा महत्व है, क्योंकि बिना ऐसा किए उनकी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं हो सकती। किंतु अब हमारे लिए इस रूपान्तर-करण का कोई विशेष महत्व नहीं है, क्योंकि हम उनकी प्रामाणिकता दूसरी विधि से भी कर ले सकते हैं। अरस्तू ने 'चौथे क्रम' को स्वीकार नहीं किया था। बाद में यह क्रम एक युनानी दार्शनिक गैलन् द्वारा स्थापित किया गया था, जिससे इसे गैलेनियन क्रम भी कहते हैं। किसी 'हीन-संयोग' को 'उत्तम-संयोग' में रूपान्तर करके परीक्षा करना अब भले ही अनिवार्य न रह गया हो, किंतु उस विधि के अध्ययन से एक बड़ा लाभ यह है कि इससे सिद्ध-न्यायवाक्यों का परस्पर सम्बन्ध तथा उनका ऐक्य साफ हो जाता है।

* * *

(क) रूपान्तर-करण[1]

हम देखेंगे कि न्यायवाक्य का कोई भी संयोग किसी भी दूसरे संयोग में रूपान्तरित किया जा सकता है। अतः, 'रूपान्तर-करण' का व्यापक अर्थ है किसी भी संयोग को दूसरे संयोग में रूपान्तर करना। किंतु यहाँ हमें किसी भी संयोग को किसी दूसरे संयोग में रूपान्तर करने से कोई मतलब नहीं है। यहाँ तो अरस्तू के अनुसार 'हीन-संयोगों' को ही 'उत्तम-संयोगों' में रूपान्तर करके उन्हें सिद्ध करना है। अतः, यहाँ 'रूपान्तर-करण' का यही सीमित अर्थ है कि—दूसरे, तीसरे और चौथे क्रमों के न्यायवाक्यसंयोगों को पहले क्रम के न्यायवाक्यसंयोगों में रूपान्तर करना; और इस तरह उनकी सिद्धि या असिद्धि की परीक्षा करना।

---

[1] Reduction.

'रूपान्तर-करण' की दो विधियाँ हैं—अनुलोम-विधि और प्रतिलोम-विधि। 'अनुलोम-विधि'[1] में किसी 'हीन-संयोग' को, उसके वाक्यों को व्यत्यय आदि अनन्तरानुमान की प्रक्रिया से बदल कर या उनके सिलसिले में उलट-पलट कर, किसी 'उत्तम-संयोग' में रूपान्तरित करते हैं। और, 'प्रतिलोम-विधि'[2] में किसी 'हीन-संयोग' के निष्कर्ष के अत्यन्त विरुद्ध[3] रूप को लेकर किसी एक आधारवाक्य के साथ प्रथम-क्रम में कोई न्यायवाक्य उपस्थित करके निष्कर्ष निकाल कर दिखाते हैं कि यह दूसरे आधारवाक्य का अत्यन्त विरुद्ध रूप है। चूँकि आधारवाक्य की सत्यता सर्वथा नियत होती है, इससे नया निष्कर्ष असत्य ठहरता है। इस तरह, उस 'हीन-संयोग' के निष्कर्ष के अत्यन्त विरुद्ध रूप को असत्य दिखाकर उसकी सिद्धि स्थापित की जाती है। इन दो विधियों की परीक्षा सविस्तार करेंगे।

* * *

(ख) रूपान्तर-करण के संकेत

बार्बारा, केलरेण्ट् आदि जो सिद्ध न्यायवाक्य-संयोगों के सांकेतिक नाम दिए गए हैं उनमें तीन-तीन स्वर हैं। पहला स्वर विधेयवाक्य का, दूसरा उद्देशवाक्य का और तीसरा निष्कर्ष-वाक्य का सूचक है; यह तो ऊपर कह चुके हैं। यहाँ रूपांतर-करण की प्रक्रिया में इन नामों में प्रयुक्त व्यञ्जनाक्षरों के क्या निर्देश हैं इसे जानना आवश्यक है—

(१) 'हीन-संयोगों' के नाम के आदि अक्षर यह सूचित करते हैं कि उन्हीं अक्षरों से प्रारम्भ होने वाले 'उत्तम-संयोगों' में उनका रूपान्तर होगा। 'ब' अक्षर से प्रारम्भ होने वाले सभी हीन-संयोगों का रूपान्तर 'बार्बारा' में, 'क' अक्षर से प्रारम्भ होने वाले सभी हीन-संयोगों का रूपान्तर

---

[1] Direct Reduction.

[2] Indirect Reduction. [3] Contradictory.

'केलरेण्ट्' में, 'द' अक्षर से प्रारम्भ होनेवाले सभी हीन-संयोगों का रूपान्तर 'दारीई' में, और 'फ' अक्षर से प्रारम्भ होने वाले सभी 'हीन-संयोगों' का रूपान्तर 'फेरीओ' में होता है।

(२) 'म' अक्षर यह निर्देश करता है कि रूपान्तर करने की प्रक्रिया में उस 'हीन-संयोग' के आधारवाक्यों का स्थानान्तर हो जायगा।

(३) 'स' अक्षर यह निर्देश करता है कि रूपान्तर करने की प्रक्रिया में 'हीन-संयोग' के जिस स्वर के अनन्तर यह प्रयुक्त हुआ है उस वाक्य का 'सम-व्यत्यय' कर लेना होगा।

(४) 'प' अक्षर यह निर्देश करता है कि रूपान्तर करने की प्रक्रिया में 'हीन-संयोग' के जिस स्वर के अनन्तर यह प्रयुक्त हुआ है उस वाक्य का 'विषम-व्यत्यय' कर लेना होगा।

(५) 'स' या 'प' यदि 'हीन-संयोग' के तृतीय स्वर के अनन्तर प्रयुक्त हुआ हो तो इसका निर्देश यह है कि रूपान्तर करने के सिलसिले में जो नया निष्कर्ष प्राप्त हुआ है उसका व्यत्यय कर लेना होगा।

(६) 'क' अक्षर जब 'हीन-संयोग' के नाम के बीच में आता है तो उसका निर्देश है कि उस न्यायवाक्य का रूपान्तर प्रतिलोम-विधि से होगा। ऐसे 'हीन-संयोग' केवल दो हैं—बारोको और बोकार्डो। प्राचीन तर्कशास्त्री इनको प्रतिलोम-विधि से ही रूपान्तरित किया करते थे; किंतु देखा गया कि अनुलोम-विधि से भी इनको रूपान्तर कर सकते हैं। ऐसा करने के लिए 'बारोको' का नाम बदल कर फाक्सोको, और 'बोकार्डो' का नाम बदल कर दोक्सामोस्क् कर देते हैं। इन दोनों में प्रयुक्त 'क' अक्षर का निर्देश है कि जिस स्वर के बाद यह आता है उस वाक्य का 'परिवर्तन' करना होगा। इस तरह 'क्स' का निर्देश है उस वाक्य का पहले 'परिवर्तन' करना और फिर उस 'परिवर्तित' का 'व्यत्यय' करना। उसी तरह, 'स्क' का निर्देश है उस वाक्य का पहले 'व्यत्यय' करना और फिर

उस 'व्यत्यस्त' का 'परिवर्तन' करना। यदि 'स्क' तीसरे स्वर के बाद आवे तो उसका निर्देश है कि रूपान्तर प्रक्रिया के सिलसिले में जो नया निष्कर्ष प्राप्त हुआ है उसका पहले 'व्यत्यय' करना और फिर उस व्यत्यस्त का 'परिवर्तन' करना।

(७) इनके अतिरिक्त जो दूसरे व्यञ्जनाक्षर हैं उनका कोई अर्थ नहीं है, वे उच्चारणार्थ हैं।

* * *

(ग) अनुलोम-विधि से रूपान्तरकरण

१. दूसरे क्रम के हीन-संयोगों का पहले क्रम के उत्तम-संयोग में रूपान्तर

दूसरे क्रम में चार सिद्ध संयोग हैं—केसारे, कामेस्ट्रेस्, फेस्टीनो और बारोको। इनमें पहले दोनों के आदि अक्षर 'क' हैं। यह निर्देश करता है कि उनका रूपान्तर पहले क्रम के उत्तम-संयोग 'केलरेण्ट्' में होगा। तीसरे संयोग का आदि अक्षर 'फ' है; यह निर्देश करता है कि इसका रूपान्तर पहले क्रम के उत्तम-संयोग 'फेरीओ' में होगा। चौथे संयोग के बीच में 'क' अक्षर प्रयुक्त हुआ है; यह निर्देश करता है कि इसका रूपान्तर प्रतिलोम-विधि से होगा। ऊपर देख चुके हैं कि अनुलोम-विधि से रूपान्तर करने के लिए इसका नाम बदल कर 'फाक्सोको' रख दिया जाता है; और तब उसका रूपान्तर पहले क्रम के उत्तम-संयोग 'फेरीओ' में होता है। इनके रूपान्तर इस प्रकार होंगे—

(१) केसारे	=	केलारेण्ट्
'ए'—कोई 'वि' 'हे' नहीं है,		कोई 'हे' 'वि' नहीं है,
'आ'—सभी 'उ' 'हे' हैं,		सभी 'उ' 'हे' हैं,
∴ 'ए'—कोई 'उ' 'वि' नहीं है।		∴ कोई 'उ' 'वि' नहीं है।

यहाँ, हीन-संयोग में विधेयवाक्य के बाद प्रयुक्त 'स' अक्षर के निर्देश से उसका व्यत्यय करके रूपान्तर में रखा गया।

(२) कामेस्ट्रेस् = केलारेण्ट्

'आ'—सभी 'वि' 'हे' हैं,	कोई 'हे' 'उ' नहीं है,
'ए'—कोई 'उ' 'हे' नहीं है,	सभी 'वि' 'हे' हैं,
∴ 'ए'—कोई 'उ' 'वि' नहीं है।	∴ कोई 'वि' 'उ' नहीं है,
	= कोई 'उ' 'वि' नहीं है।

यहाँ, हीन-संयोग में प्रत्युक्त 'म' अक्षर के निर्देश से रूपान्तर में उसके आधारवाक्यों का स्थानान्तर कर दिया। अर्थात् उसके उद्देशवाक्य को विधेयवाक्य, और उसके विधेयवाक्य को उद्देशवाक्य कर दिया। हीन-संयोग में उद्देशवाक्य के आगे प्रयुक्त 'स' अक्षर के निर्देश से रूपान्तर में उसको व्यत्यस्त करके रखा। फिर, हीन-संयोग के तीसरे स्वर के आगे प्रयुक्त 'स' अक्षर के निर्देश से रूपान्तर-करण के सिलसिले में जो नया निष्कर्ष प्राप्त हुआ उसका व्यत्यय कर दिया।

(३) फेस्टीनो = फेरीश्रो

'ए'—कोई 'वि' 'हे' नहीं है,	कोई 'हे' 'वि' नहीं है,
'ई'—कुछ 'उ' 'हे' हैं,	कुछ 'उ' 'हे' हैं,
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं।	∴ कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं।

यहाँ, हीन-संयोग में विधेयवाक्य के बाद प्रत्युक्त 'स' अक्षर के निर्देश से रूपान्तर में उसको व्यत्यस्त करके रखा।

(४) बारोको = फाक्सोको = फेरीश्रो

'आ'—सभी 'वि' 'हे' हैं,	कोई 'नहीं-हे' 'वि' नहीं है,
'ओ'—कुछ 'उ' 'हे' नहीं हैं,	कुछ 'उ' 'नहीं-हे' हैं,
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं।	∴ कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं।

यहाँ, हीन-संयोग में विधेयवाक्य के बाद प्रयुक्त 'क्स' अक्षर के निर्देश से रूपान्तर में उसको परिवर्तित और फिर व्यत्यस्त करके रखा। और, उद्देशवाक्य के बाद प्रयुक्त 'क' अक्षर के निर्देश से रूपान्तर में उसको परिवर्तित करके रखा।

२. तीसरे क्रम के हीन-संयोगों का पहले क्रम के उत्तम-संयोग में रूपान्तर

तीसरे क्रम में सिद्ध न्यायवाक्यों के छः संयोग हैं—(१) दाराती, (२) दीसामीस्, (३) दातीसी, (४) फेलाप्तोन्, (५) बोकार्डो, और (६) फेरीसोन्। इनमें पहले तीन के आदि में 'द' अक्षर आने से निर्देश होता है कि उनका रूपान्तर पहले क्रम के उत्तम-संयोग 'दारीई' में होगा। चौथे और छठे का रूपान्तर 'फेरीओ' में होगा। पाँचवें के बीच में प्रयुक्त 'क' अक्षर बताता है कि इसका रूपान्तर प्रतिलोम-विधि से होगा। किंतु इसका रूपान्तर अनुलोम-विधि से भी हो सकता है; तब इसका नाम 'दोक्सामोस्क' होगा, और उसका रूपान्तर 'दारीई' में होगा। इनके रूपान्तर इस प्रकार होंगे—

(१) दाराप्ती	=	दारीई
'आ'—सभी 'हे' 'वि' हैं,		सभी 'हे' 'वि' हैं,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' हैं,		कुछ 'उ' 'हे' हैं,
∴ 'ई'—कुछ 'उ' 'वि' हैं।		∴ कुछ 'उ' 'वि' हैं।

यहाँ, हीन-संयोग में उद्देशवाक्य के बाद प्रयुक्त 'प' अक्षर के निर्देश से रूपान्तर में उसका विषम-व्यत्यय करके रखा।

(२) दीसामीस	=	दारीई
'आ'—कुछ 'हे' 'वि' हैं,	✕	सभी 'हे' 'उ' हैं,
'ई'—सभी 'हे' 'उ' हैं,		कुछ 'वि' 'हे' हैं,

∴ 'ई'—कुछ 'उ' 'वि' हैं। ∴ कुछ 'वि' 'उ' हैं।
स = कुछ 'उ' 'वि' हैं।

(३) दातीसो = दारीई
'आ'—सभी 'हे' 'वि' हैं, सभी 'हे' 'वि' हैं,
'ई'—कुछ 'हे' 'उ' हैं, = स. कुछ 'उ' 'हे' हैं,
∴ 'ई'—कुछ 'उ' 'वि' हैं। ∴ कुछ 'उ' 'वि' हैं।

(४) फेलाप्तोन् = फेरीओ
'ए'—कोई 'हे' 'वि' नहीं है, कोई 'हे' 'वि' नहीं है,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' हैं, = प. कुछ 'उ' 'हे' हैं,
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं। ∴ कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं।

(५) बोकार्डो = दोक्सामोस्क = दारीई
'ओ'—कुछ 'हे' 'वि' नहीं हैं, ✕ सभी 'हे' 'उ' हैं,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' हैं, = क्स. कुछ 'नहीं-वि' 'हे' हैं,
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं। ∴ कुछ 'नहीं-वि' 'उ' हैं।
स्क = कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं।

(६) फेरीसोन् = फेरीओ
'ए'—कोई 'हे' 'वि' नहीं है, कोई 'हे' 'वि' नहीं है,
'ई'—कुछ 'हे' 'उ' हैं, = स. कुछ 'उ' 'हे' हैं,
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं। ∴ कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं।

३. चौथे क्रम के हीन-संयोगों का पहले क्रम के उत्तम-संयोग में रूपान्तर

(१) ब्रामान्तीप् = बार्बारा
'आ'—सभी 'वि' 'हे' हैं, ✕ सभी 'हे' 'उ' हैं,

'आ'—सभी 'हे' 'उ' हैं,	सभी 'वि' 'हे' हैं,
∴ 'ई'—कुछ 'उ' 'वि' हैं।	∴ सभी 'वि' 'उ' हैं।
	प = कुछ 'उ' 'वि' हैं।

(२) कामेनेस् = केलारेण्ट्

'आ'—सभी 'वि' 'हे' हैं,	कोई 'हे' 'उ' नहीं है,
'ए'—कोई 'ई' 'उ' नहीं है;	सभी 'वि' 'हे' हैं,
∴ 'ए'—कोई 'उ' 'वि' नहीं है।	∴ कोई 'वि' 'उ' नहीं है।
	स. = कोई 'उ' 'वि' नहीं है।

(३) दीमारीस् = दारीई

'ई'—कुछ 'वि' 'हे' हैं,	सभी 'हे' 'उ' हैं,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' हैं,	कुछ 'वि' 'हे' हैं,
∴ 'ई'—कुछ 'उ' 'वि' हैं।	∴ कुछ 'वि' 'उ' हैं।
	स. = कुछ 'उ' 'वि' हैं।

(४) फेसापो = फेरीओ

'ए'—कोई 'वि' 'हे' नहीं है,	= स. कोई 'हे' 'वि' नहीं है,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' हैं,	= प. कुछ 'उ' 'हे' हैं,
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं।	∴ कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं।

(५) फ्रेसीसोन् = फेरीओ

'ए'—कोई 'वि' 'हे' नहीं है,	= स. कोई 'हे' 'वि' नहीं है,
'ई'—कुछ 'हे' 'उ' हैं,	= स. कुछ 'उ' 'हे' हैं,
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं।	∴ कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं।

* * *

(घ) प्रतिलोम-विधि से रूपान्तरकरण

१. दूसरे क्रम के संयोगों का रूपान्तर

(१) केसारे

'ए'—कोई 'वि' 'हे' नहीं है,
'आ'—सभी 'उ' 'हे' हैं,
∴ 'ए'—कोई 'उ' 'वि' नहीं है।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नहीं है, तो इसका अत्यन्त विरुद्ध रूप (ई) 'कुछ 'उ' 'वि' हैं' अवश्य सत्य होगा। इस वाक्य को मूल विधेयवाक्य के साथ मिला कर पहले क्रम में एक नया न्यायवाक्य बनावें—

'ए'—कोई 'वि' 'हे' नहीं है, (मूल विधेयवाक्य)
'ई'—कुछ 'उ' 'वि' हैं, (मूल निष्कर्ष का विरुद्ध)
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'हे' नहीं हैं। (नया निष्कर्ष)

यह नया न्यायवाक्य पहले क्रम के उत्तम संयोग 'फेरीओ' के रूप में है, क्योंकि यहाँ 'वि' हेतुपद का काम करता है।

अब, देखते हैं कि यह नया निष्कर्ष मूल उद्देशवाक्य का अत्यन्त विरुद्ध रूप है। किंतु, आधारवाक्य की सत्यता तो पहले ही नियत कर ली जाती है, उसे असत्य माना नहीं जा सकता। इससे, मूल उद्देशवाक्य का विरुद्ध रूप यह नया निकर्ष ही असत्य माना जायगा। इस नये निष्कर्ष की असत्यता का कारण क्या है ? अनुमान की प्रक्रिया में कोई दोष नहीं है, क्योंकि यह तो पहले क्रम के उत्तम-संयोग 'फेरीओ' के रूप में है। इसकी असत्यता का कारण इस नये न्यायवाक्य के विधेयवाक्य में भी नहीं है, क्योंकि यह तो मूल विधेयवाक्य है। अतः इसके (= नये निष्कर्ष के) असत्य होने का कारण इस नये न्यायवाक्य के उद्देशवाक्य का ही असत्य होना है। यह जब असत्य हुआ तो इसका विरुद्ध रूप—मूल निष्कर्षवाक्य—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

(२) कामेस्ट्रेस्

'आ'—सभी 'वि' 'हे' हैं,
'ए'—कोई 'उ' 'हे' नहीं है,
∴ 'ए'—कोई 'उ' 'वि' नहीं है।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नहीं है, तो इसका विरुद्ध रूप 'कुछ 'उ' 'वि' हैं' अवश्य सत्य होगा। मूल विधेयवाक्य के साथ इसे मिला कर पहले क्रम में एक नया न्यायवाक्य बनावें—

'आ'—सभी 'वि' 'हे' हैं, (मूल विधेयवाक्य)
'ई'—कुछ 'उ' 'वि' हैं, (मूल निष्कर्ष का विरुद्ध)
∴ 'ई'—कुछ 'उ' 'हे' हैं। (नया निष्कर्ष)

यह नया न्यायवाक्य पहले क्रम के उत्तम-संयोग 'दारीई' के रूप में है, क्योंकि इसमें 'वि' हेतुपद का काम कर रहा है।

यह नया निष्कर्ष मूल उद्देशवाक्य का विरुद्ध-रूप है, अतः अवश्य असत्य होगा। इसकी असत्यता का कारण क्या है? अनुमान की प्रक्रिया में कोई दोष नहीं हो सकता, क्योंकि यह न्यायवाक्य पहले क्रम के उत्तम-संयोग 'दारीई' के रूप में है। इसकी असत्यता का कारण इस नये न्यायवाक्य के विधेयवाक्य में भी नहीं है, क्योंकि यह मूल-न्यायवाक्य से ही लिया गया है। अतः, इसके (= नये निष्कर्ष के) असत्य होने का कारण इस नये न्यायवाक्य के उद्देशवाक्य का ही असत्य होना है। जब यह असत्य हुआ तब इसका विरुद्ध-रूप—मूल निष्कर्ष-वाक्य—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

(३) फेस्टीनो

'ए'—कोई 'वि' 'हे' नहीं है,
'ई'—कुछ 'उ' 'हे' हैं,
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नहीं है, तो इसका विरुद्ध रूप "सभी 'उ' 'वि' हैं" अवश्य सत्य होगा। इस वाक्य को मूल विधेयवाक्य के साथ मिला कर पहले क्रम में एक नया न्यायवाक्य बनावें—

'ए'—कोई 'वि' 'हे' नहीं है, (मूल विधेयवाक्य)
'आ'—सभी 'उ' 'वि' हैं, (मूल निष्कर्ष का विरुद्ध)
∴ 'ए'—कोई 'उ' 'हे' नहीं है। (नया निष्कर्ष)

यह नया न्यायवाक्य पहले क्रम के उत्तम-संयोग 'केलरेण्ट्' के रूप में है, क्योंकि इसमें 'वि' हेतुपद का काम करता है।

यह नया निष्कर्ष मूल उद्देशवाक्य का विरुद्ध रूप है, अतः अवश्य असत्य होगा। इसकी असत्यता का कारण क्या है? अनुमान की प्रक्रिया में कोई दोष नहीं हो सकता, क्योंकि यह न्यायवाक्य पहले क्रम के उत्तम-संयोग 'केलरेण्ट्' के रूप में है। इसकी असत्यता का कारण इस नये न्यायवाक्य के विधेयवाक्य में भी नहीं है, क्योंकि यह तो मूल न्यायवाक्य से ही लिया गया है। अतः, इसके (= नये निष्कर्ष के) असत्य होने का कारण इस नये न्यायवाक्य के उद्देशवाक्य का ही असत्य होना है। जब यह असत्य हुआ तब इसका विरुद्ध रूप—मूल निष्कर्ष—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

(४) बारोको

'आ'—सभी 'वि' 'हे' हैं,	सभी 'घोड़े' 'चतुष्पद' हैं,
'ओ'—कुछ 'उ' 'हे' नहीं हैं,	कुछ 'प्राणी' 'चतुष्पद' नहीं हैं,
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं।	∴ कुछ 'प्राणी' 'घोड़े' नहीं हैं।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नहीं है, तो इसका विरुद्ध रूप 'सभी 'उ' 'वि' हैं' अथवा 'सभी प्राणी घोड़े हैं' अवश्य सत्य होगा। इसको मूल विधेयवाक्य के साथ मिला कर पहले क्रम में एक नया न्यायवाक्य बनावें—

'आ'—सभी 'वि' 'हे' हैं, सभी 'घोड़े' 'चतुष्पद' हैं,
'आ'—सभी 'उ' 'वि' हैं, सभी 'प्राणी' 'घोड़े' हैं,
∴ 'आ'—सभी 'उ' 'हे' हैं। ∴ सभी 'प्राणी' 'चतुष्पद' हैं।

यह नया न्यायवाक्य पहले क्रम के उत्तम-संयोग 'बार्बारा' के रूप में है, क्योंकि इसमें 'वि' हेतुपद का काम करता है।

यह नया निष्कर्ष मूल उद्देशवाक्य का विरुद्ध रूप है, अतः अवश्य असत्य होगा। इसकी असत्यता का कारण क्या है? अनुमान की प्रक्रिया में कोई दोष नहीं हो सकता, क्योंकि यह न्यायवाक्य पहले क्रम के उत्तम-संयोग 'बार्बारा' के रूप में है। इसकी असत्यता का कारण इस नये न्याय-वाक्य के विधेयवाक्य में भी नहीं है, क्योंकि यह तो मूल न्यायवाक्य से ही लिया गया है। अतः, इसके (= नये निष्कर्ष के) असत्य होने का कारण इस नये न्यायवाक्य के उद्देशवाक्य का ही असत्य होना है। जब यह असत्य हुआ तब इसका विरुद्ध रूप—मूल निष्कर्ष—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

२. तीसरे क्रम के संयोगों का रूपान्तर

(१) दारासी

'आ'—सभी 'हे' 'वि' हैं,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' हैं,
∴ 'ई'—कुछ 'उ' 'वि' हैं।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नहीं है, तो इसका विरुद्ध रूप 'कोई 'उ' 'वि' नहीं है' अवश्य सत्य होगा। इस वाक्य को मूल उद्देशवाक्य के साथ मिला कर पहले क्रम में एक नया न्यायवाक्य बनावें—

'ए'—कोई 'उ' 'वि' नहीं है, (मूल निष्कर्ष का विरुद्ध)
'आ'—सभी 'हे' 'उ' हैं, (मूल उद्देशवाक्य)
∴ 'ए'—कोई 'हे' 'वि' नहीं है। (नया निष्कर्ष)

यह नया न्यायवाक्य पहले क्रम के उत्तम-संयोग 'केलरेण्ट्' के रूप में है, क्योंकि यहाँ 'उ' हेतुपद का काम करता है।

यह नया निष्कर्ष मूल विधेयवाक्य का 'भेदक' होने के कारण अवश्य असत्य होगा। इसकी असत्यता का कारण क्या है? अनुमान की प्रक्रिया में कोई दोष नहीं हो सकता, क्योंकि यह न्यायवाक्य पहले क्रम के उत्तम-संयोग 'केलरेण्ट्' के रूप में है। इसकी असत्यता का कारण इस नये न्यायवाक्य के उद्देशवाक्य में भी नहीं है, क्योंकि यह तो मूल न्यायवाक्य से ही लिया गया है। अतः इसके (= नये निष्कर्ष के) असत्य होने का कारण इस नये न्यायवाक्य के विधेयवाक्य का ही असत्य होना है। जब यह असत्य हुआ तब इसका विरुद्ध रूप—मूल निष्कर्ष—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

(२) दीसामीस्

'ई'—कुछ 'हे' 'वि' हैं,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' हैं,
∴ 'ई'—कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नहीं है तो इसका विरुद्ध रूप 'कोई 'उ' 'वि' नहीं है' अवश्य सत्य होगा। इस वाक्य को मूल उद्देशवाक्य के साथ मिला कर पहले क्रम में एक नया न्यायवाक्य बनावें—

'ए'—कोई 'उ' 'वि' नहीं है, (मूल निष्कर्ष का विरुद्ध)
'आ'—सभी 'हे' 'उ' हैं, (मूल उद्देशवाक्य)
∴ 'ए'—कोई 'हे' 'वि' नहीं है। (नया निष्कर्ष)

यह नया न्यायवाक्य पहले क्रम के उत्तम-संयोग 'केलरेण्ट्' के रूप में है, क्योंकि यहाँ 'उ' हेतुपद का काम करता है।

यह नया निष्कर्ष मूल विधेयवाक्य का विरुद्ध रूप है, अतः अवश्य असत्य होगा।......इसके असत्य होने का कारण इस नये न्यायवाक्य

के विधेयवाक्य का ही असत्य होना है। जब यह असत्य हुआ तब इसका विरुद्ध रूप—मूल निष्कर्ष—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

(३) दातीसी

'आ'—सभी 'हे' 'वि' हैं,
'ई'—कुछ 'हे' 'उ' हैं,
∴ 'ई'—कुछ 'उ' 'वि' हैं।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नहीं है तो इसका विरुद्ध रूप 'कोई 'उ' 'वि' नहीं है' अवश्य सत्य होगा। इस वाक्य को मूल उद्देशवाक्य के साथ मिला कर पहले क्रम में एक नया न्यायवाक्य बनावें—

'ए'—कोई 'उ' 'वि' नहीं है, (मूल निष्कर्ष का विरुद्ध)
'ई'—कुछ 'हे' 'उ' हैं, (मूल उद्देशवाक्य)
∴ 'ओ'—कुछ 'हे' 'वि' नहीं हैं। (नया निष्कर्ष)

यह नया न्यायवाक्य पहले क्रम के उत्तम-संयोग 'फेरीओ' के रूप में है, क्योंकि यहाँ 'उ' हेतुपद का काम करता है।

यह नया निष्कर्ष मूल विधेयवाक्य का विरुद्ध रूप है, अतः अवश्य असत्य होगा......इसके असत्य होने का कारण इस नये न्यायवाक्य के विधेयवाक्य का ही असत्य होना है। जब यह असत्य हुआ तब इसका विरुद्ध रूप—मूल निष्कर्ष—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

(४) फेलाप्तोन्

'ए'—कोई 'हे' 'वि' नहीं है,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' हैं,
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नहीं है, तो इसका विरुद्ध रूप 'सभी 'उ' 'वि' हैं' अवश्य सत्य होगा। इस वाक्य के साथ मूल उद्देशवाक्य को मिला कर पहले क्रम में एक नया न्यायवाक्य बनावें—

'आ'—सभी 'उ' 'वि' हैं,　(मूल निष्कर्ष का विरुद्ध)
'आ'—सभी 'हे' 'उ' हैं,　(मूल उद्देशवाक्य)
∴ 'आ'—सभी 'हे' 'वि' हैं।　(नया निष्कर्ष)

यह नया न्यायवाक्य पहले क्रम के उत्तम संयोग **'बार्बारा'** के रूप में है, क्योंकि यहाँ 'उ' हेतुपद का काम करता है।

यह नया निष्कर्ष मूल विधेयवाक्य का विरुद्ध रूप है, अतः अवश्य असत्य होगा।......इसके असत्य होने का कारण इस नये न्यायवाक्य के विधेयवाक्य का ही असत्य होना है। जब यह असत्य हुआ तब इसका विरुद्ध रूप—मूल निष्कर्ष—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

(५) बोकार्डो

'ओ'—कुछ 'हे' 'वि' नहीं हैं,	कुछ 'मनुष्य' 'ज्ञानी' नहीं हैं,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' हैं,	सभी 'मनुष्य' 'मरणशील' हैं,
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं।	∴ कुछ 'मरणशील' 'ज्ञानी' नहीं हैं

यदि यह निष्कर्ष सत्य नहीं है, तो इसका विरुद्ध रूप 'सभी 'उ' 'वि' हैं' अथवा 'सभी मरणशील ज्ञानी हैं'. अवश्य सत्य होगा। इस वाक्य के साथ मूल उद्देशवाक्य को मिला कर पहले क्रम में एक नया न्यायवाक्य बनावें—

'आ'—सभी 'उ' 'वि' हैं,	सभी 'मरणशील' 'ज्ञानी' हैं,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' हैं,	सभी 'मनुष्य' 'मरणशील' हैं,
∴ 'आ'—सभी 'हे' 'वि' हैं।	∴ सभी 'मनुष्य' 'ज्ञानी' हैं।
	बार्बारा

यह नया निष्कर्ष मूल विधेयवाक्य का विरुद्ध रूप है, अतः अवश्य असत्य होगा।......इसके असत्य होने का कारण इस नये न्यायवाक्य के विधेय वाक्यका ही असत्य होना है। जब यह असत्य हुआ तब इसका विरुद्ध रूप—मूल निष्कर्ष—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

(६) फेरीसोन्

'ए'—कोई 'हे' 'वि' नहीं है,
'ई'—कुछ 'हे' 'उ' हैं,
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नहीं है, तो इसका विरुद्ध रूप 'सभी 'उ' 'वि' हैं' सत्य होगा। इसके साथ मूल उद्देशवाक्य को मिला कर पहले क्रम में एक नया न्यायवाक्य बनावें—

'आ'—सभी 'उ' 'वि' हैं, (मूल निष्कर्ष का विरुद्ध)
'ई'—कुछ 'हे' 'उ' हैं, (मूल उद्देशवाक्य)
∴ 'ई'—कुछ 'हे' 'वि' हैं। (नया निष्कर्ष)

यह नया निष्कर्ष मूल विधेयवाक्य का विरुद्ध रूप है, अतः अवश्य असत्य होगा।......इसके असत्य होने का कारण इस नये न्यायवाक्य के विधेयवाक्य का ही असत्य होना है। जब यह असत्य हुआ तब इसका विरुद्ध रूप—मूल निष्कर्ष—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

३. चौथे क्रम के संयोगों का रूपान्तर

(१) ब्रामान्तीप्

'आ'—सभी 'वि' 'हे' हैं,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' हैं,

∴ 'ई'—कुछ 'उ' 'वि' हैं।

यदि यह निष्कर्ष असत्य है, तो इसका विरुद्ध रूप 'कोई 'उ' 'वि' नहीं है' अवश्य सत्य होगा। इसके साथ मूल उद्देशवाक्य को मिला कर पहले क्रम में एक नया न्यायवाक्य बनावें—

'ए'—कोई 'उ' 'वि' नहीं है, (मूल निष्कर्ष का विरुद्ध)
'आ'—सभी 'हे' 'उ' हैं (मूल उद्देशवाक्य)
∴ 'ए'—कोई 'हे' 'वि' नहीं है। (नया निष्कर्ष)
= व्यत्यस्त—कुछ 'वि' 'हे' नहीं है।

यह नया निष्कर्ष मूल विधेयवाक्य का 'भेदक' है, अतः अवश्य असत्य होगा।......इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

(२) कामेनेस

'आ'—सभी 'वि' 'हे' हैं,
'ए'—कोई 'हे' 'उ' नहीं है,
∴ 'ए'—कोई 'उ' 'वि' नहीं है।

यदि यह निष्कर्ष असत्य है, तो इसका विरुद्ध रूप 'कुछ 'उ' 'वि' हैं' अवश्य सत्य होगा। मूल विधेयवाक्य के साथ इसे मिला कर पहले क्रम में एक नया न्यायवाक्य बनावें—

'आ'—सभी 'वि' 'हे' हैं, (मूल विधेयवाक्य)
'ई'—कुछ 'उ' 'वि' हैं, (मूल निष्कर्ष का विरुद्ध)
∴ 'ई'—कुछ 'उ' 'हे' हैं। (नया निष्कर्ष)
= व्यत्यस्त—कुछ 'हे' 'उ' हैं।

यह नया निष्कर्ष मूल उद्देशवाक्य का विरुद्ध रूप है, अतः अवश्य असत्य होगा।......इसके असत्य होने का कारण इस नये न्यायवाक्य के उद्देशवाक्य का ही असत्य होना है। जब यह असत्य हुआ तब इसका

विरुद्ध रूप—मूल निष्कर्ष—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

(३) दीमारीस्

'ई'—कुछ 'वि' 'हे' हैं,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' हैं,
∴ 'ई'—कुछ 'उ' 'वि' हैं।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नहीं है तो इसका विरुद्ध रूप 'कोई 'उ' 'वि' नहीं है' अवश्य सत्य होगा। इसे विधेयवाक्य बना मूल उद्देशवाक्य के साथ पहले क्रम में एक नया न्यायवाक्य बनावें—

'ए'—कोई 'उ' 'वि' नहीं है (मूल निष्कर्ष का विरुद्ध)
'आ'—सभी 'हे' 'उ' हैं, (मूल उद्देशवाक्य)
∴ 'ए'—कोई 'हे' 'वि' नहीं है। (नया निष्कर्ष)
= व्यत्यस्त—कोई 'वि' 'हे' नहीं है।

यह नया निष्कर्ष मूल विधेयवाक्य का विरुद्ध रूप है, अतः अवश्य असत्य होगा।......इसके असत्य होने का कारण इस नये न्यायवाक्य के विधेयवाक्य का ही असत्य होना है। जब यह असत्य हुआ तब इसका विरुद्ध रूप—मूल निष्कर्ष—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

(४) फेसापो

'ए'—कोई 'वि' 'हे' नहीं है,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' हैं,
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नहीं है तो इसका विरुद्ध रूप 'सभी 'उ' 'वि' हैं' अवश्य सत्य होगा। इसे विधेयवाक्य बना मूल उद्देशवाक्य के साथ पहले क्रम में एक नया न्यायवाक्य बनावें—

'आ'—सभी 'उ' 'वि' हैं,   (मूल निष्कर्ष का विरुद्ध)
'आ'—सभी 'हे' 'उ' हैं,   (मूल उद्देशवाक्य)
∴ 'आ'—सभी 'हे' 'वि' हैं।   (नया निष्कर्ष)
= व्यत्यस्त—कुछ 'वि' 'हे' हैं।

यह नया निष्कर्ष मूल विधेयवाक्य का विरुद्ध रूप है, अतः अवश्य असत्य होगा।......इसके असत्य होने का कारण इस नये न्यायवाक्य के विधेयवाक्य का ही असत्य होना है। जब यह असत्य हुआ तब इसका विरुद्ध रूप—मूल निष्कर्ष—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

(५) फ्रेसीसोन्

'ए'—कोई 'वि' 'हे' नहीं है,
'ई'—कुछ 'हे' 'उ' हैं,
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नहीं है तो इसका विरुद्ध रूप 'सभी 'उ' 'वि' हैं' अवश्य सत्य होगा। इसे विधेयवाक्य बना मूल उद्देशवाक्य के साथ पहले क्रम में एक नया न्यायवाक्य बनावें—

'आ'—सभी 'उ' 'वि' हैं,   (मूल निष्कर्ष का विरुद्ध)
'ई'—कुछ 'हे' 'उ' हैं,   (मूल उद्देशवाक्य)
∴ 'ई'—कुछ 'हे' 'वि' हैं।   (नया निष्कर्ष)
= व्यत्यस्त—कुछ 'वि' 'हे' हैं।

यह नया न्यायवाक्य पहले क्रम के उत्तम-संयोग 'दारीई' के रूप में है, क्योंकि इसमें 'उ' हेतुपद का काम करता है।

यह नया निष्कर्ष मूल विधेयवाक्य का विरुद्ध रूप है, अतः अवश्य असत्य होगा। इसकी असत्यता का कारण क्या है? अनुमान की प्रक्रिया

में कोई दोष नहीं हो सकता, क्योंकि यह न्यायवाक्य पहले क्रम के उत्तम-संयोग 'दारीई' के रूप में है। फिर उस निष्कर्ष का व्यत्यय अनन्तरानुमान से विधिवत् निष्कर्ष निकाला गया है। इसकी असत्यता का कारण इस नये न्यायवाक्य के उद्देशवाक्य में भी नहीं है, क्योंकि यह तो मूल न्यायवाक्य से ही लिया गया है। अतः इसके असत्य होने का कारण इस नये न्याय-वाक्य के विधेयवाक्य का ही असत्य होना है। जब यह असत्य हुआ तब इसका विरुद्ध रूप—मूल निष्कर्ष—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

'फ्रेसीसोन्' को प्रतिलोम-विधि से रूपान्तर करने में उसके निष्कर्ष के विरुद्ध रूप को नये न्यायवाक्य में उद्देशवाक्य भी बना कर सिद्ध कर सकते हैं। जैसे—

'ए'—कोई 'वि' 'हे' नहीं है, (मूल विधेयवाक्य)
'आ'—सभी 'उ' 'वि' हैं, (मूल निष्कर्ष का विरुद्ध रूप)
∴ 'ए'—कोई 'उ' 'हे' नहीं है। (नया निष्कर्ष)
= व्यत्यस्त—कोई 'हे' 'उ' नहीं है।

यह निष्कर्ष मूल उद्देशवाक्य का विरुद्ध रूप है, अतः असत्य है।... इसके असत्य होने का कारण इस नये न्यायवाक्य के उद्देशवाक्य का ही असत्य होना है। जब यह असत्य हुआ तब इसका विरुद्ध रूप—मूल निष्कर्ष—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

द्रष्टव्य

(१) चौथे क्रम के 'कामेनेस्' और दूसरे क्रम के सभी संयोगों को प्रतिलोम-विधि से रूपान्तर करने में उनके निष्कर्ष के विरुद्ध रूप को नये न्यायवाक्य में उद्देश बनाते हैं।

(२) 'कामेनेस्' को छोड़, तीसरे और चौथे क्रमों के सभी संयोगों को प्रतिलोम विधि से रूपान्तर करने में उनके निष्कर्ष के विरुद्ध रूप को नये न्यायवाक्य में विधेयवाक्य बनाते हैं।

(३) 'फेसापो' और 'फ्रेसीसोन्' को प्रतिलोम विधि से रूपान्तर करने में उनके निष्कर्ष के विरुद्ध रूप को नये न्यायवाक्य में चाहें तो उद्देशवाक्य भी और चाहें तो विधेयवाक्य भी बना सकते हैं।

§ १९—'आवश्यकमात्र'[१] और 'आवश्यकाधिक'[२] न्यायवाक्य

सिद्ध न्यायवाक्य में हेतुपद कम से कम एक बार अवश्य सर्वांशी होता है; और आधारवाक्य में बिना सर्वांशी हुए कोई पद निष्कर्ष में सर्वांशी नहीं हो सकता। इतनी बात कम से कम अवश्य होनी चाहिए।

जिस न्यायवाक्य में इतनी ही बात पूरी हुई हो, अर्थात् हेतुपद केवल एक ही बार सर्वांशी हो और आधारवाक्य में कोई पद सर्वांशी न हो जो निष्कर्ष में सर्वांशी न हुआ हो, उसे 'आवश्यकमात्र' न्यायवाक्य कहते हैं। यदि न्यायवाक्य के दोनों आधारवाक्यों में हेतुपद सर्वांशी हो, अथवा उनमें कोई ऐसा पद सर्वांशी हो, जो निष्कर्ष में सर्वांशी न हुआ हो, तो उसे 'आवश्यकाधिक' न्यायवाक्य कहते हैं।

अर्थात्, जिस न्यायवाक्य के आधारवाक्यों में कोई पद अनावश्यक सर्वांशी न हुआ हो उसे 'आवश्यकमात्र' न्यायवाक्य कहते हैं। जिस न्यायवाक्य के आधारवाक्यों में कोई ऐसा पद भी सर्वांशी हो गया हो जो उस (न्यायवाक्य) की सिद्धि के लिए आवश्यक न था उसे 'आवश्यकाधिक' न्यायवाक्य कहते हैं।

अब, यदि सभी १९ सिद्ध-न्यायवाक्य-संयोगों की परीक्षा करें तो

---

[१]Fundamental [२]Non-fundamental Syllogism.

देखेंगे कि 'दाराती', 'फेलातोन्' और 'फेसापो' इन तीनों में हेतुपद दो दो बार सर्वांशी हुए हैं; और 'ब्रामान्तीप्' के आधारवाक्य में 'वि' सर्वांशी है, किंतु निष्कर्ष में नहीं है। इन न्यायवाक्यों की सिद्धि के लिए इन पदों का सर्वांशी होना आवश्यक न था। पहले तीन संयोगों में हेतुपद यदि एक एक ही बार सर्वांशी होता, और चौथे संयोग में यदि 'वि' आधारवाक्य में सर्वांशी न होता, तो भी उनके वही निष्कर्ष निकलते। अतः, कुल सिद्ध-न्यायवाक्य-संयोगों में यही चार आवश्यकाधिक न्यायवाक्य हैं, और शेष पन्द्रह 'आवश्यकमात्र' न्यायवाक्य हैं।

§ २०—'मंद'[1] और 'अमंद'[2] न्यायवाक्य

जिस न्यायवाक्य में नियमतः निष्कर्षवाक्य 'सामान्य' हो सकता हो, किंतु उसका 'विशेष' रूप ही लिया गया हो उसे मंद अथवा समावेश[3] संयोग न्यायवाक्य कहते हैं। उदाहरणार्थ—

'आ'—सभी 'हे' 'वि' हैं,
'आ'—सभी 'उ' 'हे' हैं,
∴'ई'—कुछ 'उ' 'वि' हैं।

यह न्यायवाक्य पहले क्रम के 'बार्बारा' रूप में प्राप्त था। यहाँ निष्कर्ष 'सामान्य वाक्य' अपेक्षित था, किन्तु उसका 'विशेष' रूप ही लिया गया है। हम ऊपर देख चुके हैं कि यदि 'समावेशक वाक्य' सत्य हो तो उसका 'समाविष्ट वाक्य' अवश्य सत्य होगा। इस नियम के अनुसार 'आ' निष्कर्ष के बदले 'ई' लेने में कोई आपत्ति नहीं है। किंतु निष्कर्ष की व्यापकता यों ही सीमित तथा अनिश्चित कर देने में उतने अंश में सत्य का गोपन होता है। इसलिए, ऐसे न्यायवाक्य 'मंद' हैं।

---

[1] Weakened. [2] Non-weakened Syllogism.
[3] Subaltern Mood.

हम देखेंगे कि कुल १९ सिद्ध न्यायवाक्यों में केवल पाँच ऐसे हैं जिनके निष्कर्ष सामान्य हैं—बार्बारा, केलरेण्ट्, केसारे, कामेस्ट्रेस् और कामेनेस्। इन 'अमंद' न्यायवाक्यों के निष्कर्ष को यदि 'विशेष' रूप दे दें तो ये ही 'मंद न्यायवाक्य' हो जायेंगे; जैसे—

बार्बारी, केलारोण्ट्, केसारो, कामेस्ट्रोस् और कामेनोस।

तीसरे क्रम के न्यायवाक्यों में निष्कर्ष बराबर 'विशेष' होते हैं, अतः उन्हें 'मंद' करने की बात ही नहीं उठती।

§ २१—'सबल'[1] और 'यथाबल'[2] न्यायवाक्य

जहाँ किसी 'विशेष' वाक्य के आधार पर ही कोई निष्कर्ष निकल सकता हो, वहाँ यदि उसका सामान्य रूप दे दिया गया हो, तो उस न्यायवाक्य को सबल न्यायवाक्य कहते हैं। अर्थात्, 'सबल न्यायवाक्य' वह है जिसका कोई आधारवाक्य आवश्यकता से अधिक बल वाला हो। जैसे—

दाराप्ती

'आ'—सभी 'हे' 'वि' हैं,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' हैं,
∴ 'ई'—कुछ 'उ' 'वि' हैं।

यहाँ, यदि विधेयवाक्य 'सामान्य' न हो कर 'विशेष' होता, तो भी यही निष्कर्ष निकलता। जैसे—

'ई'—कुछ 'हे' 'वि' हैं,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' हैं,
∴ 'ई'—कुछ 'उ' 'वि' हैं। दीसामीस्

और, विधेयवाक्य को विशेष न बना कर उद्देशवाक्य को विशेष बनावें तो भी वही निष्कर्ष निकलेगा। जैसे—

---

[1] Strengthened. [2] Non-strengthened Syllogism.

'आ'—सभी 'हे' 'वि' हैं,
'ई'—कुछ 'हे' 'उ' हैं,
∴ 'ई'—कुछ 'उ' 'वि' हैं। दातीसी

इतने से यह स्पष्ट मालूम होगा कि जितने 'आवश्यकाधिक' न्याय-वाक्य हैं (अर्थात् दाराती, फेलाप्तोन्, ब्रामान्तीप् और फेसापो), सभी 'सबल' हैं। इन चारों के अलावा सभी 'मंद' न्यायवाक्य भी, केवल 'कामेनोस' (४था क्रम) को छोड़, 'सबल' हैं। 'कामेनोस' सबल न्याय-वाक्य नहीं है, क्योंकि इसका कोई आधारवाक्य आवश्यकता से अधिक बल वाला नहीं है। इसके किसी आधारवाक्य को यदि सामान्य से विशेष कर दें तो कोई निष्कर्ष नहीं निकलेगा।

§ २२—शुद्ध हेतुफलाश्रित न्यायवाक्य [1]

अभी तक हम 'शुद्ध निरपेक्ष न्यायवाक्यों' पर विचार करते रहे, जिनमें तीनों अवयव 'निरपेक्ष वाक्य' ही हैं। इसी तरह, न्यायवाक्य के तीनों अवयव 'हेतुफलाश्रित वाक्य' भी हो सकते हैं; और तब उसे 'शुद्ध-हेतुफलाश्रित-न्यायवाक्य' कहेंगे।

ऊपर हम देख चुके हैं कि हेतुफलाश्रित वाक्य के भी 'गुण' और 'अंश' के भेद से वही चार रूप होते हैं जो निरपेक्ष वाक्य के। हेतुफलाश्रित वाक्य का 'गुण' इसके 'फल' के गुण के, और इसका 'अंश' इसके 'हेतु' के अंश के अनुसार होता है। जैसे:—

'आ'—(१) यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है।
(२) यदि 'क' 'ख' नहीं है, तो 'ग' 'घ' है।
(३) यदि 'क' 'ख' है, तो कुछ 'ग' 'घ' है।
(४) यदि 'क' 'ख' नहीं है, तो कुछ 'ग' 'घ' है।

---

[1] Pure Hypothetical Syllogism.

'ए'—(१) यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' नहीं है।
(२) यदि 'क' 'ख' नहीं है, तो 'ग' 'घ' नहीं है।
(३) यदि 'क' 'ख' है, तो कुछ 'ग' 'घ' नहीं है।
(४) यदि 'क' 'ख' नहीं है, तो कुछ 'ग' 'घ' नहीं है।

'ई'—(१) यदि कुछ 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है।
(२) यदि कुछ 'क' 'ख' नहीं है, तो 'ग' 'घ' है।
(३) यदि कुछ 'क' 'ख' है, तो कुछ 'ग' 'घ' है।
(४) यदि कुछ 'क' 'ख' नहीं है, तो कुछ 'ग' 'घ' है।

'ओ'—(१) यदि कुछ 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' नहीं है।
(२) यदि कुछ 'क' 'ख' नहीं है, तो 'ग' 'घ' नहीं है।
(३) यदि कुछ 'क' 'ख' है, तो कुछ 'ग' 'घ' नहीं है।
(४) यदि कुछ 'क' 'ख' नहीं है, तो कुछ 'ग' 'घ' नहीं है।

व्यवहार में इन रूपों का उतना उपयोग नहीं है, अतः न्यायवाक्यों में इनके संयोग कितने प्रकार के होंगे इस पर विचार करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। किंतु, इन रूपों के वे सभी संयोग सिद्ध होंगे जो निरपेक्ष-न्यायवाक्यों में होते हैं।

उदाहरणार्थ, बार्बारा का एक रूप होगा—

'आ'—यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है;
यदि 'च' 'छ' है, तो 'क' 'ख' है;
∴ यदि 'च' 'छ' है, तो 'ग' 'घ' है।

यदि 'यह' 'रत्न' है, तो 'यह' 'बहुमूल्य' है;
यदि 'यह' 'हीरा' है, तो 'यह' 'रत्न' है;
∴ यदि 'यह' 'हीरा' है, तो 'यह' 'बहुमूल्य' है।

§ २३—कुछ द्रष्टव्य उपनियम

(१) यदि निष्कर्ष-वाक्य सामान्य हो, तो आधारवाक्यों में हेतुपद केवल एक बार ही सर्वांशी होगा।[1]

सिद्धि—यदि निष्कर्ष-वाक्य सामान्य हो, तो यह या तो 'आ' होगा या 'ए'।

यदि निष्कर्ष-वाक्य 'आ' हो, तो दोनों आधारवाक्य भी अवश्य 'आ' ही होंगे। क्योंकि, निष्कर्ष के विधानात्मक होने के कारण दोनों आधार-वाक्य भी अवश्य विधानात्मक होंगे; और निष्कर्ष के सामान्य होने के कारण दोनों आधार-वाक्य भी अवश्य सामान्य होंगे। दोनों आधारवाक्यों के 'आ' होने से उनमें केवल दो ही पद—दोनों के उद्देश—सर्वांशी हो सकेंगे। इन दोनों में एक तो अवश्य 'उ' होगा, क्योंकि निष्कर्ष में 'उ' सर्वांशी होने के कारण आधारवाक्य में भी अवश्य सर्वांशी होगा। दूसरा जो एक बचता है वही हेतुपद होगा।

यदि निष्कर्ष-वाक्य 'ए' हो, तो एक आधारवाक्य भी अवश्य 'ए' होगा, और दूसरा आधारवाक्य 'आ' होगा। क्योंकि, निष्कर्ष-वाक्य सामान्य होने के कारण दोनों आधारवाक्यों को अवश्य सामान्य होना चाहिए; और निष्कर्ष-वाक्य के निषेधात्मक होने के कारण एक आधार-वाक्य को अवश्य निषेधात्मक होना चाहिए। इन दो आधारवाक्यों में केवल तीन पद सर्वांशी हैं—'आ' का उद्देश, और 'ए' के दोनों पद। अब, निष्कर्षवाक्य 'ए' होने के कारण 'उ' और 'वि' दोनों सर्वांशी हैं; और इसलिए उन्हें आधारवाक्यों में भी सर्वांशी होना चाहिए। तब, जो तीसरा एक सर्वांशी पद बचता है वह हेतुपद होगा।

---

[1] If the conclusion be universal, the middle term can be distributed only once in the premises.

(२) केवल पहले क्रम में ही 'आ' वाक्य निष्कर्ष हो सकता है ।[1]

सिद्धि—यदि निष्कर्ष 'आ' हो, तो दोनों आधारवाक्य भी अवश्य 'आ' होंगे। क्योंकि, निष्कर्ष के विधानात्मक होने के कारण दोनों आधारवाक्य भी अवश्य विधानात्मक होंगे; और निष्कर्ष के सामान्य होने के कारण दोनों आधारवाक्य भी अवश्य सामान्य होंगे।

'आ' निष्कर्ष-वाक्य में 'उ' सर्वांशी है; इसे उद्देशवाक्य में भी सर्वांशी होना आवश्यक है। अतः, यहाँ उद्देशवाक्य का उद्देशपद ही 'उ' होगा, क्योंकि इसमें केवल वही सर्वांशी है। विधेयवाक्य का उद्देशपद जो सर्वांशी है अवश्य 'हे' होगा। तब, विधेयवाक्य का विधेयपद 'वि' होगा; और उद्देशवाक्य का विधेयपद 'हे' होगा। इस तरह, इस न्यायवाक्य में क्रम होगा—

हे—वि
उ—हे

यह पहला क्रम है।

(३) पहले क्रम में आधारवाक्य 'ओ' नहीं हो सकता ।[2]

सिद्धि—पहले क्रम में 'हे' विधेयवाक्य में उद्देश, और उद्देशवाक्य में विधेय होता है।

यदि विधेयवाक्य 'ओ' हो, तो उद्देशवाक्य अवश्य 'आ' होगा। क्योंकि, दोनों आधारवाक्य न तो निषेधात्मक हो सकते हैं और न विशेष। विधेयवाक्य 'ओ' और उद्देशवाक्य 'आ' होने से यहाँ 'हे' को एक बार भी सर्वांशी होने का अवसर नहीं मिलेगा। अतः कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकेगा।

---

[1] The first figure alone can prove the proposition 'A'. [2] The proposition O cannot be a premise in the first figure.

यदि उद्देशवाक्य 'ओ' हो, तो उक्त कारण से विधेयवाक्य अवश्य 'आ' होगा। और, निष्कर्षवाक्य 'ओ' होगा। निष्कर्षवाक्य निषेधात्मक होने के कारण उसमें 'वि' सर्वांशी होगा। उसे विधेयवाक्य में भी सर्वांशी होना आवश्यक होगा। किंतु यहाँ वह सर्वांशी नहीं है। अतः कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता।

इस तरह, सिद्ध हुआ कि पहले क्रम में आधारवाक्य 'ओ' नहीं हो सकता, न तो उद्देशवाक्य और न विधेयवाक्य।

(४) चौथे क्रम में आधारवाक्य 'ओ' नहीं हो सकता।[1]

प्रमाण—चौथे क्रम में 'हे' विधेयवाक्य में विधेय, और उद्देशवाक्य में उद्देश होता है। यदि कोई भी आधारवाक्य 'ओ' हो तो दूसरा आधारवाक्य 'आ' होगा; और उनका निष्कर्ष 'ओ' होगा।

यदि विधेयवाक्य 'ओ' हो तो इसमें 'वि' सर्वांशी नहीं होने के कारण वह निष्कर्ष में भी सर्वांशी नहीं हो सकता। किंतु निष्कर्ष 'ओ' होने के कारण उसमें 'वि' सर्वांशी होना चाहिए। इस कारण, विधेयवाक्य 'ओ' नहीं हो सकता।

यदि उद्देशवाक्य 'ओ' हो तो इसमें 'हे' सर्वांशी नहीं होगा। तब, इसे विधेयवाक्य में सर्वांशी होना अवश्य चाहिए। किन्तु विधेयवाक्य 'आ' होने के कारण इसमें भी 'हे' सर्वांशी नहीं हो सकता।

इससे सिद्ध हुआ कि चौथे क्रम में आधारवाक्य 'ओ' नहीं हो सकता।

(५) 'ओ' विधेयवाक्य केवल तीसरे क्रम में हो सकता है।[2]

प्रमाण—(क) पहले क्रम में विधेयवाक्य 'ओ' नहीं हो सकता।

---

[1] The proposition O cannot be a premise in the fourth figure. [2] The proposition O can be the major premise only in the third figure.

पहले क्रम में, 'हे' विधेयवाक्य में उद्देश और उद्देशवाक्य में विधेय होता है। अब, यदि विधेयवाक्य 'ओ' हो, तो उद्देशवाक्य 'आ' होगा। और तब इनमें किसी में भी 'हे' सर्वांशी नहीं होगा। अतः इनसे कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता।

(ख) दूसरे क्रम में भी विधेयवाक्य 'ओ' नहीं हो सकता।

दूसरे क्रम में, दोनों आधारवाक्यों में 'हे' विधेय होता है। अतः, यदि विधेयवाक्य 'ओ' हो तो इसमें 'वि' सर्वांशी नहीं होगा। किंतु, एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा, और उसमें 'वि' सर्वांशी होना चाहिए।' इस तरह 'अनुचित विधेय' दोष हो जाता है। कोई निष्कर्ष नहीं निकलेगा।

(ग) चौथे क्रम में भी विधेयवाक्य 'ओ' नहीं हो सकता। चौथे क्रम में, 'हे' विधेयवाक्य में विधेय और उद्देशवाक्य में उद्देश होता है।

यदि विधेयवाक्य 'ओ' हो तो इसमें 'वि' सर्वांशी नहीं होगा। किंतु, एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा, और उसमें 'वि' सर्वांशी होना चाहिए। इस तरह, 'अनुचित विधेय दोष' हो जाता है। कोई निष्कर्ष नहीं निकलेगा।

(घ) तीसरे क्रम में विधेयवाक्य 'ओ' हो सकता है।

तीसरे क्रम में, 'हे' दोनों आधारवाक्यों में उद्देश होता है। यदि विधेयवाक्य 'ओ' हो तो इसमें 'वि' सर्वांशी होगा; और निषेधात्मक निष्कर्ष में 'अनुचित विधेय' दोष होने का प्रसंग नहीं आवेगा। फिर, विधेयवाक्य 'ओ' होने से उद्देशवाक्य 'आ' होगा, जिसमें 'हे' उद्देश होने के कारण सर्वांशी होगा। इस तरह, न तो 'अनुचित विधेय' का और न 'असर्वांशी हेतु' का दोष होगा। इनके आधार पर जो निष्कर्ष निकलेगा वह 'ओ' वाक्य होगा।

(६) दूसरे क्रम को छोड़, और किसी भी क्रम में 'ओ' उद्देशवाक्य नहीं हो सकता।[१]

प्रमाण—(क) पहले क्रम में 'ओ' उद्देशवाक्य नहीं हो सकता, क्योंकि, जैसा ऊपर देख चुके हैं, इससे 'अनुचित विधेय' का दोष हो जायगा।

(ख) तीसरे क्रम में यदि 'ओ' उद्देशवाक्य हो, तो विधेयवाक्य 'आ' और निष्कर्ष वाक्य 'ओ' होगा। तब, निष्कर्ष में 'वि' सर्वांशी होगा, और उसे विधेयवाक्य में भी सर्वांशी होना चाहिए। किंतु यहाँ 'आ' विधेयवाक्य में 'वि' विधेय होने के कारण सर्वांशी नहीं है। इस तरह, 'अनुचित विधेय' का दोष उपस्थित होता है।

(ग) चौथे क्रम में यदि 'ओ' उद्देशवाक्य हो, तो विधेयवाक्य 'आ' होगा। तब, इस क्रम में 'हे' न तो विधेयवाक्य में सर्वांशी होगा और न उद्देशवाक्य में। 'असर्वांशी हेतु' दोष आ जाने के कारण कोई निष्कर्ष नहीं निकलेगा।

(घ) दूसरे क्रम में 'ओ' उद्देशवाक्य हो सकता है। उद्देशवाक्य 'ओ' होने से विधेयवाक्य 'आ' और निष्कर्षवाक्य 'ओ' होगा। निष्कर्ष में 'वि' सर्वांशी है; और वह विधेयवाक्य में भी है (क्योंकि, यहाँ 'वि' विधेयवाक्य का उद्देश है, जो सर्वांशी है)। फिर, 'हे' उद्देशवाक्य में निषेधात्मवाक्य के विधेय होने के कारण सर्वांशी है। इस तरह, इसके आधार पर निर्दोष निष्कर्ष निकल सकता है।

(७) सभी क्रमों में, उद्देशवाक्य निषेधात्मक होने से विधेयवाक्य अवश्य सामान्य होगा।[२]

---

[१] The preposition O cannot be a minor premise, in any other figure but the second.

[२] In every figure, if the minor premise be negative, the major must be universal.

उद्देश्यवाक्य निषेधात्मक हो तो विधेयवाक्य अवश्य विधानात्मक होगा। और, उनका निष्कर्ष निषेधात्मक होगा। निषेधात्मक निष्कर्ष में 'वि' सर्वांशी होगा। उसे विधेयवाक्य में भी सर्वांशी होना चाहिए।

चूंकि यहाँ विधेयवाक्य विधानात्मक है, इसमें सर्वांशी 'वि' विधेय न होकर उद्देश ही होगा। और, उद्देश के सर्वांशी होने का अर्थ है उस वाक्य का सामान्य होना।

(८) यदि 'हे' दोनों आधारवाक्यों में सर्वांशी हो, तो निष्कर्ष सामान्य नहीं हो सकता।[१]

यदि निष्कर्ष सामान्य हो, तो वह या तो विधानात्मक होगा या निषेधात्मक, या तो 'आ' या 'ए'।

यदि निष्कर्ष 'आ' हो तो दोनों आधारवाक्य भी 'आ' होंगे। क्योंकि एक भी आधारवाक्य के 'विशेष' होने से निष्कर्ष विशेष होता; और एक भी आधारवाक्य के निषेधात्मक होने से निष्कर्ष निषेधात्मक होता। निष्कर्ष 'आ' होने से उसमें 'उ' सर्वांशी होगा, और उसे आधारवाक्य में भी सर्वांशी होना चाहिए। किंतु इन दो आधारवाक्यों के जो उद्देश सर्वांशी हैं वे तो 'हे' हैं; अतः 'उ' उनमें सर्वांशी नहीं है। निष्कर्ष में भी 'उ' सर्वांशी नहीं हो सकता। अर्थात्, निष्कर्ष सामान्य नहीं होगा।

यदि निष्कर्ष 'ए' हो तो उसमें 'उ' और 'वि' दोनों सर्वांशी होंगे, और आधारवाक्यों में भी उन्हें सर्वांशी होना चाहिए। फिर, निष्कर्ष 'ए' होने से एक आधारवाक्य अवश्य 'ए' होगा और दूसरा 'आ'। क्योंकि, एक भी आधारवाक्य के विशेष होने से निष्कर्ष विशेष होता, और दोनों के निषेधात्मक होने से कोई निष्कर्ष ही नहीं निकलता। इस तरह,

---

[१] If the middle term be distributed in both the premises the conclusion cannot be universal.

आधारवाक्यों में केवल तीन ही पद सर्वांशी हो सकेंगे। इनमें दो 'हे' होंगे, तो एक 'वि' होगा, क्योंकि निष्कर्ष निषेधात्मक है। तब 'उ' को सर्वांशी होना सम्भव नहीं रहता। निष्कर्ष में भी 'उ' सर्वांशी नहीं होगा। अर्थात् वह वाक्य सामान्य नहीं होगा।

(९) यदि आधारवाक्य में 'उ' विधेय हो, तो निष्कर्ष कदापि 'आ' नहीं हो सकता।

या तो 'उ' सर्वांशी है या नहीं। यदि 'उ' सर्वांशी हो, तो उद्देशवाक्य निषेधात्मक होगा। तब निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा। अतः यह 'आ' नहीं हो सकता।

यदि आधारवाक्य में 'उ' सर्वांशी न हो, तो निष्कर्ष में भी वह नहीं होगा। अर्थात् निष्कर्ष सामान्य नहीं होगा। अतः यह 'आ' नहीं हो सकता।

(१०) विधेयवाक्य में 'वि' यदि विधेय हो तो उद्देशवाक्य अवश्य विधानात्मक होगा।

विधेयवाक्य में 'वि' या तो सर्वांशी है या नहीं। यदि सर्वांशी हो तो वह वाक्य निषेधात्मक होगा। तब, उद्देशवाक्य को अवश्य विधानात्मक होना चाहिए, क्योंकि दो निषेधात्मक वाक्यों से कोई निष्कर्ष नहीं निकलता।

यदि विधेयवाक्य में 'वि' सर्वांशी न हो, तो यह निष्कर्ष में भी सर्वांशी नहीं हो सकता। अर्थात् निष्कर्ष विधानात्मक होगा। निष्कर्ष विधानात्मक होने का अर्थ है कि इसके दोनों आधारवाक्य भी अवश्य विधानात्मक होंगे। अतः उद्देशवाक्य विधानात्मक ही हुआ।

निगमन-विधि

दूसरा भाग

परंपरानुमान

न्यायवाक्य

(ख. मिश्र[1])

§ १—हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष-न्यायवाक्य[2]

हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष-न्यायवाक्य मिश्र-न्यायवाक्य का वह रूप है जिसका विधेयवाक्य हेतुफलाश्रित, और उद्देशवाक्य तथा निष्कर्षवाक्य निरपेक्ष होते हैं। हेतु और फल का जो परस्पर सम्बन्ध है, वही इस न्यायवाक्य की सिद्धि का आधार है। इस 'सम्बन्ध' में दो नियम काम करते हैं—

(१) हेतु के विधान से फल का विधान कर सकते हैं, किंतु फल के विधान से हेतु का विधान नहीं कर सकते। और,

(२) फल के निषेध से हेतु का निषेध कर सकते हैं, किंतु हेतु के निषेध से फल का निषेध नहीं कर सकते।

पहले प्रकार के न्यायवाक्य को विधायक[3] और दूसरे प्रकार के न्यायवाक्य को विघातक[4] कहते हैं।

---

[1] Mixed Syllogism. [2] Hypothetical-categorical Syllogism. [3] Modus ponens (Constructive).
[4] Modus Tollens (Destructive).

(क) विधायक हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष-न्यायवाक्य

इस न्यायवाक्य का विधेयवाक्य हेतुफलाश्रित होता है : इसका उद्देशवाक्य हेतु का निरपेक्ष विधान करता है : ओर, इसका निष्कर्ष-वाक्य 'फल' का निरपेक्ष विधान करता है। जैसे—

१. यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है;
'क' 'ख' है,
∴ 'ग' 'घ' है।
यदि दीया जलता है, तो प्रकाश होता है;
दीया जलता है,
∴ प्रकाश होता है।

२. यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' नहीं है;
'क' 'ख' है,
∴ 'ग' 'घ' नहीं है।
यदि चौकीदार जागता है, तो चोर नहीं आते हैं;
चौकीदार जागता है,
∴ चोर नहीं आते हैं।

३. यदि 'क' 'ख' नहीं है, तो 'ग' 'घ' है;
'क' 'ख' नहीं है,
∴ 'ग' 'घ' है।
यदि कमरा अंधेरा नहीं है, तो लड़का जागता है;
कमरा अंधेरा नहीं है,
∴ लड़का जागता है।

४. यकि 'क' 'ख' नहीं है, तो 'ग' 'घ' नहीं है;
'क' 'ख' नहीं है,
∴ 'ग' 'घ' नहीं है।

यदि वृष्टि नहीं होती है, तो धान नहीं होता है;
वृष्टि नहीं होती है,
∴ धान नहीं होता है।

(ख) विघातक[1] हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष-न्यायवाक्य

इस न्यायवाक्य का विधेयवाक्य हेतुफलाश्रित होता है; इसका उद्देशवाक्य 'फल' का निरपेक्ष निषेध करता है : और इसका निष्कर्षवाक्य 'हेतु' का निरपेक्ष निषेध करता है। जैसे—

१. यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है;
'ग' 'घ' नहीं है,
∴ 'क' 'ख' नहीं है।
यदि दीया जलता है, तो प्रकाश होता है;
प्रकाश नहीं होता है,
∴ दीया नहीं जलता है।

२. यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' नहीं है;
'ग' 'घ' है,
∴ 'क' 'ख' नहीं है।
यदि चौकीदार जागता है, तो चोर नहीं आते हैं;
चोर आते हैं,
∴ चौकीदार नहीं जागता है।

३. यदि 'क' 'ख' नहीं है, तो 'ग' 'घ' है;
'ग' 'घ' नहीं है,
∴ 'क' 'ख' है।
यदि कमरा अँधेरा नहीं है, तो लड़का जागता है;

---

[1] Destructive.

लड़का जागता नहीं है,

∴ कमरा अँधेरा है।

४. यदि 'क' 'ख' नहीं है, तो 'ग' 'घ' नहीं है;

'ग' 'घ' है,

∴ 'क' 'ख' है।

यदि वृष्टि नहीं होती है, तो धान नहीं होता है;

धान होता है,

∴ वृष्टि होती है।

यह स्मरण रहे कि हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष-न्यायवाक्य के 'विधायक' तथा 'विघातक' रूप का सम्बन्ध उसके अवयवों के 'गुण' से नहीं है। अवयव विधानात्मक भी हो सकते हैं, और निषेधात्मक भी। किंतु वे रूप इसी से जाने जाते हैं कि उद्देशवाक्य हेतु का विधान करता है, या फल का निषेध करता है।

(ग) इन न्यायवाक्यों के दोष

इन न्यायवाक्यों के दोष दो हैं—'फल-विधान' और 'हेतुनिषेध'।

फल-विधान दोष[१]—यदि किसी हेतुफलाश्रित वाक्य के फल का विधान करके हेतु का विधान करना चाहें तो यह नहीं हो सकता। जैसे—

यदि वह विष खाय, तो मर जाय;

वह मर गया,

∴ उसने विष खाया।

यह न्यायवाक्य ठीक नहीं है। क्योंकि उसके मरने के दूसरे भी हेतु हो सकते हैं। इससे सिद्ध होता है कि फल का विधान करके हेतु का विधान करना सम्भव नहीं। इस दोष को 'फल-विधान दोष' कहते हैं।

---

[१] Fallacy of affirming the consequent.

इस न्यायवाक्य को शुद्ध निरपेक्ष रूप में ला कर भी इस दोष की परीक्षा कर सकते हैं। जैसे—

सभी 'विष खाने की अवस्थायें' 'मर जाने की अवस्थायें' हैं,
'यह' 'मर जाने की अवस्था' है,
∴ 'यह' 'विष खाने की अवस्था' है।

इस न्यायवाक्य में हेतुपद 'मर जाने की अवस्था' एक वार भी सर्वांशी नहीं है। अतः इनसे कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता। हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष न्यायवाक्य का 'फल-विधान-दोष' वही चीज है जो शुद्ध निरपेक्ष न्यायवाक्य में 'असर्वांशी-हेतु-दोष' है।

हेतु-निषेध दोष[1]—यदि किसी हेतुफलाश्रित वाक्य के हेतु का निषेध करके फल का निषेध करना चाहें तो यह नहीं हो सकता। जैसे—

यदि वह विष खाय, तो मर जाय;
उसने विष नहीं खाया,
∴ वह नहीं मरा।

यह न्यायवाक्य ठीक नहीं है: क्योंकि विष न खाने पर भी वह दूसरे कारण से मर जा सकता है। इससे सिद्ध होता है कि हेतु का निषेध करके फल का निषेध करना सम्भव नहीं है। इस दोष को 'हेतु-निषेध दोष' कहते हैं।

इस न्यायवाक्य को शुद्ध निरपेक्ष रूप में ला कर भी इस दोष की परीक्षा कर सकते हैं। जैसे—

सभी 'विष खाने की अवस्थायें' 'मर जाने की अवस्थायें' हैं,
'यह' 'विष खाने की अवस्था' नहीं है,
∴ 'यह' 'मर जाने की अवस्था' नहीं है।

इस निष्कर्ष में 'वि' सर्वांशी है, किंतु वह आधारवाक्य में सर्वांशी

[1] Fallacy of denying the antecedent.

नहीं है। अतः न्यायवाक्य सिद्ध नहीं हुआ। हेतुफलाश्रित निरपेक्षन्याय-वाक्य का 'हेतु-निषेध दोष' वही चीज है जो शुद्ध निरपेक्ष न्यायवाक्य में 'अनुचित विधेय दोष' है।

§ २—वैकल्पिक-निरपेक्ष-न्यायवाक्य[1]

वैकल्पिक-निरपेक्ष-न्यायवाक्य मिश्र न्यायवाक्य का वह रूप है जिसका विधेयवाक्य वैकल्पिक, और उद्देशवाक्य तथा निष्कर्षवाक्य निरपेक्ष होते हैं। इसे संक्षेप में वैकल्पिक न्यायवाक्य भी कहते हैं।

इस न्यायवाक्य की सिद्धि का आधारभूत नियम यह है—किसी वैकल्पिक विधेयवाक्य के एक विकल्प का यदि उद्देशवाक्य में निषेध करें तो निष्कर्ष में उसके दूसरे विकल्प का विधान कर सकते हैं।[2] जैसे—

सांकेतिक

या तो 'क' 'ख' है, या 'ग' 'घ' है;
'क' 'ख' नहीं है,
∴ 'ग' 'घ' है।

या तो 'क' 'ख' है, या 'ग' 'घ' है;
'ग' 'घ' नहीं है,
∴ 'क' 'ख' है।

वास्तविक

या तो ईश्वर है, या बाइबिल झूठी है;
ईश्वर नहीं है,

---

[1] Disjunctive-categorical syllogism.

[2] Deny any of the alternatives of the Disjunctive major premise in the minor premise and you can affirm the other alternative of the major premise in the conclusion.

∴ बाइबिल झूठी है।

या तो ईश्वर है, या बाइबिल झूठी है;

बाइबिल झूठी नहीं है,

∴ ईश्वर है।

× × ×

युबर्वेग प्रभृति कुछ तर्कशास्त्रियों का विचार है कि इस न्यायवाक्य के उक्त नियम का प्रतिलोम भी सत्य है। यह कि, किसी वैकल्पिक विधेयवाक्य के एक विकल्प का यदि उद्देशवाक्य में विधान करें तो निष्कर्ष में उसके दूसरे विकल्प का निषेध कर सकते हैं। जैसे—

सांकेतिक

या तो 'क' 'ख' है, या 'ग' 'घ' है;

'क' 'ख' है,

∴ 'ग' 'घ' नहीं है।

या तो 'क' 'ख' है, या 'ग' 'घ' है;

'ग' 'घ' है,

∴ 'क' 'ख' नहीं है।

वास्तविक

या तो ईश्वर है, या बाइबिल झूठी है;

ईश्वर है,

∴ बाइबिल झूठी नहीं है।

या तो ईश्वर है, या बाइबिल झूठी है;

बाइबिल झूठी है,

∴ ईश्वर नहीं है।

ऊपर देख चुके हैं कि यह दूसरा नियम तभी सत्य होता है जब वाक्य के दोनों विकल्प परस्पर विरुद्ध हों, भेदक नहीं। अतः पहला ही नियम ऐसा है जो सभी वैकल्पिक-न्यायवाक्यों में सत्य ठहरता है।

§ ३—मेण्डक-प्रयोग[1]

मेण्डक (= भेड़ा) के जैसे दो भयानक सींग होते हैं जिनके बीच में पड़ कोई सुरक्षित नहीं रहता, एक से बचना चाहता है तो दूसरे की चोट लगती है, उसी तरह न्यायवाक्य के इस प्रयोग में प्रतिवादी दो ऐसे विकल्पों के बीच डाल दिया जाता है जो दोनों उसके अनिष्ट होते हैं, जिनसे बचना कठिन होता है। पहली शताब्दी के आस-पास लिखी गई पालि किताब 'मिलिन्दपञ्हो' में इस न्यायवाक्य के बड़े सुन्दर उदाहरण मिलते हैं, जिन्हें ग्रीक-सम्राट् मिलिन्द (Menandor) बौद्धधर्म के विपक्ष में उपस्थित करता है।[2]

मेण्डक-प्रयोग मिश्रन्यायवाक्य का वह रूप है जिसके विधेयवाक्य में दो हेतुफलाश्रित वाक्य संयुक्त होते हैं; उद्देशवाक्य वैकल्पिक होता है, (जिसके दोनों विकल्प या तो उनके हेतु का विधान करते हैं, या उनके फलों का निषेध करते हैं); और निष्कर्ष-वाक्य निरपेक्ष या वैकल्पिक होता है।

इस प्रयोग के तीनों अवयव इस प्रकार होते हैं—

(क) विधेयवाक्य—दो संयुक्त हेतुफलाश्रित वाक्य। जैसे—यदि तुम सत्यवादी रहो, तो मनुष्यों के अप्रिय बनोगे; और यदि असत्यवादी रहो तो ईश्वर के अप्रिय बनोगे।

(ख) उद्देशवाक्य—वैकल्पिकवाक्य, जिसके विकल्प विधेयवाक्य के दोनों हेतु का विधान करते हैं, या उसके दोनों फलों का निषेध करते हैं। जैसे—या तो तुम सत्यवादी हो या असत्यवादी, अथवा

या तो तुम मनुष्यों के अप्रिय नहीं हो, या ईश्वर के,

---

[1] Dilemma. 'मेण्डक' पालि भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ होता है भेड़ा मेष।

[2] देखिए भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा अनूदित 'मिलिन्द प्रश्न'।

(ग) निष्कर्षवाक्य—उद्देशवाक्य में हेतु का विधान होने से, यहाँ फलों का विधान होगा; और उसमें फलों का निषेध होने से, यहाँ हेतु का निषेध होगा। जैसे—

∴ या तो तुम मनुष्यों के अप्रिय बनोगे, या ईश्वर के,

अथवा

∴ या तो तुम सत्यवादी नहीं हो, या असत्यवादी नहीं हो।

* * *

१. मेण्डक-प्रयोग के रूप

मेण्डक-प्रयोग का उद्देशवाक्य यदि विधेयवाक्य के दोनों हेतुफलाश्रित वाक्यों के हेतु का विधान करता हो, तो उसे 'विधायक मेण्डक-प्रयोग'[1] कहते हैं। और, यदि उसका उद्देशवाक्य विधेयवाक्य के दोनों हेतुफलाश्रित वाक्यों के फलों का निषेध करता हो, तो उसे 'विघातक मेण्डक-प्रयोग'[2] कहते हैं।

मेण्डक-प्रयोग का निष्कर्ष यदि निरपेक्षवाक्य हो तो उसे शुद्ध[3], और यदि वैकल्पिक वाक्य हो तो उसे 'युक्त'[4] कहते हैं।

इस तरह, मेण्डक-प्रयोग के 'विधायक' या 'विघातक' होने की बात उसके उद्देशवाक्य को देखने से मालूम होगी : और उसके 'शुद्ध' या 'युक्त' होने की बात उसके निष्कर्षवाक्य को देखने से मालूम होगी। इन दोनों विभागों को मिला देने से मेण्डक-प्रयोग चार प्रकार के हुए—

(१) शुद्ध-विधायक, (२) युक्त-विधायक, (३) शुद्ध-विघातक, और (४) युक्त-विघातक। इनके उदाहरण हैं—

---

[1] Constructive Dilemma.

[2] Destructive Dilemma.

[3] Simple Dilemma.

[4] Complex Dilemma.

क. शुद्ध-विधायक मेण्डक-प्रयोग[1]

विधेयवाक्य—यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है; और यदि 'च' 'छ' है, तो 'ग' 'घ' है;
उद्देशवाक्य—या तो 'क' 'ख' है, या 'च' 'छ' है;
निष्कर्ष—∴ 'ग' 'घ' है।

विधेयवाक्य—यदि मनुष्य अपने मन से ही कुछ करता है, तो लोग उसकी टीका करते हैं; और यदि वह दूसरे के मन से कुछ करता है, तो भी लोग उसकी टीका करते हैं।
उद्देशवाक्य—मनुष्य या तो अपने मन से ही कुछ करेगा, या दूसरे के मन से;
निष्कर्ष—∴ किसी भी अवस्था में, उसकी टीका की जायगी।

यह मेण्डक-प्रयोग 'शुद्ध' है, क्योंकि इसका निष्कर्ष निरपेक्ष वाक्य है; और, यह 'विधायक' है, क्योंकि इसके उद्देशवाक्य में विधेयवाक्य के दोनों हेतुफलाश्रित वाक्यों के हेतु का विधान किया गया है।

'शुद्ध-विधायक मेण्डक-प्रयोग' का एक अत्यन्त प्रसिद्ध उदाहरण इंगलैण्ड के राजा सप्तम हेनरी के जालिम कर्मचारी एम्पसैन् के उस दलील का है जिससे वह अपराधियों को बड़ी बड़ी रकम में अर्थदण्ड देने को बाध्य किया करता था। वह कहा करता था—

विधेयवाक्य—यदि अपराधी किफ़ायत से रहता है, तो उसने खूब धन बचा लिया होगा; और यदि वह बड़ा साखर्च है, तो इससे पता चलता है कि उसके पास धन है;
उद्देशवाक्य—अब, वह या तो किफायत से रहता होगा, या साखर्च होगा;
निष्कर्षवाक्य—∴ उसके पास अवश्य खूब धन है (अर्थात् वह बड़ी रकम में अर्थदण्ड दे सकता है)।

---

[1] Simple Constructive Dilemma.

(ख) युक्त-विधायक मेण्डक-प्रयोग[1]

विधेयवाक्य—यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है; और यदि 'च' 'छ' है, तो 'ज' 'झ' है :
उद्देशवाक्य—या तो 'क' 'ख' है, या 'च' 'छ' है;
निष्कर्ष—∴ या तो 'ग' 'घ' है, या 'ज' 'झ' है।

इस मेण्डक प्रयोग का प्रसिद्ध उदाहरण मुसल्मानी सेनापति उमर खलीफा के उस दलील में है जिससे उसने अलक्षेन्द्रिया के विख्यात पुस्तकालय को जला देने योग्य ठहरा कर जला दिया था। खलीफा ने पुस्तकाध्यक्ष से कहा—

विधेयवाक्य—यदि तुम्हारी किताबें कुरान के अनुकूल हैं, तो कुरान के रहते इनका कोई प्रयोजन नहीं; और यदि ये कुरान के प्रतिकूल हैं, तो पातक हैं;
उद्देशवाक्य—अब, तुम्हारी किताबें या तो कुरान के अनुकूल होंगी, या उसके प्रतिकूल;
निष्कर्ष—∴ तुम्हारी किताबें या तो निष्प्रयोजन हैं, या पातक हैं।

(ग) शुद्ध-विघातक मेण्डक-प्रयोग[2]

विधेयवाक्य—यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है; और यदि 'क' 'ख' है, तो 'च' 'छ' है;
उद्देशवाक्य—या तो 'ग' 'घ' नहीं है, या 'च' 'छ' नहीं है;
निष्कर्ष—∴ 'क' 'ख' नहीं है।

विधेयवाक्य—यदि तुम्हें भोजन करना है, तो तुम्हें होटल जाना चाहिए; अथवा यदि तुम्हें भोजन करना है, तो तुम्हें आग जलाना चाहिए :

---

[1] Complex Constructive Dilemma.
[2] Simple Destructive Dilemma.

उद्देशवाक्य—या तो तुम होटल नहीं जा सकते, या आग नहीं जला सकते;
निष्कर्ष—∴ तुम भोजन नहीं कर सकते।

(घ) युक्त-विघातक मेण्डक-प्रयोग[1]

विधेयवाक्य—यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है; और यदि 'च' 'छ' है, तो 'ज' 'झ' है;
उद्देशवाक्य—या तो 'ग' 'घ' नहीं है, या 'ज' 'झ' नहीं है;
निष्कर्ष—∴ या तो 'क' 'ख' नहीं है, या 'च' 'छ' नहीं है।
विधेयवाक्य—यदि वह कर्मशील होता, तो खूब काम करता; और यदि वह विचारशील होता, तो बात समझता;
उद्देशवाक्य—या तो वह काम नहीं करता है, या बात नहीं समझता है;
निष्कर्ष—∴ या तो वह कर्मशील नहीं है, या विचारशील नहीं है।

* * *

२. मेण्डक-प्रयोग का प्रत्याख्यान[2]

किसी मेण्डक-प्रयोग के विरुद्ध ठीक उलटा निष्कर्ष सिद्ध करने वाले दूसरे मेण्डक-प्रयोग को उपस्थित करने की विधि को मेण्डक-प्रयोग का प्रत्याख्यान कहते हैं। इसकी विधि यह है कि—

विधेयवाक्य में दोनों हेतुफलाश्रित वाक्यों के फलों को परस्पर उलट देते हैं, और उनके गुण को बदल देते हैं।

यह प्रत्याख्यान 'युक्त-विधायक मेण्डक-प्रयोग' में ठीक होता है। जैसे—

प्रस्तुत मेण्डक-प्रयोग

यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है; और यदि 'च' 'छ' है, तो 'ज' 'झ' है:
या तो 'क' 'ख' है, या 'च' 'छ' है;

---

[1] Complex Destructive Dilemma.
[2] Rebutting a Dilemma.

∴ या तो 'ग' 'घ' है, या 'ज' 'झ' है।

प्रत्याख्यात रूप

यदि 'क' 'ख' है, तो 'ज' 'झ' नहीं है; और यदि 'च' 'छ' है, तो 'ग' 'घ' नहीं है :

या तो 'क' 'ख' है, या 'च' 'छ' है;

∴ या तो 'ज' 'झ' नहीं है, या 'ग' 'घ' नहीं है।

यहाँ देखेंगे कि प्रत्याख्यात रूप का निष्कर्ष प्रस्तुत रूप के निष्कर्ष का उलटा है। विधेयवाक्य में फलों को उलट कर जो उनके गुण बदल दिए उसमें भी कोई असंगति नहीं दीख पड़ती। मियाँ की जूती मियाँ के सिर वाली कहावत की तरह, प्रस्तुत बात को उलट कर ऐसा रख दिया कि वह वक्ता के ही विरुद्ध हो गया। कुछ वास्तविक उदाहरण ले कर देखें—

प्रस्तुत मेण्डक-प्रयोग

यदि तुम्हारी किताबें कुरान के अनुकूल हैं, तो कुरान के रहते इनका कोई प्रयोजन नहीं; और यदि ये कुरान के प्रतिकूल हैं, तो पातक हैं :

अब, तुम्हारी किताबें कुरान के अनुकूल होंगी, या उसके प्रतिकूल;

∴ तुम्हारी किताबें या निष्प्रयोजन हैं या पातक।

प्रत्याख्यात रूप

यदि हमारी किताबें कुरान के अनुकूल हैं, तो पातक नहीं हैं; और यदि ये कुरान के प्रतिकूल हैं, तो ये निष्प्रयोजन नहीं हैं;

अब, हमारी किताबें या तो कुरान के अनुकूल हैं, या उसके प्रतिकूल;

∴ हमारी किताबें या तो पातक नहीं हैं, या निष्प्रयोजन नहीं हैं।

× × ×

प्रस्तुत मेण्डक-प्रयोग

यदि तुम सचाई से काम करो, तो मनुष्य तुम्हें घृणा करेंगे; और यदि तुम बेईमानी से काम करो, तो देवता लोग तुम्हें घृणा करेंगे;

या तो तुम सचाई से काम करोगे, या बेईमानी से,

∴ या तो तुम्हें मनुष्य लोग घृणा करेंगे, या देवता लोग।

यह दलील दे कर एथेन्स नगर की एक माता ने अपने पुत्र को देशसेवा में लगने से रोकने का प्रयत्न किया। पुत्र ने इसका प्रत्याख्यान इस प्रकार किया—

प्रत्याख्यात रूप

यदि मैं सचाई से काम करूँ, तो देवता लोग मुझे प्रेम करेंगे; और यदि मैं बेईमानी से काम करूँ, तो मनुष्य लोग प्रेम करेंगे।

या तो मैं सचाई से काम करूँगा, या बेईमानी से;

∴ या तो मुझे देवता लोग या मनुष्य लोग प्रेम करेंगे।

× × ×

प्रस्तुत मेण्डक-प्रयोग

यदि कोई अविवाहित रहे, तो उसकी परवाह करने वाली कोई नहीं होती; और यदि विवाहित रहे, तो उसे स्त्री की परवाह करनी होती है;

अब, मनुष्य या तो विवाहित रहेगा, या अविवाहित;

∴ या तो उसकी परवाह करने वाली कोई नहीं होगी, या उसे स्त्री की परवाह करनी होगी (अर्थात् दोनों अवस्थाओं में उसे चैन नहीं)।

प्रत्याख्यात रूप

यदि कोई अविवाहित रहे, तो उसे स्त्री की परवाह करनी नहीं होती; और यदि वह विवाहित रहे, तो उसकी स्त्री उसकी परवाह करती है;

अब, मनुष्य या तो विवाहित रहेगा, या अविवाहित;

∴ या तो उसे स्त्री की परवाह करनी नहीं होती, या उसकी स्त्री उसकी परवाह करती है (अर्थात् दोनों अवस्थाओं में उसे मौज है)।

× × ×

प्रसिद्ध युनानी दार्शनिक प्रोटेगोरस् ने युआथलस को इस शर्त पर वाक्-चातुरी सिखाना स्वीकार किया कि आधी फीस तो तत्काल दे दे, और शेष पहला मुकदमा जीतने पर। सीख चुकने के बाद युआथलस ने बहुत दिनों तक किसी मुकदमे में बहस नहीं की, और फीस का शेष भाग नहीं दिया। प्रोटेगोरस् ने रुपये के लिए उसपर मुकदमा दायर किया। और, उसने उसके सामने यह मेण्डक-प्रश्न उपस्थित किया—

यदि मैं मुकदमा हार गया, तो अपने शर्त से रुपये नहीं दूँगा; और यदि मैं जीत गया, तो कचहरी के हुक्म से मुझे रुपये देने नहीं होंगे।

* * *

३. मेण्डक-प्रयोग की शुद्धि[1]

शास्त्रीय विचार से वही मेण्डक-प्रयोग शुद्ध है जिसमें रूप-विषयक और विषय-विषयक दोनों प्रामाणिकता पाई जाय। इसके शास्त्रीय नियमों की पूर्ति हो जाना भर पर्याप्त नहीं है, इसे वस्तुतः यथार्थ भी होना चाहिए।

क. रूपविषयक शुद्धि[2]

मेण्डक-प्रयोग यथार्थ में दो हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष न्यायवाक्यों का संयुक्त रूप है। किसी भी मेण्डक-प्रयोग को तोड़कर दो हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष न्यायवाक्यों में रख सकते हैं। जैसे—

---

१ Correctness of a Dilemma.

२ Formal Correctness of a Dilemma.

सांकेतिक उदाहरण

यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है; और यदि 'च' 'छ' है, तो 'ग' 'घ' है;
या तो 'क' 'ख' है, या 'च' 'छ' है;
∴ 'ग' 'घ' है।

इसके दो हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष न्यायवाक्य इस प्रकार होंगे—

(१) यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है,
'क' 'ख' है,
∴ 'ग' 'घ' है।

(२) यदि 'च' 'छ' है, तो 'ग' 'घ' है,
'च' 'छ' है,
∴ 'ग' 'घ' है।

वास्तविक उदाहरण

यदि कोई अपने मन से ही कुछ करता है, तो लोग उसकी टीका करते हैं; और यदि वह दूसरे के मन से कुछ करता है, तो भी लोग उसकी टीका करते हैं;

कोई या तो अपने मन से ही कुछ करेगा, या दूसरे के मन से;
∴ (दोनों तरह) लोग उसकी टीका करते हैं।

इसके दो हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष न्यायवाक्य इस प्रकार होंगे—

(१) यदि कोई अपने मन से ही कुछ करता है, तो लोग उसकी टीका करते हैं;
कोई अपने मन से ही कुछ करता है;
∴ लोग उसकी टीका करते हैं।

(२) यदि कोई दूसरे के मन से कुछ करता है, तो लोग उसकी टीका करते हैं;
कोई दूसरे के मन से कुछ करता है;
∴ लोग उसकी टीका करते हैं।

इस तरह, मेण्डक-प्रयोग को दो हेतुफलाश्रित-निरक्षेप न्यायवाक्यों में विभक्त कर उनकी परीत्ता करने से मालूम होता है कि वे दोनों निर्दोष हैं। दोनों में हेतु का विधान करके फल का विधान किया गया है, जो बिलकुल नियमानुकूल है। अतः, इस मेण्डक-प्रयोग में रूपविषयक कोई अशुद्धि नहीं है।

मेण्डक-प्रयोग की रूपविषय शुद्धि या अशुद्धि की परीक्षा इसी तरह उसे दो हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष न्यायवाक्यों में विभक्त करके करते हैं। उदाहरण के लिए, एक अशुद्ध मेण्डक-प्रयोग की परीक्षा करके देखें—

यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है; और यदि 'च' 'छ' है, तो 'ज' 'झ' है;
या तो 'ग' 'घ' है, या 'ज' 'झ' है;
∴ या तो 'क' 'ख' है, या 'च' 'छ' है।

इसके दो हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष न्यायवाक्य इस प्रकार होंगे—

(१) यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है,
'ग' 'घ' है,
∴ 'क' 'ख' है।

(२) यदि 'च' 'छ' है, तो 'ज' 'झ' है,
'ज' 'झ' है,
∴ 'च' 'छ' है।

ये दोनों न्यायवाक्य अशुद्ध हैं, क्योंकि इनमें 'फल-विधान' का दोष है। हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष न्यायवाक्य में फल का विधान करके हेतु का विधान नहीं कर सकते। अतः, इस मेण्डक-प्रयोग में रूपविषयक अशुद्धि है।

ख. विषय-विषयक शुद्धि[1]

मेण्डक-प्रयोग की रूपविषयक शुद्धि ही पर्याप्त नहीं है। उसे विषय से भी यथार्थ होना चाहिए, अर्थात् उसके आधारवाक्य वास्तविक सत्य

---

[1] Material Correctness of a Dilemma.

हों। मेण्डक-प्रयोग में अशुद्धि का कारण अधिकतर उसके आधारवाक्यों का असत्य होना ही होता है। आधारवाक्यों के असत्य होने से उसका निष्कर्ष भी असत्य होता है। अतः किसी मेण्डक-प्रयोग की परीक्षा करने के लिए यह देखना होगा कि इसके आधारवाक्य सच्चे हैं या नहीं।

मेण्डक-प्रयोग की विषय-विषयक असत्यता तीन तरह से सिद्ध की जा सकती है—

(१) विधेयवाक्य के दोनों हेतुफलाश्रित वाक्यों में यदि यथार्थतः उस हेतु से वह फल निष्पन्न नहीं होता हो, तो वह विषय से असत्य है। विधेयवाक्य के असत्य होने से निष्कर्ष भी असत्य होगा। जैसे—

विधेयवाक्य—यदि खूब वृष्टि हो, तो धान सड़ जाय; और यदि वृष्टि नहीं हो, तो धान जल जाय;

उद्देशवाक्य—अब, या तो खूब वृष्टि होगी, या होगी ही नहीं;

निष्कर्ष—∴ या तो धान सड़ जायगा, या जल जायगा।

इस मेण्डक-प्रयोग में दिखा सकते हैं कि यह निष्कर्ष असत्य है, क्योंकि विधेयवाक्य सच्चा नहीं है। खूब वृष्टि होने पर भी यदि पानी के निकास का पूरा प्रबन्ध रहे तो धान नहीं सड़ेगा; और वृष्टि नहीं होने पर भी यदि नहर से सिंचाव का अच्छा प्रबन्ध रहे तो धान नहीं जलेगा। अतः, यह बात सच नहीं है कि—यदि खूब वृष्टि हो, तो धान सड़ जाय; और यदि वृष्टि न हो, तो धान जल जाय।

विधेयवाक्य के हेतुफलाश्रित-वाक्यों की उपमा भेड़ के दो सींगों से दी जाती है, जिनके बीच में पड़ कोई संकटापन्न हो जाता है। अतः, इनकी असत्यता दिखा कर मेण्डक-प्रयोग को परास्त करने की इस विधि को शृङ्गनिग्रह विधि[1] कहते हैं। यह वैसा ही है जैसे कोई बिगड़े भेड़े को उसकी सींगों को पकड़ कर परास्त कर दे।

---

[1] Taking the dilemma by the horns.

(२) उद्देशवाक्य तब असत्य होता है जब उसके दोनों विकल्प यथार्थ में परस्पर विरुद्ध नहीं हों। उद्देशवाक्य के दोनों विकल्प ऐसे होने चाहिए कि उन्हें छोड़ किसी तीसरे विकल्प की सम्भावना एकदम नहीं हो। यदि उन दोनों को छोड़, तीसरे विकल्प की सम्भावना रह गई हो तो वह वाक्य सत्य नहीं ठहरता।

ऊपर के उदाहरण में जो उद्देशवाक्य—अब, या तो खूब वृष्टि होगी, या होगी ही नहीं—है उसके दोनों विकल्प ऐसे नहीं हैं जो सारी सम्भावनाओं को व्याप्त कर लेते हों; क्योंकि अतिवृष्टि और अनावृष्टि के दो विकल्पों को छोड़, यथावृष्टि का तीसरा विकल्प भी सम्भव है। अतः यह कहना असत्य है कि या तो खूब वृष्टि होगी या एकदम नहीं होगी, क्योंकि उतनी ही वृष्टि भी हो सकती है जितनी धान के लिए आवश्यक है।

इस तरह, उद्देशवाक्य के विकल्पों के बीच तीसरे विकल्प की सम्भावना दिखा कर जो मेण्डक-प्रयोग को परास्त करने की विधि है उसे शृङ्गान्तर्निर्गति[1] कहते हैं।

(३) मेण्डक-प्रयोग को परास्त करने की तीसरी विधि प्रत्याख्यान-विधि[2] है, जिसका अध्ययन हम ऊपर कर चुके हैं। मेण्डक-प्रयोग के उत्तर में उसका प्रत्याख्यात-रूप उपस्थित कर देने से वादी को अपने तर्क की असत्यता प्रगट हो जाती है।

---

[1] Escaping between the horns of a dilemma.
= दो सींगों के बीच से बच कर निकल जाना।

[2] Rebutting the Dilemma.

निगमन-विधि

दूसरा भाग

परंपरानुमान

न्यायवाक्य

(ग. संक्षिप्त)

§ १—संक्षिप्त न्यायवाक्य[1]

विधेयवाक्य, उद्देशवाक्य और निष्कर्षवाक्य, इन तीन अवयवों से युक्त ही न्यायवाक्य का अपना रूप पूर्ण होता है। किंतु, अपनी साधारण बातचीत के सिलसिले में हम इसका ख्याल नहीं रखते कि हमारे तर्क में न्यायवाक्य के सभी अवयव उपस्थित हुए हैं या नहीं। हमारी प्रवृत्ति रहती है कि जितने थोड़े में बात साफ़ हो जाय उतना ही थोड़ा कहना! बात साफ़ हो जाने के बाद तर्कशास्त्र के रूपों की पूर्ति के लिए न तो अधिक कहने का हम में, और न अधिक सुनने का श्रोता में, धैर्य रहता है। अतः,

सभी 'मनुष्य' 'मरणशील' हैं,
'मैं' 'मनुष्य' हूँ,
∴ 'मैं' 'मरणशील' हूँ।

इतना न कह कर हम इतना ही कह देते हैं—

मुझे भी एक न एक दिन मरना है, क्योंकि मैं भी मनुष्य हूँ;

अथवा

मैं भी मरूँगा, क्योंकि सभी मनुष्य मरणशील हैं;

---

[1] Enthymeme.

अथवा

सभी मनुष्य मरते हैं, और मैं भी मनुष्य हूँ।

इतना भर कह देने से श्रोता के लिए बात साफ हो जाती है। पहले में विधेयवाक्य अनुक्त है, दूसरे में उद्देशवाक्य, और तीसरे में निष्कर्षवाक्य। इसे संक्षिप्त न्यायवाक्य कहते हैं।

'संक्षिप्त न्यायवाक्य' के चार रूप होते हैं[1]—

(१) पहला रूप—जिसमें विधेयवाक्य अनुक्त होता है, केवल उद्देशवाक्य और निष्कर्ष कहे जाते हैं। जैसे—

सुकरात मनुष्य है,
∴ सुकरात मरणशील है।

(२) दूसरा रूप—जिसमें उद्देशवाक्य अनुक्त होता है, केवल विधेयवाक्य और निष्कर्ष कहे जाते हैं। जैसे—

सभी मनुष्य मरणशील हैं,
∴ सुकरात मरणशील है।

(३) तीसरा रूप—जिसमें निष्कर्ष अनुक्त होता है, केवल दोनों आधारवाक्य कहे जाते हैं। जैसे—

सभी मनुष्य मरणशील हैं,
और, सुकरात भी मनुष्य है।

(४) चौथा रूप—जिसमें केवल एक ही वाक्य कहा जाता है, और उसमें यह सामर्थ्य होता है कि वह सारे न्यायवाक्य का बोध करा दे। बातचीत के सिलसिले में बहुधा ऐसा होता है कि एक वाक्य के ही कह देने से सारी युक्ति समझ ली जाती है। जैसे—किसी बड़े योगी को भी कभी सांसारिक माया में आसक्त होते देख कोई कह उठे—

---

[1] Enthymemes are of four orders.

"मनुष्य अपूर्ण है," तो इतने से सारा न्यायवाक्य व्यक्त हो जाता है, यह कि—

सभी मनुष्य अपूर्ण हैं,
यह योगी मनुष्य है,
∴ यह योगी अपूर्ण है।

न्यायवाक्य

(घ. युक्ति-माला[1])

§ १—युक्ति-माला, अनुलोम और प्रतिलोम

जब दो या दो से अधिक न्यायवाक्य लगातार इस प्रकार आवें कि सभी जा कर एक ही निष्कर्ष को सिद्ध करें, तो उसे युक्ति-माला[2] कहते हैं। जैसे—

(१) सभी 'ख' 'ग' है,
सभी 'क' 'ख' है,
∴ सभी 'क' 'ग' है।

(२) सभी 'ग' 'घ' है,
सभी 'क' 'ग' है,
∴ सभी 'क' 'घ' है।

(३) सभी 'घ' 'च' है,
सभी 'क' 'घ' है।
∴ सभी 'क' 'च' है।

---

[1] Compound Syllogism.
[2] Train of Reasoning.

ये न्यायवाक्य एक के बाद एक इस तरह आते हैं, कि पहले का निष्कर्ष दूसरे का आधारवाक्य होता जाता है; और सभी मिल कर अन्त में यह सिद्ध करते हैं कि "सभी क च है"। इसे न्यायवाक्यावली[1] या न्यायवाक्य-सन्निपात[1] कहते हैं।

इस सिलसिले में, जब एक न्यायवाक्य का निष्कर्ष दूसरे न्यायवाक्य में आधार बनता है, तब पहले न्यायवाक्य के सम्बन्ध में दूसरे को उपकृत न्यायवाक्य,[2] और दूसरे के सम्बन्ध में पहले को उपकार न्यायवाक्य[3] कहते हैं। इसी तरह, कोई 'उपकृत न्यायवाक्य' भी एक दूसरे न्यायवाक्य का 'उपकारक' बन सकता है, जब इसका निष्कर्ष उसका आधार बन जाय; और कोई 'उपकारक न्यायवाक्य' भी दूसरे न्यायवाक्य का 'उपकृत' हो सकता है, यदि उसका निष्कर्ष इसमें आधार के ऐसा प्रयुक्त हुआ हो। ऊपर के उदाहरण में, दूसरा न्यायवाक्य पहले के सम्बन्ध में 'उपकृत' है, किंतु तीसरे के सम्बन्ध में 'उपकारक'।

फिर, ऊपर के उदाहरण में हम देखते हैं कि यह 'युक्ति-माला' उपकारक से उपकृत की दिशा में जाती हुई अन्त में एक निष्कर्ष को सिद्ध करती है। अतः, इसे उपकृत-गामी युक्ति-माला[4] कहते हैं। सारी न्याय-माला का प्रवाह अन्तिम निष्कर्ष की ओर है, अतः इसे अनुलोमयुक्ति-माला[5] भी कहते हैं। इस न्यायमाला में पहले न्यायवाक्य का निष्कर्ष दूसरे में संश्लिष्ट होता जाता है, अतः इसे संश्लेषकयुक्तिमाला[6] भी कहते हैं।

इसके विपरीत, यदि न्यायमाला की दिशा उपकृत से उपकारक की ओर हो, अर्थात् पहले आनेवाले न्यायवाक्यों के आधारवाक्य अगले के

---

[1]Polysyllogism. [2]Episyllogism. [3]Prosyllogism. [4]Episyllogistic train of syllogism.
[5]Progressive train of syllogism.
[6]Synthetic train of syllogism.

निष्कर्ष होते जायँ, तो उसे प्रतिलोम-युक्तिमाला[1] या उपकार-गामी[2] युक्तिमाला कहते हैं। जैसे—

(१) सभी 'क' 'च' हैं,
∵ सभी 'घ' 'च' हैं, और
सभी 'क' 'घ' हैं।

(१) सभी 'क' 'घ' हैं,
∵ सभी 'ग' 'घ' हैं, और
सभी 'क' 'ग' हैं।

(३) सभी 'क' 'ग' हैं,
∵ सभी 'ख' 'ग' हैं, और
सभी 'क' 'ख' हैं।

इस न्यायमाला में अन्तिम निष्कर्ष ही सबसे पहले कह दिया जाता है, और उसे प्रामाणित करने के लिए युक्तियाँ देते हैं। इस माला में पहले न्यायवाक्य के आधारों में से एक विश्लिष्ट हो कर आगे के न्यायवाक्य का निष्कर्ष होता है, इससे इसे विश्लेपक-युक्तिमाला[3] भी कहते हैं।

न्यायवाक्य

(ङ, संक्षिप्त युक्तिमाला)

§ १—संक्षिप्त-अनुलोम-युक्तिमाला[4]

जिस 'संक्षिप्त-न्यायमाला' में सभी 'उपकारक' न्यायवाक्यों के निष्कर्ष (तथा 'उपकृत' न्यायवाक्यों में आधार के रूप में भी उनका

---

[1] Regressive train of syllogism. [2] Prosyllogistic train of syllogism. [3] Analytic train of reasoning. [4] Sorites = Abridged progressive train of reasoning.

प्रयोग) अनुक्त हों, उसे संक्षिप्त-अनुलोम-युक्तिमाला कहते हैं। जैसे—

सभी 'क' 'ख' है,
सभी 'ख' 'ग' है,
सभी 'ग' 'घ' है,
सभी 'घ' 'च' है,
∴ सभी 'क' 'च' है।

यदि इसमें 'उपकारक' न्यायवाक्यों के निष्कर्ष अनुक्त न होते तो इसका रूप होता—

(१) सभी 'ख' 'ग' है,
सभी 'क' 'ख' है,
∴ सभी 'क' 'ग' है।
(२) सभी 'ग' 'घ' है,
सभी 'क' 'ग' है,
∴ सभी 'क' 'घ' है।
(३) सभी 'घ' 'च' है,
सभी 'क' 'घ' है,
∴ सभी 'क' 'च' है।

इन न्यायवाक्यों में काले अक्षरों में लिखे अवयव ऊपर के संक्षिप्त रूप में अनुक्त हैं।

इसके दो प्रकार

(क) अरस्तू के मत से[1]

अरस्तू के मत से 'उपकारक न्यायवाक्य' का निष्कर्ष जो अनुक्त होता है वह 'उपकृत न्यायवाक्य' में उद्देशवाक्य होता है। जैसे—

---

[1] Aristotelian Sorites.

'चेतक' 'एक घोड़ा' है,
'घोड़ा' 'चतुष्पद' है,
'चतुष्पद' 'प्राणी' है,
'प्राणी' 'एक सत्ता' है,
∴ 'चेतक' 'एक सत्ता' है।

इन न्यायवाक्यों को पूर्ण रूप से व्यक्त करके रखें तो इसका यह रूप होगा—

(१) सभी 'घोड़ा' 'चतुष्पद' है,
'चेतक' 'घोड़ा' है,
∴ 'चेतक' 'चतुष्पद' है।

(२) सभी 'चतुष्पद' 'प्राणी' है,
'चेतक' 'चतुष्पद' है,
∴ 'चेतक' 'प्राणी' है।

(३) सभी 'प्राणी' 'एक सत्ता' है,
'चेतक' 'प्राणी' है,
∴ 'चेतक' 'एक सत्ता' है।

(ख) गोक्लेनियस् के मत से[1]

गोक्लेनियस् के मत से 'उपकारक न्यायवाक्य' का निष्कर्ष जो अनुक्त होता है वह 'उपकृत न्यायवाक्य' में विधेयवाक्य का काम करता है। जैसे—

'प्राणी' 'एक सत्ता' है,
'चतुष्पद' 'प्राणी' है,
'घोड़ा' 'चतुष्पद' है,

---

[1] Goclenian Sorites.

'चेतक' 'घोड़ा' है,
∴ 'चेतक' 'एक सत्ता' है,

इन न्यायवाक्यों को पूर्ण रूप से व्यक्त करके रखें तो इसका यह रूप होगा—

(१) सभी 'प्राणी' 'सत्ता' हैं,
सभी 'चतुष्पद' 'प्राणी' हैं,
∴ सभी 'चतुष्पद' 'सत्ता' हैं।
(२) सभी 'चतुष्पद' 'सत्ता' हैं,
सभी 'घोड़ा' 'चतुष्पद' हैं,
∴ सभी 'घोड़ा' 'सत्ता' हैं।
(३) सभी 'घोड़ा' 'सत्ता' हैं,
'चेतक' 'घोड़ा' है,
∴ 'चेतक' 'सत्ता' है।

§ ३—दोनों प्रकारों में अन्तर

अरस्तू और गोक्लेनियस् द्वारा प्रतिपादित इन दो रूपों की परीक्षा करने से स्पष्ट होगा कि इन न्यायवाक्यों के आधारवाक्य तथा निष्कर्ष समान होते हुए भी उनमें ये अन्तर हैं—

(क) विधेयपद—अरस्तू की विधि में सबसे अन्तिम आधारवाक्य का विधेय 'वि' है; किंतु गोक्लेनियस् विधि में सबसे प्रथम आधारवाक्य का विधेय 'वि' है।

(ख) उद्देशपद—अरस्तू की विधि में 'उ' सर्व-प्रथम उद्देश है, किंतु गोक्लेनियस् विधि में यह सबसे अन्तिम उद्देश है।

(ग) अनुक्त-निष्कर्ष—अरस्तू की विधि में 'उपकारक न्यायवाक्य' का अनुक्त निष्कर्ष 'उपकृत न्यायवाक्य' में उद्देशवाक्य का काम करता है; किंतु गोक्लेनियन् विधि में यह उसमें विधेयवाक्य का काम करता है।

(घ) आधारवाक्य—अरस्तू की विधि में सर्वप्रथम आधार उद्देश-वाक्य होता है, और तदनन्तर सभी आधार विधेयवाक्य होते हैं। किंतु गोक्लेनियन् विधि में सर्वप्रथम आधार विधेयवाक्य होता है, और तद-नन्तर सभी आधार उद्देशवाक्य होते हैं।

§ ४—संक्षिप्त अनुलोम-युक्तिमाला के नियम

यदि इस न्यायमाला के सभी न्यायवाक्य पहले क्रम के हों, तो ऊपर की दोनों विधियों में ये नियम होंगे—

(१) एक ही आधारवाक्य निषेधात्मक हो सकता है—अरस्तू की विधि में अन्तिम, और गोक्लेनियस् की विधि में सर्वप्रथम।

प्रमाण—इस न्यायमाला में एक से अधिक आधार-वाक्य निषेधात्मक नहीं हो सकते। एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने से उसका निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा। तब, दो वाक्य यदि निषेधात्मक हुए तो एक ही न्यायवाक्य के दोनों आधार निषेधात्मक हो जायेंगे, जिनसे कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता।

अरस्तू की विधि में अन्तिम आधारवाक्य ही, और गोक्लेनियस् की विधि में सर्वप्रथम आधारवाक्य ही निषेधात्मक हो सकता है। यदि कोई भी आधारवाक्य निषेधात्मक हुआ तो अन्तिम निष्कर्ष अवश्यमेव निषेधात्मक होगा। तब, उसमें 'वि' सर्वांशी होगा। इसलिए उस आधारवाक्य को भी निषेधात्मक होना चाहिए जिसमें 'वि' विधेय के ऐसा प्रयुक्त हुआ हो। वह आधारवाक्य अरस्तू की विधि में अन्तिम और गोक्लेनियस् की विधि में सर्वप्रथम ही है। यदि किसी बीच वाले आधारवाक्य को निषेधात्मक मानें तो 'अनुचित विधेय' का दोष उपस्थित हो जायगा।

(२) एक ही आधारवाक्य विशेष हो सकता है—अरस्तू की विधि में सर्वप्रथम, और गोक्लेनियस् की विधि में अन्तिम।

प्रमाण—इस न्यायमाला में एक से अधिक आधारवाक्य 'विशेष' नहीं हो सकते। एक आधारवाक्य के विशेष होने से उसका निष्कर्ष भी विशेष होगा। तब, यदि दो वाक्य विशेष हुए तो एक ही न्यायवाक्य के दोनों अ धार विशेष हो जायेंगे, जिनसे कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता।

अरस्तू की विधि में सर्वप्रथम आधारवाक्य ही विशेष हो सकता है। इस विधि में सर्वप्रथम को छोड़ शेष आधार विधेयवाक्य हैं। फिर, यह नियम तो उसी संक्षिप्त न्यायमाला में लागू होता है जिसके सभी न्यायवाक्य पहले क्रम में हों। और, पहले क्रम का यह असाधारण नियम है कि उसमें विधेयवाक्य अवश्य सामान्य होगा। अतएव, इस न्यायमाला में सर्वप्रथम आधारवाक्य ही विशेष हो सकता है, क्योंकि केवल वही उद्देशवाक्य है।

गोक्लेनियस् की विधि में अन्तिम आधारवाक्य ही विशेष हो सकता है। इस विधि में अन्तिम को छोड़ कोई दूसरा आधारवाक्य 'विशेष' हो, तो उसका निष्कर्ष भी विशेष होगा। फिर, इस विधि में 'उपकारक न्यायवाक्य' का निष्कर्ष 'उपकृत न्यायवाक्य' का विधेयवाक्य होता है। यह 'विशेष' नहीं हो सकता, क्योंकि पहले क्रम में विधेयवाक्य हमेशा सामान्य होता है। अतएव, गोक्लेनियस् की विधि में केवल अन्तिम आधारवाक्य विशेष होता है। यदि कोई दूसरा आधारवाक्य 'विशेष' हो, तो 'असर्वाची हेतु' का दोष उपस्थित हो जायगा।

§ ५—संक्षिप्त प्रतिलोम-न्यायमाला[1]

संक्षिप्त-प्रतिलोम-न्यायमाला प्रतिलोम-न्यायमाला का वह रूप है जिसमें प्रत्येक 'उपकारक न्यायवाक्य' का एक न एक आधरवाक्य अनुक्त रहता है।

---

[1] Epicheirema = Condensed regressive train of reasoning.

ऊपर देख चुके हैं कि प्रतिलोम-न्यायमाला की दिशा 'उपकृत न्याय-वाक्य' से 'उपकारक न्यायवाक्य' की ओर होती है। जब यह 'संक्षिप्त' होती है तब सर्वप्रथम 'उपकृत न्यायवाक्य' अपने पूरे रूप में उपस्थित किया जाता है; तदनन्तर इसके आधारवाक्यों को सिद्ध करने के लिए संक्षिप्त 'उपकारक न्यायवाक्यों' की माला दी जाती है।

यदि उपस्थित 'उपकृत न्यायवाक्य' के आधार संक्षिप्त न्यायवाक्य से सिद्ध किए जाते हैं, तो उसे **सरल-संक्षिप्त-प्रतिलोम-युक्तिमाला**[१] कहते हैं। यदि उन संक्षिप्त न्यायवाक्यों को सिद्ध करने के लिए फिर भी दूसरे संक्षिप्त न्यायवाक्य दिए गए हों, तो उसे **संकुल-संक्षिप्त-प्रतिलोम-युक्तिमाला**[२] कहते हैं।

यदि उपस्थित 'उपकृत न्यायवाक्य' के दोनों आधार संक्षिप्त न्यायवाक्य से सिद्ध किए जाते हैं, तो उसे **उभय-संक्षिप्त-प्रतिलोम-युक्तिमाला**[३] कहते हैं। और यदि उनका एक ही आधार संक्षिप्त न्यायवाक्य से सिद्ध किया जाय, तो उसे **अनुभय-संक्षिप्त-प्रतिलोम-युक्तिमाला**[४] कहते हैं।

इस तरह, 'संक्षिप्त-प्रतिलोम-युक्तिमाला' चार प्रकार की हुई—

(१) सरल-अनुभय[५]

सभी 'क' 'ख' है
∵ सभी 'ग' 'ख' है, और
सभी 'क' 'ग' है।

---

[१]Simple Epicheirema.

[२]Complex Epicheirema. [३]Double Epicheirema.

[४]Single Epicheirema. [५]Simple Single Epicheirema.

फिर—

सभी 'ग' 'ख' है,
∵ सभी 'घ' 'ख' है।

इसे पूर्णतः व्यक्त करने से रूप होगा—

उपकृत—

सभी 'ग' 'ख' है,
सभी 'क' 'ग' है,
∴ सभी 'क' 'ख' है।

उपकारक—

सभी 'घ' 'ख' है,
सभी 'ग' 'घ' है,
∴ सभी 'ग' 'ख' है।

यहाँ हम देखते हैं कि पहले न्यायवाक्य का एक आधार—सभी 'ग' 'ख' है—दूसरे न्यायवाक्य का निष्कर्ष है। यह न्यायमाला 'उपकृत' से 'उपकारक' की ओर बढ़ती है; अर्थात् यह प्रतिलोम न्यायमाला है। ऊपर के उदाहरण में, 'उपकारक' का एक आधार—सभी 'ग' 'घ' है—अनुक्त था, इसलिए यह 'संक्षिप्त-प्रतिलोम-न्यायमाला' है।

इसका यह 'सरल' रूप है, क्योंकि आधारवाक्य को एक ही संक्षिप्त न्यायवाक्य से सिद्ध किया है। फिर, इसका यह 'अनुभय' रूप है, क्योंकि दोनों आधारों में केवल एक ही की सिद्धि की गई है।

(२) सरल-उभय[1]

सभी 'क' 'ख' है, ∵ सभी 'ग' 'ख' है, और सभी 'क' 'ग' है।
सभी 'ग' 'ख' है, ∵ सभी 'घ' 'ख' है, और
सभी 'क' 'ग' है, ∵ सभी 'क' 'च' है।

---

[1] Simple Double Epicheirema.

यह 'सरल' है, क्योंकि इसके आधारवाक्य एक एक ही संक्षिप्त न्यायवाक्य से सिद्ध किए गए हैं। और, यह 'उभय' है, क्योंकि इसके दोनों आधारों की सिद्धि की गई है। पहला संक्षिप्त न्यायवाक्य उसके विधेयवाक्य —सभी 'ग' 'ख' है—को; और दूसरा उसके उद्देशवाक्य—सभी 'क' 'ग' है—को सिद्ध करता है। इसे पूर्णतः इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं—

उपकृत—

सभी 'ग' 'ख' हैं,
सभी 'क' 'ग' है,
∴ सभी 'क' 'ख' है।

उपकारक—

(क) सभी 'घ' 'ख' है,
सभी 'ग' 'घ' है,
∴ सभी 'ग' 'ख' है।

(ख) सभी 'च' 'ग' है,
सभी 'क' 'च' है,
∴ सभी 'क' 'ग' है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पहला 'उपकारक न्यायवाक्य' उसके विधेयवाक्य को, और दूसरा उसके उद्देशवाक्य को सिद्ध करता है।

(२) अनुभय-संकुल[1]

सभी 'क' 'ख' है, ∵ सभी 'ग' 'ख' है, और सभी 'क' 'ग' है।
सभी 'ग' 'ख' है, ∵ सभी 'घ' 'ख' है; और सभी 'घ' 'ख' है,
∵ सभी 'च' 'ख' है।

यह संक्षिप्त-प्रतिलोम-न्यायवाक्य 'संकुल' है, क्योंकि यहाँ 'उपकृत' न्यायवाक्य का एक आधार संक्षिप्त-न्यायवाक्य से सिद्ध किया गया, फिर उसका भी आधार एक दूसरे संक्षिप्त न्यायवाक्य से सिद्ध किया गया।

---

[1] Single Complex.

फिर, यह 'अनुभय' है, क्योंकि 'उपकृत न्यायवाक्य' का एक ही आधार सिद्ध किया गया, दूसरा—सभी 'क' 'ग' है—नहीं सिद्ध किया गया।

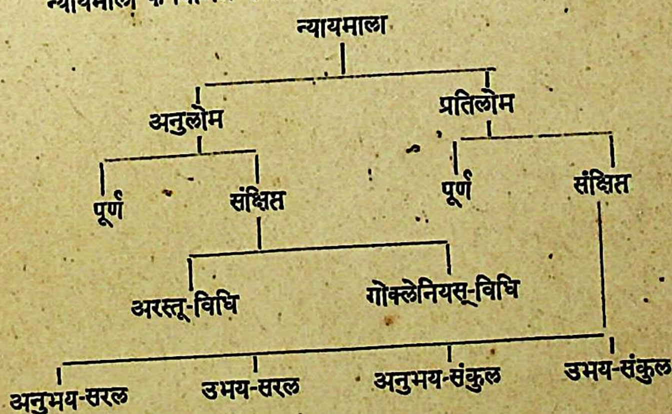
(४) उभय-संकुल[1]

सभी 'क' 'ख' है, ∵ सभी 'ग' 'ख' है; और सभी 'क' 'ग' है।
सभी 'ग' 'ख' है, ∵ सभी 'घ' 'ख' है; और सभी 'घ' 'ख' है,
∵ सभी 'च' 'ख' है।

और फिर—
सभी 'क' 'ग' है, ∵ सभी 'छ' 'ग' है; और सभी 'छ' 'ग' है,
∵ सभी 'ज' 'ग' है।

यह 'उभय-संकुल-संक्षिप्त-प्रतिलोम-न्यायमाला' का उदाहरण है, क्योंकि इस 'उपकृत न्यायवाक्य' के दोनों आधार पहले एक एक संक्षिप्त न्यायवाक्य से सिद्ध किए गए, फिर उसके आधारवाक्य को भी सिद्ध करने के लिए दूसरे संक्षिप्त न्यायवाक्य दिए गए।

न्यायमाला के विभिन्न रूप निम्न तालिका से प्रकट होंगे—



[1] Double Complex.

परिशिष्ट

१—परिशिष्ट

विचार की मर्यादा

§ १—विचार की मर्यादा के तीन नियम[1]

कुछ ऐसे सामान्य नियम हैं जिन्हें सिद्ध करने के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। वे इतने स्पष्ट होते हैं कि सामने आते ही उन्हें हम मान लेते हैं; उनके अन्यथा होने की हम कल्पना भी नहीं कर सकते। ऐसे नियमों को स्वयंसिद्ध[2] कहते हैं। उदाहरणार्थ, गणित का विद्यार्थी प्रारम्भ में ही अपने शास्त्र का एक स्वयंसिद्ध पढ़ता है कि "बराबर में बराबर जोड़ने से उनका योग बराबर होता है"। पाँच-पाँच सेर के दो वजन हों; उनमें यदि एक-एक सेर और मिला दें तो वे बराबर ही होंगे। यह इतना स्पष्ट है कि कोई भी विद्यार्थी इसे तुरत मान लेगा। यदि वह यह न मान ले, अथवा समझ न ले, तो गणित-शास्त्र में उसकी कोई गति नहीं हो सकती, क्योंकि गणितशास्त्र की सारी मर्यादा इन्हीं स्वयंसिद्ध नियमों पर आश्रित है। उसी प्रकार, तर्कशास्त्र के भी कुछ ऐसे स्वयंसिद्ध नियम हैं जिन पर शास्त्रीय विचार की मर्यादा निर्भर करती है। इन्हें अंगरेजी में Laws of Thought अर्थात् विचार के नियम कहते हैं। यही नियम 'विचार की मर्यादायें' हैं। मोटे तौर से, इन नियमों को संक्षेप में इस प्रकार समझें—

---

[1] Three Laws of Thought.

[2] Axiom.

यदि कोई कहे कि 'घोड़ा दूध देता है', तो लोग सुन कर हँस देंगे। क्यों ? क्योंकि यह स्पष्टतः असंगत बात है। इसमें विचार की मर्यादा की अवहेलना की गई है। अमुक जानवर यदि घोड़ा है तो सवारी में जा सकता है, गाड़ी में जुत सकता है, घुड़दौड़ में जा सकता है, चना खा सकता है, इत्यादि सभी बातें जो घोड़े में होती हैं वे इसमें हो सकती हैं। दूध देना गाय का काम है, वह घोड़े में नहीं होता। इसी को इस तरह कह सकते हैं कि—घोड़ा घोड़ा है : घोड़ा गाय नहीं है।

घोड़े या गाय की बात छोड़ कर साधारण रूप में यह यों व्यक्त किया जा सकता है कि—कोई भी चीज वही है जो वह है; वह वह नहीं हो सकती जो वह नहीं है। ये दो बातें विचार की मर्यादा के पहले दो नियमों का बोध करती हैं। पहले नियम को तदात्मभाव[1] कहते हैं; संकेतों में इसे इस तरह प्रकट करते हैं—'क' 'क' है। दूसरे नियम को, 'तद्भिन्नपरिहार'[2] कहते हैं। संकेतों में इसे इस तरह प्रकट करते हैं—कोई चीज 'क' और 'क-भिन्न' दोनों नहीं हो सकती। इन दोनों नियमों को ऊपर के उदाहरण में इस तरह समझें कि—अमुक जानवर यदि घोड़ा है तो घोड़ा ही है; वह घोड़ा और घोड़ा से भिन्न दोनों नहीं हो सकता।

'तदात्मभाव' का नियम बताता है कि एक चीज क्या है, और 'तद्भिन्न-परिहार' का नियम बताता है कि वह क्या नहीं है। इन दोनों के आधार पर एक तीसरा नियम निकलता है, यह कि—कोई चीज या तो 'क' होगा या 'क-भिन्न'। ऊपर के उदाहरण में—अमुक जानवर या तो 'घोड़ा' है या 'घोड़ा से भिन्न कोई दूसरा'। अब, अमुक जानवर इन दोनों विकल्पों को छोड़ कुछ और नहीं हो सकता; क्योंकि 'घोड़ा से भिन्न कोई दूसरा' इस विकल्प में दूसरे गाय, बकरी, बाघ, मनुष्य आदि आदि समस्त जानवरों

[1] Law of Identity.
[2] Law of Contradiction.

का समावेश हो गया है। विरुद्ध विकल्पों के बीच किसी भी मध्ययोग का निषेध करने वाले इस नियम को मध्ययोगपरिहार[1] कहते हैं।

'तदात्मभाव', 'तद्भिन्नपरिहार' और 'मध्ययोगपरिहार', विचार की मर्यादा के यही तीन नियम हैं। ये नियम स्वयंसिद्ध हैं; इनकी प्रामाणिकता सभी मर्यादित विचारों में समान रूप से व्यापक है। इनका उल्लंघन होने से 'घोड़ा दूध देता है' जैसी असम्बद्ध बात उपस्थित होती है।

'तदात्मभाव' और 'तद्भिन्नपरिहार', यथार्थ में दो पृथक् नियम नहीं हैं, किन्तु ये विधानात्मक और निषेधात्मक दो दृष्टियों से स्थापित किए गए एक ही सिद्धान्त को सूचित करते हैं। 'तद्भिन्नपरिहार' और 'मध्ययोगपरिहार' एक दूसरे के पूरक हैं, क्योंकि इन दोनों नियमों से निषेध का स्वरूप पूर्ण रूप से व्यक्त हो जाता है। साथ साथ हम यह देखेंगे कि इस अर्थ में ये नियम अपने में स्वतन्त्र भी हैं कि उनमें एक को दूसरे ही से नहीं सिद्ध कर सकते।

§ २—तदात्मभाव

तर्कशास्त्री सिगूवर्ट कहता है कि इस नियम का प्रयोजन 'अध्यवसाय'[2] की प्रक्रिया में सम्बद्धता स्थापित करना है। सत्य वही है जो त्रिकालाबाधित है। ब्रडले महाशय कहते हैं—

"जो सत्य है वह बराबर सत्य है, जो झूठ है वह बराबर झूठ है। सत्य मुझसे स्वतंत्र है यही नहीं; वह तो परिवर्तन और संयोग से भी मुक्त है। काल या दिशा में हेरफेर करने से, अथवा किसी भी बात और प्रकरण में परिवर्तन ला कर सत्य को मिथ्या नहीं बनाया जा सकता। यदि मैं

---

[1] Law of Excluded Middle.
[2] Act of Indgment.

जो कहता हूँ वह सत्य है, तो वह सदैव सत्य ही रहेगा" (Logic P. 133)। अतएव, किसी भी वाक्य का विषय ध्रुव तथा स्थिर होगा, क्योंकि वह सत्य का प्रतिपादन करता है। अपने वाक्यों को जब ऐसा मान कर चलें तभी हमारे विचार और तर्क निर्दोष हो सकते हैं। ठीक इसी अर्थ में 'तदात्मभाव' का नियम तर्कशास्त्र के सिद्धान्त का मूल कहा गया है, जो सत्य विचार और तर्क का शास्त्र है। यदि किसी एक स्वीकृत वाक्य को जब मर्जी हो बदल दें, या उसके अभिप्राय को एक बार एक प्रकार से ग्रहण करें, और दूसरी बार दूसरे प्रकार से, तो हमारे विचार ऊटपटांग हो जायेंगे और हमारे तर्क खिलवाड़ जैसे होंगे। वैसे तर्क की प्रक्रिया के किसी क्रम पर आस्था नहीं होगी, क्यों कि उस प्रक्रिया के दूसरे क्रम पर आते इसका संशय होगा कि पहला वाक्य कहीं बदल तो नहीं गया। वैसी अवस्था में, किसी मूल आधारवाक्य को स्वीकार करके भी उसके (विधिवत् प्राप्त) निष्कर्ष को अस्वीकार कर लेने की छुट्टी रहेगी।

इसे यों कह सकते हैं कि, 'तदात्मभाव' केवल यह बतलाता है कि हम किसी वाक्य को साथ-साथ स्वीकार और अस्वीकार दोनों नहीं कर सकते। 'तद्भिन्नपरिहार' का नियम भी यही बताता है। असल में बात यह है कि 'तदात्मभाव' और 'तद्भिन्नपरिहार' एक ही सिद्धान्त को क्रमशः विधान और निषेध की दृष्टियों से स्थापित करते हैं। तर्कशास्त्री सिग्वर्ट इसी को यों व्यक्त करता है कि, युगपत् विधान और निषेध के परिहार से ही अध्यवसाय की सम्बद्धता स्थापित होती है।

मिल महाशय की परिभाषा

तर्कशास्त्री मिल 'तदात्मभाव' के नियम की परिभाषा इस प्रकार करता है, "एक प्रकार की शब्द-योजना में कही गई जो बात सत्य है वह उन सभी प्रकार की शब्द-योजनाओं में सत्य होगी जो उसी अर्थ को ...

करती हैं।"[१] भाषा ही विचार का अभिव्यञ्जक है, इस दृष्टि से इस परिभाषा को ग्रहण करना आवश्यक है। एक वाक्य को चाहे हम किसी प्रकार भी व्यक्त करें, तब तक कोई आपत्ति नहीं है जब तक उसका भाव समान रहता है। क्योंकि तर्कशास्त्र में वाक्य के कुछ निश्चित रूप स्थिर करने ही पड़ते हैं, हमें इसका अधिकार होना चाहिए कि लौकिक भाषा में कहे गए किसी वाक्य को, उसके भाव को बिलकुल सुरक्षित रख, शास्त्रीय रूप में ला सकें। अनन्तरानुभाव के साधन में मिल की इस परिभाषा का बड़ा उपयोग है। इस पर आगे चल कर विचार करेंगे।

साधारण रूप

'तदात्मभाव' के नियम को साधारणतः इस प्रकार व्यक्त करते हैं कि—'क' 'क' है : कोई चीज वही है जो वह है।[२] इन संकेतों से क्या पदार्थ के विषय में वैसी सूचना मिलती है? यदि ऐसा मानें तो बड़ी आपत्ति हो सकती है। इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि यह 'अध्यवसाय' की सम्बद्धता में निहित पदों या प्रत्ययों की सम्बद्धता को सूचित करता है, क्योंकि यदि विचार या तर्क के सिलसिले में आए पदों के भाव और निर्देश निश्चित नहीं होंगे तो 'अध्यवसाय' की सम्बद्धता सम्भव नहीं हो सकती। अतः विचार की मर्यादा के सभी नियम वाक्य-सम्बन्धी होते हुए पद-सम्बन्धी या 'प्रत्यय-सम्बन्धी' भी हैं।

---

[१] "Whatever is true in one form of words is true in every other form of words which conveys the same meaning."
—Mill-Examination of Sir William Hamilton Philosophy, p. 466.

[२] A is A, Every thing is what it is.

आपत्ति

'क' 'क' है, इस संकेत को यदि 'क' नामक पदार्थ के विषय में कहा गया एक वाक्य मानें तो क्या आपत्ति है ? पहली आपत्ति तो यह है कि यह कोई वाक्य ही नहीं हुआ, जिसकी कल्पना भी की जा सके। सभी विचार में कुछ न कुछ भिन्नता का भाव होना आवश्यक है। जब हम किसी चीज का विचार करते हैं तो इसे कुछ दूसरी चीज से अलग करके समझते हैं, या इसे ऐसा समझते हैं कि इसके धर्म अन्य अनेक में समान हैं, या कम से कम यह कि यही चीज भिन्न भिन्न कालों में समान है। इस तरह, हम देखते हैं कि किसी भी अवस्था में (भिन्नता से सर्वथा मुक्त) शुद्ध 'तदात्मभाव' प्राप्त नहीं होता।

इस कठिनाई को दो तरह से दूर करते हैं—

(क) हम कह सकते हैं कि यहाँ तदात्मभाव का अर्थ शुद्ध तदात्मभाव नहीं है, किंतु इसका अर्थ है पूर्ण रूप से समान होना, जिस समानता में एक को दूसरे से स्थान का नानात्व छोड़ और कोई भेद करना कठिन होता है (जैसे, एक ही प्रकार की सूइयों या छरों में)।

समान-ग्रहण

इस अर्थ में 'तदात्मभाव' का नियम वही ठहरता है जो तर्कशास्त्री जेवन के समान-ग्रहण का सिद्धान्त है—"एक चीज के साथ जो बात सत्य है, वह उसके साथ भी सत्य है जो उसके समान है।"[१] तर्कशास्त्री मैन्सल 'तदात्मभाव' के इस समानार्थक सिद्धान्त की स्थापना करता है कि— "किसी समान चीज के बराबर जितनी चीजें हैं सभी आपस में बराबर हैं।"[२]

---

[१] "Whatever is true of a thing is true of its like."

[२] "Things that are equal to the same thing are equal to one another."

तनिक ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन सिद्धान्तों को 'तदात्मभाव' के समकक्ष रखना गलत है; इन्हें इस—'क' 'क' है— संकेत से व्यक्त नहीं कर सकते। 'तद्भिन्नपरिहार' और 'मध्ययोगपरिहार' नियमों का भी इस प्रकार अर्थ नहीं लगाया जा सकता। अतः 'तदात्मभाव' की ये व्याख्यायें अयुक्त हैं।

(ख) यह कह कर भी कठिनाई टाली जा सकती है कि, 'तदात्मभाव' का अर्थ है प्रवाह की एकता। जैसे, यह वही क़लम है जिससे मैं कल लिख रहा था, यहाँ शुद्ध वही क़लम का अर्थ नहीं है, क्योंकि समय के प्रवाह में इसमें भिन्नता आ गई; तो भी यह वही है।

यदि इस व्याख्या का यह अर्थ समझें कि जो बात किसी चीज़ के साथ अभी सत्य है वही बाद में भी सत्य होगी, तो यह भ्रम है। क्योंकि किसी वस्तु के धर्म स्थिर नहीं रहते। अर्थात् किसी व्यक्त वाक्य की सत्यता की तरह, किसी वस्तु का कोई धर्म धारण करना काल से स्वतंत्र नहीं है।

उपसंहार

तब, तर्कशास्त्र में 'तदात्मभाव' के नियम का क्या अर्थ है? इसका अर्थ धर्मों का तदात्म रहना नहीं, किंतु उस विषय का तदात्म रहना है जो धर्मों का आधार है। धर्मों में सतत परिवर्तन होता रहता है, किंतु उनका आधारभूत विषय वही रहता है। परिवर्तनों में भी तदात्म बने रहने का स्वरूप यही है। किंतु, यह व्याख्या ठीक वही नहीं है जो तर्कशास्त्र में विचार की मर्यादा का नियम कहा गया है।

§ ३—तद्भिन्न-परिहार (11)

दो 'विरुद्ध'[१] वाक्यों के सम्बन्ध का एक पहलू यह है कि दोनों एक साथ सत्य नहीं हो सकते। 'तद्भिन्नपरिहार' का नियम यही बताता है।

---

[१] Contradictory.

वाक्य की पहली विशेषता यह है कि यह सत्य होने का दावा करता है। किंतु किसी चीज़ के सत्य होने की घोषणा हम तब तक नहीं कर सकते जब तक किसी दूसरी चीज के झूठ होने की बात उसमें अन्तर्गत न हो। सभी विधान में निषेध की ध्वनि रहती है। अतः, किसी वाक्य का तात्पर्य पूरा पूरा समझने के लिए यह भी समझना आवश्यक है कि यह किसका परिहार करता है।

किसी वाक्य और उसके परिहार में क्या सम्बन्ध है यह 'तद्भिन्न-परिहार' और 'मध्ययोगपरिहार' के नियमों में व्यक्त होता है। पहला नियम यह बताता है कि परस्पर 'विरुद्ध' वाक्य दोनों के दोनों एक साथ सत्य नहीं हो सकते; और दूसरा यह कि दोनों के दोनों एक साथ झूठ नहीं हो सकते।

'तद्भिन्नपरिहार' का नियम, इस तरह, 'तदात्मभाव' के नियम से एक भिन्न दृष्टि से विचार की मर्यादा स्थापित करता है। विचार तथा तर्क की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए सदोष वाक्यों का निराकरण आवश्यक है; और यह निराकरण 'तद्भिन्नपरिहार' के नियम से किया जा सकता है।

इस तरह, 'तद्भिन्नपरिहार' के नियम का महत्व 'तदात्मभाव' के निमय का समकक्ष है। शास्त्रीय तर्क के मार्ग में यह नियम हमें किसी तरह आगे नहीं बढ़ाते हैं, किंतु पहले ही इसको बिना स्वीकार किए हम उस मार्ग पर उतर भी नहीं सकते हैं।

'तद्भिन्नपरिहार' का नियम साधारणतः इस सूत्र से प्रकट किया जाता है—'क' 'नहीं-क' नहीं है। यहाँ दो वाक्यों का सम्बन्ध सूचित नहीं होता; किंतु यहाँ यह बताया गया है कि किसी वाक्य का विधेय उसके उद्देश के 'विरुद्ध' नहीं हो सकता। ऊपर हम देख चुके हैं कि बिना किसी वाक्य के सम्बन्ध में समझे निषेध का कोई अर्थ नहीं है : अतः इस सूत्र से नियम खुलासा नहीं होता। हाँ, इस सूत्र को असिद्ध भी नहीं ठहरा

सकते, क्योंकि उसको—कुछ 'क' 'नहीं-क' हैं—इस वाक्य के सम्बन्ध में ला कर नियम को स्पष्ट समझ सकते हैं। अतः, उक्त सूत्र गौण रूप से ठीक ही है।

§ ४—झूठे हैं का कुतर्क[1]

निम्न तर्क की परीक्षा करें—

क्रीट द्वीप का निवासी एपिमेनाइडेस् कहता है कि, "उसके द्वीप के निवासी सभी झूठे हैं"।

तब, जो वह स्वयं कहता है वह भी सत्य नहीं हो सकता।

अर्थात् उसके द्वीप के निवासी झूठे नहीं हैं।

यदि ऐसी बात है, तो उसका कहना सत्य होगा कि उसके द्वीप के निवासी सभी झूठे हैं।

तब, जो वह स्वयं कहता है वह भी सत्य नहीं हो सकता......—

समस्या

यह एक तर्क-चक्र हो गया जिससे छुटकारा नहीं मालूम होता। इसका समाधान बड़ा आसान होता, यदि एपिमेनाइडेस् के कथन का यह अर्थ लें कि क्रीट के निवासी बहुधा झूठ बोलते हैं, क्योंकि कोई कितना बड़ा भी झूठा क्यों न हो वह कभी कभी सत्य भी तो अवश्य बोलता है। किंतु, यहाँ उसके कथन का अर्थ पूरी कड़ाई से लें, यह कि उसके द्वीप के रहने वाले सभी ऐसे झूठे हैं कि कभी सच नहीं बोलते।

फिर भी इसका समाधान बड़ा आसान होता, यदि इस कथन को असत्य मान लें। यह मानें कि एपिमेनाइडेस् का कहना असत्य है, क्योंकि उसके द्वीप के रहने वाले कभी कभी सच भी बोलते हैं।

यदि यह सत्य मान कर चलें कि क्रीट के निवासी कभी सत्य नहीं बोलते,

---

[1] The Sophism of "The Liar".

तो समस्या की जटिलता बढ़ जाती है। यह मानने में कोई अन्तर्विरोध नहीं है, और यह मान कर चलने में किसी बात की रुकावट नहीं है। तब, एपिमेनाइडेस् वैसा कथन मज़े में कर सकता है। और, क्योंकि यह सत्य है इसलिए यह एक क्रीट का निवासी है जिसने सत्य कहा; और इसलिए यह असत्य है। इसकी अपनी सत्यता इसी की असत्यता सिद्ध करती है। किन्तु, फिर भी, क्योंकि यह सत्य है, एपिमेनाइडेस् सत्य नहीं बोल सकता, और इसलिए यह असत्य है। फिर भी वही बात हुई कि इसकी अपनी सत्यता से इसी की असत्यता सिद्ध हुई।

इस तर्क को इस प्रकार भी रख सकते हैं—यह बात सत्य मान कर चलें कि क्रीट के निवासी सदा सर्वत्र झूठ बोलते हैं। और तब, एपिमेनाइडेस् के इस कथन को लें। या तो वह सत्य बोलता है या असत्य। किंतु, यदि वह सत्य बोलता है तो फलित होता है कि वह झूठ बोलता है। और, यदि वह झूठ बोलता है तो अपने सत्य बोलने की पुष्टि करता है।

समाधान

यहाँ समस्या यह है कि यह तर्क देखने में निर्दोष मालूम होता हुआ भी ऐसा अन्तर्विरोधी निष्कर्ष क्यों उपस्थित करता है!

यहाँ हमने ऐसे आधारवाक्य लिए जो अव्यक्त रूप से स्वयं परस्पर विरोधी हैं; तर्क की प्रक्रिया से वही अन्तर्विरोध व्यक्त होकर प्रकट होता है। अन्तर्विरोध यह मानने में नहीं है कि क्रीट के रहनेवाले कभी कहीं भी सत्य नहीं बोलते। किंतु, यह मान कर, वही बात उस देश के एक निवासी के मुँह से कहलाने में अन्तर्विरोध चला आता है। हम जो दो आधारवाक्य लेते हैं—(१) क्रीट के रहने वाले सदा सर्वत्र झूठ बोलते हैं, और (२) वहीं का रहने वाला एपिमेनाइडेस् ऐसा कहता है—दोनों एक साथ सत्य नहीं हो सकते।

§ ५—मध्ययोगपरिहार

(111)

दो 'विरुद्ध'[१] वाक्यों में जो सम्बन्ध है उसका केवल एक अंश 'तद्भिन्न-परिहार' नियम से प्रकट होता है, यह कि दोनों एक साथ सत्य नहीं हो सकते। इस सम्बन्ध का दूसरा अंश 'मध्ययोगपरिहार' नियम से पूरा होता है, यह कि दोनों एक साथ असत्य भी नहीं हो सकते। इस तरह, ये दोनों नियम एक दूसरे के पूरक हैं।

'तद्भिन्नपरिहार' का नियम बताता है कि उन दो वाक्यों में एक अवश्य असत्य होगा। 'मध्ययोगपरिहार' का नियम बताता है कि उनमें एक अवश्य सत्य होगा। एक की सत्यता दूसरे की असत्यता सिद्ध करेगी; और एक की असत्यता दूसरे की सत्यता सिद्ध करेगी। दोनों नियमों को मिला देने से निषेध का भाव पूर्णतः व्यक्त होता है।

'मध्ययोगपरिहार' का साधारण सूत्र है—प्रत्येक 'क' या तो 'ख' है, या 'नहीं-ख' है।[२]

§ ६—'मध्ययोगपरिहार' पर आपत्ति

कुछ लोगों ने आपत्ति की है कि 'मध्ययोगपरिहार' का नियम सामान्य और व्यापक रूप से सत्य नहीं है। उन आपत्तियों का कारण प्रायः 'भेदकता' और 'विरोध' के बीच[३] जो अन्तर है उसका ग्रहण न कर सकना ही है।

कुछ लोग आपत्ति करते हैं कि सभी जगह मध्ययोग का परिहार नहीं कर सकते, जैसे—'छोटा' और 'बड़ा', इन दोनों में एक बीच की अवस्था हो सकती है जो न छोटा हो न बड़ा हो। अथवा, 'सूरज उगा है'

---

[१] Contradictory.

[२] Every A is B or not-B.

[३] Between contrary and contradictory.

और 'सूरज नहीं उगा है', इन दोनों के बीच की एक अवस्था यह हो सकती है कि 'अभी सूरज आधे आध उगा है'।

यह कोई शास्त्रीय आपत्ति नहीं है। उन शब्दों के अर्थ ठीक ठीक निश्चित कर लें तो कोई कठिनाई न होगी।

कभी कभी ऐसा भी होता है कि हम ठीक ठीक मालूम नहीं कर सकते कि यह है अथवा नहीं है। किसी रोगी के शरीर को छू कर भी कभी कभी यह पता नहीं लगता है कि उसे ज्वर है या नहीं है। न तो यह कह सकते हैं कि 'है', और न यह कह सकते हैं कि 'नहीं है'। किंतु इस कठिनाई का कारण मेरा अपना अज्ञान है : वैद्य नाड़ी की परीक्षा करके, या थरमामिटर लगा कर कह देगा कि उसे ज्वर है या नहीं है।

अतएव, इस सिलसिले में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि केवल 'विरुद्ध' वाक्यों के सम्बन्ध में 'मध्ययोगपरिहार' का नियम सत्य होता है। तब कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

§ ७—विचार की मर्यादा क्या विषय की भी मर्यादा है?

उक्त तीन नियमों के विषय में इतना कह चुकने के बाद यह प्रश्न महत्व का नहीं रह जाता। हम देख चुके हैं कि ये नियम प्रामाणिक तथा सम्बद्ध विचार के मूल हैं, और यह कि इनकी सत्यता वाक्य के सम्बन्ध में सिद्ध होती है। फिर भी, सारी परीक्षा का सार इस प्रकार है—

किसी व्यक्त वाक्य में जिस सत्य की स्थापना की जाती है वह काल या उपाधि से स्वतंत्र होता है। अतः, हमें इसकी छुट्टी नहीं है कि एक तर्क के सिलसिले में किसी वाक्य को पहले स्वीकार करके आगे अस्वीकार कर दें। वाक्य की यह सम्बद्धता 'तदात्मभाव' के नियम से, और फिर 'तद्भिन्नपरिहार' के नियम से, व्यक्त होती है। उसी बात को पहला नियम विधानात्मक और दूसरा निषेधात्मक दृष्टि से देखता है। फिर, ऐसा कोई वाक्य नहीं है जिसमें विधि और निषेध दोनों के भाव न हों।

किसी वाक्य के पूरे अभिप्राय को समझने के लिए यह जानना होगा कि यह क्या विधान करता है, और यह भी कि यह क्या निषेध करता है। 'निषेध' का तात्पर्य क्या है यह 'तद्भिन्नपरिहार' और 'मध्ययोगपरिहार' दोनों की संयुक्त विधि से व्यक्त होता है।

इसका यह अर्थ हुआ कि बिना इन नियमों के पाबन्द हुए हम विषय के ज्ञान में अग्रसर नहीं हो सकते। किंतु, केवल वे नियम सीधे तौर से ज्ञान को किसी तरह नहीं बढ़ाते। यह स्पष्ट है कि वे वाक्यसम्बन्धी नियम हैं। उनका सीधा सम्बन्ध उस विषय से नहीं है जिसके बारे में वाक्य कहा गया है।

जब यह कहा जाता है कि 'विचार की मर्यादा वस्तु की भी मर्यादा है', तब उन नियमों का निर्देश अपने गौण अर्थ में होता है। किंतु, इन नियमों से वस्तु-सम्बन्धी कोई ज्ञान नहीं होता : और इनकी प्रामाणिकता वस्तु पर आश्रित नहीं है।

§ ८—नियमों में परस्पर सम्बन्ध

यदि अनन्तरानुमान की साधारण विधियों को प्रामाणिकता स्वीकार कर लें, तो यह दिखा सकते हैं कि तीनों एक दूसरे में सन्निविष्ट हैं।

यह 'हेतुफलाश्रित' वाक्य लें—

यदि 'क' सत्य है, तो 'ख' भी सत्य है— (१)

इसके रूप होंगे—

यह नहीं हो सकता कि 'क' सत्य हो, और 'ख' सत्य न हो—(२)

अर्थात्

या तो 'ख' सत्य है, या 'क' सत्य नहीं है— (३)

अब, यदि 'ख' के बदले भी 'क' ही रखें; तो हमें ये समानार्थक वाक्य प्राप्त होते हैं—

यदि 'क' सत्य है, तो यह सत्य है :
यह नहीं हो सकता कि 'क' सत्य भी हो, और नहीं भी;
'क' या तो सत्य है, या नहीं सत्य है।

इन वाक्यों से क्रमशः 'तदात्मभाव', 'तद्भिन्नपरिहार' तथा 'मध्ययोग-परिहार' के नियम व्यक्त होते हैं।

इस परीक्षा से यह साफ मालूम होता है कि इन नियमों में परस्पर कितनी घनिष्ठता है। किंतु, यदि इस कारण ऐसा मान लें कि इनमें एक ही प्रधान है और दूसरे दो तज्जन्य हैं, तो बड़ी भूल होगी। यथार्थ में, विचार की मर्यादा के ये नियम सभी प्रमाण के आधार हैं। यदि इन नियमों को पहले ही हम स्वीकार न कर लेते तो उनकी इस समानार्थकता को भी नहीं समझ सकते।

§ ९—अनन्तरानुमान से इन नियमों का सम्बन्ध

यह स्वीकार कर लेने पर कि ये नियम सारे प्रमाण के आधार हैं, एक दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या केवल इन्हीं के बल पर कोई अनुमान प्रामाणिक सिद्ध हो सकता है ?

तर्कशास्त्री हैमिल्टन का कहना है कि सारे शास्त्रीय विधान का सिद्धान्त 'तदात्मभाव', सारे शास्त्रीय निषेध का सिद्धान्त 'तद्भिन्नपरिहार', और सारे शास्त्रीय विकल्प का सिद्धान्त 'मध्ययोगपरिहार' है। यहाँ शास्त्रीय विधान, निषेध या विकल्प का अर्थ 'विषय' के सम्बन्ध में नहीं, किंतु केवल 'रूप' के सम्बन्ध में है। हैमिल्टन के अनुसार ये तीनों नियम वाक्य के विधानात्मक, निषेधात्मक तथा वैकल्पिक रूपों का समर्थन करते हैं।

विधान, निषेध और विकल्प—वाक्य का यह नया विभाजन विचित्र मालूम होता है। इसमें 'विभाग-संकर' है। प्रश्न होता है कि इन जैसे हेतुफलाश्रित वाक्यों के रूप को किस विभाग में रखेंगे—(१) यदि यह

सत्य है कि जो कुछ 'उ' है वह 'वि' भी है, तब यह भी सत्य है कि जो कुछ 'वि' नहीं है वह 'उ' भी नहीं है : (२) यदि यह सत्य है कि सभी 'उ' 'हे' है, और यह कि सभी 'हे' 'वि' है, तब यह भी सत्य है कि सभी 'उ' 'वि' है।

क्योंकि ये सभी वाक्य विधानात्मक हैं, इन्हें 'तदात्मभाव' नियम में अन्तर्गत होना चाहिए; और, क्योंकि किसी भी अनुमान के रूप का सिद्धान्त ऊपर ही जैसे वाक्य के रूप में व्यक्त किया जा सकता है, हम देखते हैं कि हैमिल्टन यह मत स्थापित करता है कि इन तीन नियमों में (कम से कम 'तदात्मभाव' में,) एक पूरा आधार है जिस पर सभी शास्त्रीय अनुमान आश्रित हो सकते हैं।

सब से पहले, विशेष कर अनन्तरानुमानों के सम्बन्ध में संक्षेपतः इस मत की परीक्षा करें:—

यह स्वीकार कर सकते हैं कि अनन्तरानुमान की 'परिवर्तन-विधि' पूर्णतः 'तद्भिन्नपरिहार' और 'मध्ययोगपरिहार' के नियमों पर आश्रित है। सभी 'क' 'ख' है, इस वाक्य से कोई 'क' 'नहीं-ख' नहीं है यह निष्कर्ष 'तद्भिन्नपरिहार' के नियम से निकालते हैं। और, कोई 'क' 'ख' नहीं है, इस वाक्य से सभी 'क' 'नहीं-ख' है, यह निष्कर्ष 'मध्ययोगपरिहार' के नियम से निकालते हैं।

किन्तु, 'व्यत्यय' और 'परिवर्तित व्यत्यय' की विधियों के साथ दूसरी बात है। यदि इन्हें पूर्ण रूप से इन तीन नियमों पर आश्रित करने का प्रयत्न करें तो या तो प्रतिज्ञा मात्र होगी, या इन विधियों के अनुमान होने का सर्वथा अपलाप होगा।

तर्कशास्त्री डी० मोरगन लिखता है, "कोई लेखक यह दिखाने का प्रयत्न करे कि किस प्रकार व्यत्ययविधि की योग्यता का अनुभव—यह कि 'क' 'ख' है से 'ख' 'क' है सिद्ध होता है—इन्हीं तीन नियमों से फलित होता है, तो मैं उसपर विचार कर सकूँ। अभी तो, मैं यही देखता हूँ कि दूसरे केवल इसकी प्रतिज्ञा भर करने के अलावा और कुछ नहीं करते;

और मैं स्वयं जब कभी यह प्रयत्न करता हूँ तो स्वाश्रय दोष हुआ ज्ञात होता है।"—Syllabus of Logic, P. 47

व्यत्यय-विधि की प्रामाणिकता सिद्ध करने के प्रयत्न में यह देखना चाहिए कि उसकी सिद्धि में यह निहित है या नहीं कि 'ओ' वाक्य का व्यत्यय हो ही नहीं सकता, और 'आ' वाक्य का व्यत्यय 'विषम-विधि' से होगा ? हाँ, और हमें यह मानने का कोई अधिकार नहीं है कि जिस किसी सुस्पष्ट सिद्धान्त की हम सहायता लें वह 'तदात्मभाव' का ही नियम होगा।

उदाहरण के लिए, 'तदात्मभाव' के बल पर 'आ' तथा 'ई' वाक्यों के व्यत्यय की स्थापना करने के इस प्रयत्न को देखें—सभी विधानात्मक वाक्य यह प्रतिज्ञा करते हैं कि ऐसी कुछ चीजें हैं जिनमें उद्देश और विधेय दोनों के स्वभाव-धर्म प्राप्त हैं। इस तरह, 'तदात्मभाव' का नियम विधानात्मक वाक्य के व्यत्यय की पुष्टि करता है। क्योंकि, यदि 'क' नामक व्यक्तियों में 'ख' नामक धर्म प्राप्त है, तो 'तदात्मभाव' के नियम के अनुसार सिद्ध होता है कि कुछ चीजें जिनमें वह धर्म प्राप्त है 'क' नामक व्यक्तियाँ हैं। ऐसा कहते तो हैं, किंतु जरा यह भी विचार करें कि वह नियम यहाँ किस प्रकार लागू होता है। चाहे कुछ भी तर्क दें, मतलब यही होगा कि व्यत्यय की प्रामाणिकता स्वयं सुस्पष्ट है। तब, "तदात्मभाव के नियम के अनुसार सिद्ध होता है" यह कहने के बदले यही क्यों न कहा जाय कि "यह स्वयं सुस्पष्ट है ?"

यदि सारे अनन्तरानुमान के वाक्यान्तर-करण को छोड़ और कुछ न मानें, तो अलबत्ता कह सकते हैं कि इनका आधार 'तदात्मभाव' का नियम है। देख चुके हैं कि मिल महोदय इसी मत की पुष्टि करते हैं— "एक प्रकार की शब्द-योजना में कही गई जो बात सत्य है वह उन सभी प्रकार की शब्द-योजनाओं में सत्य होगी जो उसी अर्थ को व्यक्त करती है।" किंतु, यदि व्यत्यय, या कोई भो अनन्तरानुमान, वाक्यान्तरकरण मात्र नहीं है, तो व्यत्येय और व्यत्यस्त की समानता सिद्ध करना रह जाता है।

§ १०—परंपरानुमान से इन नियमों का सम्बन्ध

तर्कशास्त्री मैनसेल का मत है कि न्यायवाक्य पूर्ण रूप से इन तीन नियमों पर आश्रित है। उसका कहना है कि किसी भी क्रम के विधानात्मक सिद्ध-संयोगों पर 'तदात्मभाव' का नियम, और निषेधात्मक पर 'तद्भिन्न-परिहार' का नियम लागू होता है।[1] न्यायवाक्य के अवयव-वाक्यों के विधेय के अंश का निश्चय करके विधानात्मक संयोगों में—इस स्वयंसिद्ध को कि "किसी प्रत्यय के अंश या पूरे के साथ जिसका तदात्म होता है, उसका तदात्म उसके अंश या पूरे के साथ भी होगा जो उस प्रत्यय से तदात्म है" लागू कर उक्त मत की सिद्धि होती है। निषेधात्मक संयोगों में इस स्वयंसिद्ध को लागू करना होगा कि "यदि सभी या कुछ 'ख' का 'क' से तदात्म हो, तो उसका (= 'क' का) सभी या कुछ उसके पूरे से पृथक् होगा जो सभी 'ख' से पृथक् है।"

मैनसेल के ये सूत्र स्पष्टतः 'तदात्मभाव' और 'तद्भिन्नपरिहार' के नियमों के साधारण स्वरूप से भिन्न हो जाते हैं। वे तो अरस्तू के "डिक्टम् डि ओम्नि एट् नल्लो" (देखिये पृ० २००) सिद्धान्त के समान हो जाते हैं। हाँ, यदि यह मान लें कि अरस्तू का यह सिद्धान्त 'तदात्मभाव' और 'तद्भिन्न-परिहार' के नियमों को ही व्यक्त करने का एक प्रकार है, तो इस पर और विचार करने की आवश्यकता नहीं। किंतु, तब हम 'तदात्मभाव' और 'तद्भिन्नपरिहार' को क्रमशः इस प्रकार व्यक्त नहीं कर सकते कि—जो सत्य है वह सत्य है, या 'क' 'क' है; और यदि एक वाक्य सत्य है तो उसका विरुद्ध असत्य है, या 'क' 'नहीं-क' नहीं है। न्यायवाक्य का आधारभूत जो सिद्धान्त है वह 'तदात्मभाव' और 'तद्भिन्नपरिहार' के उक्त रूपों से व्यक्त नहीं होता। ये हेतुपद के व्यापार को उपस्थित नहीं करते, जो

[1] Prolegomena Logic, P. 222

न्यायवाक्य की अपनी विशेषता है : और, न तो इनसे न्यायवाक्य के नियम निकाले जा सकते हैं।

हाँ, यह कहा जा सकता है कि विचार की मर्यादा के नियमों की पूर्वस्वीकृति न्यायवाक्य या किसी भी अनुमान के लिए आवश्यक है। प्रतिलोमविधि से रूपान्तरकरण की विधि में, न्यायवाक्य के सिद्धान्त में जिसका प्रमुख स्थान है, ये नियम साफ तौर पर उपस्थित होते हैं।

२—परिशिष्ट

नाम, पद और प्रत्यय

कुछ तर्कशास्त्रियों ने 'पद' के बदले 'नाम' शब्द का ही प्रयोग करना अच्छा समझा है। हौब्स 'नाम' का लक्षण इस प्रकार करता है—"नाम वह शब्द है जिसे हम अपनी इच्छा से किसी विशेष संकेत के लिए ग्रहण कर लेते हैं, जो हमारे मन में एक वैसा ही विचार उद्‌बुद्ध कर देता है जैसा पहले हुआ था; और जिसके कथन से दूसरों को भी वह संकेत हो जाता है जिसका विचार वक्ता के मन के सामने था या नहीं था।" कुछ लोगों ने 'पद' शब्द पर भी यही लक्षण लागू करना चाहा है। यदि उक्त लक्षण में से 'या नहीं था' इतना निकाल दें तो 'नाम' का तात्पर्य इससे अच्छा व्यक्त हो जाता है, किंतु इससे 'पद' का लक्षण ठीक नहीं होता। क्योंकि, जिस किसी शब्द या शब्द-समूह से कोई चीज पुकारी जाय वह उसका 'पद' तो होगा, किंतु उसका 'नाम' नहीं भी हो सकता है। "इसे क्या कहते हैं?" इस प्रश्न के उत्तर में जो शब्द कहें वही उसका नाम है। यदि वह चीज कोई व्यक्ति-विशेष द्रव्य हो, तो वह शब्द हमारे विचार को उस व्यक्ति-विशेष की ओर निर्देश भर कर देगा, चाहे वह कुछ भी हो। और, यदि किसी नाम से हमारा ध्यान इस ओर भी खिंचे कि वह चीज क्या है जिसके विषय में हमें विचारना है, तो वह शब्द उसकी किसी विशेषता या गुण को नहीं व्यक्त करेगा, किंतु वह उसके अपने तात्विक स्वरूप को बतावेगा। पहली अवस्था में, वह व्यक्तिवाचक संज्ञायें होगा, जैसे—गोपाल, गंगा, भारतवर्ष इत्यादि। दूसरी अवस्था में, वह जातिवाचक संज्ञा होगा, जैसे—मनुष्य, नदी, लोहा इत्यादि; अथवा प्रकार, धर्म या सम्बन्ध का नाम होगा, जैसे—मनुष्यता, द्वेष, दूरी इत्यादि। किंतु, ऐसा शब्द नाम

नहीं कहा जा सकता जो किसी विषय के लिए प्रयुक्त होकर बतावे कि इसमें क्या धर्म या सम्बन्ध है, अथवा इन्हीं के लिए प्रयुक्त होकर बतावे कि ये किस विषय में रहते हैं, अथवा उनके बारे में और कुछ भी। 'महान् सेनापति' सुभाषचन्द्र बोस का नाम नहीं है: 'काकोरी की डकैती' साहस का नाम नहीं है: 'परम उपादेय' धन का नाम नहीं है: 'लगातार' परिमाण का नाम नहीं है। कस्तूरी हरिण की नाभी में पाई जाती है— इस वाक्य में 'कस्तूरी' एक द्रव्य का नाम है, किंतु 'हरिण की नाभी में पाई जाती' कोई नाम नहीं है: किन्तु वे दोनों उस वाक्य के 'पद' हैं।

'नाम' और 'पद' में भेद करने का एक और कारण है। हम अपने मन में बराबर नाम और नामधारी में भेद करते हैं। किंतु, पद अपने अर्थ के साथ इतना संपृक्त हुआ रहता है कि हम प्रायः पद से (उस शब्द को न समझ) विचार के उस विषय का बोध करते हैं जो उद्देश और विधेय है। बहुधा वाक्य को पदों में विभक्त करते हमें कुछ नये शब्द भी लगाने पड़ते हैं जिनका प्रयोग मूल में नहीं था। इससे भी साफ होता है कि 'पद' का सीधा सम्बन्ध अर्थ से है, न कि शब्द से। यह कहा जाता है कि वाक्य का उद्देश पद वह है जिसके विषय में कुछ विधान या निषेध किया जाय। यहाँ 'उद्देश-पद' से उस शब्द का नहीं किंतु अर्थ का बोध होता है। इनकी परस्पर भ्रान्ति न हो इसलिए कभी कभी इसे स्पष्ट कर देना आवश्यक होता है कि 'पद' से किसका बोध होता है—विचार के विषय का, या उसके प्रकाशक शब्दों का। पहली अवस्था में उसे विचार-पद[1] और दूसरी अवस्था में उसे पद-शब्द[2] कहते हैं। इन दोनों के पृथक् पृथक् लक्षण होने चाहिए। किसी वाक्य के उद्देश या विधेय की तरह जिसका विचार हो सके वह 'विचार-पद' है। और, किसी वाक्य में उद्देश या विधेय की तरह जिस शब्द या शब्द-समूह का प्रयोग हो सके वह 'पद-शब्द' है।

---

[1] Terms of thought. [2] Terms verbal.

यदि 'विचार-पद' व्यक्तिविशेष का न बोध कर किसी सामान्य का बोध करता हो तो वह 'प्रत्यय' कहा जाता है। 'प्रत्यय' शब्द से बराबर उस विषय का बोध होता है जिसका विचार है; उससे उसके नाम का कभी बोध नहीं होता।

'प्रत्यय' के अर्थ में 'कल्पना' शब्द का भी प्रयोग होता है। बौद्ध दर्शन में तो इस अर्थ में 'कल्पना' शब्द का ही प्रयोग हुआ है। साधारण भाषा में 'कल्पना' शब्द का अर्थ उस मानसिक प्रक्रिया से भी है और उस विचार से भी। अतः, यहाँ इस द्व्यर्थक शब्द को छोड़ 'प्रत्यय' का ही प्रयोग करना अच्छा होगा।

'प्रत्यय' और 'विचार-पद' एक ही चीज नहीं हैं, क्योंकि व्यक्ति-विशेष द्रव्य विचार-पद तो हो सकता है किंतु प्रत्यय नहीं हो सकता। जैसे, गंगा बनारस हो कर बहती है, इस वाक्य में 'गंगा' विचार-पद तो है क्योंकि इसे हम देख या विचार सकते हैं, किंतु यह प्रत्यय नहीं है क्योंकि हम इसकी कल्पना (= प्रत्ययन) नहीं करते। तथापि हमारे विचार के अनेकानेक पद प्रत्यय हैं। तर्कशास्त्र में उनका क्या व्यापार है इसकी परीक्षा करनी चाहिए।

'वाक्य' मात्र पर एक पुरानी आपत्ति यह है कि जब इसके उद्देश और विधेय अलग अलग हैं तब यह कैसे सत्य हो सकता है ? 'तदात्मभाव' के नियम के अनुसार कोई चीज वही है जो वह है, तब उद्देश विधेय कैसे होगा ? अर्थात्, 'क' 'ख' है, यह वाक्य ही नहीं बनेगा, क्योंकि तदात्मभाव के अनुसार 'क' 'क' ही होगा 'ख' नहीं।[1]

किंतु यदि हम एकता में भेद बिल्कुल न देखें तो विचार की कोई क्रिया हो ही नहीं सकती। तर्कशास्त्र और तत्वशास्त्र दोनों के लिए

---

[1]इस समस्या को सर्व-प्रथम युनान के सिनिक दार्शनिक ऐंटिस्थेनेस् ने उपस्थित किया था, जिसका काल ई० पू० ४थी शताब्दी है।

'एक में अनेक, और अनेक में एक' की समस्या बड़ी पुरानी है। 'क' 'ख' है, वाक्य के इस रूप में हम बराबर विचार करते हैं; अतः इसकी परीक्षा करनी होगी कि इस रूप का क्या तात्पर्य है।

वाक्य के निम्न उदाहरणों पर ध्यान दें—

(१) गोपाल चतुर है, (२) राजा गिरफ्तार है, (३) आम एक फल है, (४) आज्ञा-पालन बलिदान से अच्छा है, और (५) अदत्तादान करना चोरी करना है।

पहले वाक्य में विधेय उद्देश की पूरी बात में से एक बात है, किंतु उद्देश का निर्देश एक ऐसे नाम से किया गया है जो उसकी किसी और बात को नहीं बताता।

दूसरे वाक्य में फिर भी विधेय उद्देश की पूरी बात में से एक ही बात है, किंतु उद्देश का निर्देश एक ऐसे नाम से किया गया है जो उसकी एक और बात बताता है।

दोनों वाक्यों में विधेय प्रत्यय है, और उद्देश व्यक्तिविशेष द्रव्य है। किंतु दूसरे में उद्देश द्रव्य होने के अलावे प्रत्यय भी है; यह उद्देश-प्रत्यय उस व्यक्ति की पूरी बात में से एक बात है।

तीसरे वाक्य में फिर भी उद्देश एक द्रव्य है, और वह प्रत्यय है, किंतु वह उस चीज की कोई विशेष बात नहीं है, किंतु वह उसका तात्विक स्वरूप है। इसमें विधेय भी उद्देश की कोई विशेष बात नहीं बताता, किंतु वह उद्देश-प्रत्यय का सामान्य है।

इस तरह, पहला वाक्य गोपाल का एक धर्म—चतुरता—बताता तो है, किंतु उसका अर्थ यह नहीं है कि गोपाल होना चतुरता है। दूसरे का भी यह अर्थ नहीं है कि राजा होना गिरफ्तार होना है। किंतु तीसरे का तो यह अर्थ है कि आम होना एक फल होना है।

चौथे वाक्य में उद्देश एक द्रव्य नहीं किंतु एक प्रत्यय है, जिसकी हम कल्पना करते हैं। उसका विधेय भी वैसा ही है, किंतु यह उद्देश-प्रत्यय

का सामान्य नहीं है। और, इस वाक्य का यह अर्थ नहीं है कि आज्ञापालन बलिदान-से-अच्छाई है।

पाँचवें वाक्य में चौथे की तरह, उद्देश प्रत्यय है; विधेय-प्रत्यय इसका (उद्देश का) सामान्य है; और वाक्य का यह अर्थ होता है कि अदत्तादान करना चोरी करना है।

अब, इन उदाहरणों को परीक्षा से हम इन बातों पर ध्यान दें—(१) प्रत्यय धर्म होते हैं (यह आवश्यक नहीं कि हम उनका प्रत्यक्ष कर सकें) जिन्हें हम व्यक्तिविशेषों में पाते हैं : (२) वे ऐसे भी धर्म हो सकते हैं कि इन व्यक्तियों की अवस्था को पूरी तरह ढक लें, या उसकी कुछ बातें भर बतावें : (३) एक धर्म दूसरे धर्म को पूरा पूरा व्याप्त कर सकता है, या उसका सामान्य हो सकता है : (४) जहाँ विधेय-धर्म उद्देश, या उद्देश-प्रत्यय को पूरा पूरा व्याप्त कर लेता है, वहाँ स्वभावतः विधेय उद्देश है, यह नहीं कि उद्देश-धर्म से जो व्यक्त होता है वह विधेय-धर्म से केवल पुकारा जा सके (एक आम एक फल है, एक अदत्तादायी एक चोर है), किंतु जो उद्देश-धर्म है वही विधेय-धर्म है (आम होना फल होना है, अदत्तादान करना चोरी करना है) : (५) जहाँ विधेय-धर्म उद्देश की केवल एक बात बताता है—उद्देश या तो व्यक्तिविशेष हो या धर्म हो—वहाँ विधेय स्वभावतः उद्देश नहीं है : विधेय-धर्म उद्देश का प्रासंगिक हो या उद्देश-धर्म का उसी व्यक्ति में समव्याप्तिक हो। और भले ही उद्देश, या उद्देश-धर्म से व्यक्त हुआ, विधेय-धर्म से व्यक्त हो, उद्देश या उद्देश-धर्म विधेय-धर्म नहीं है (गोपाल चतुराई नहीं है, राजा होना गिरफ्तार होना नहीं है, आज्ञापालन बलिदान से अच्छा होना नहीं है)।

इस तरह, वाक्य के विचार-पदों में प्रत्यय भी सम्मिलित होते हैं, किंतु विचार-पद व्यक्तिविशेष भी हो सकते हैं। किंतु, इन विचार-पदों का, चाहे व्यक्तिविशेष हो या प्रत्यय, सभी वाक्य में समान सम्बन्ध नहीं

होते—भले ही भाषा के रूप उद्देश और विधेय के सम्बन्ध के भेदों को बराबर खोल न सकते हों।

हम देख चुके हैं कि 'प्रत्यय' किसी चीज का धर्म है, यह कोई व्यक्ति-विशेष नहीं है। किसी एक खास प्रत्यक्ष गुण (जैसे, इस स्याही का कालापन) का भी प्रत्यय नहीं होता। हाँ, उस जाति या सामान्य का प्रत्यय हो सकता है जिसका यह एक विशेष उदाहरण है। केवल अपने विचार के व्यापार से हम सामान्य रंग की कल्पना कर सकते हैं जो काला, लाल, पीला सभी में समान रूप से प्राप्त है। केवल अपने विचार के व्यापार से ही हम सामान्य कालापन की कल्पना कर सकते हैं जो सभी काली स्याहियों में समान है। अतः, 'प्रत्ययों' का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। किंतु, यह समझ लेना गलत होगा कि क्यों कि उनका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता इसलिए उनकी सत्ता हमारे मन से स्वतन्त्र नहीं है, और यह कि वे कल्पित हैं। हमारे जो प्रत्यय हैं, जिनके विषय में हम विधान या निषेध करते हैं, वे यदि वैसी चीजें न हुई तो हमारा विचार करना निरर्थक होगा, इसका कोई फल नहीं निकल सकता। मान लें कि पढ़ कर या और किसी तरह कोई यह मालूम कर ले कि जिब्राल्टर अंगरेजों के आधीन है। तो, उसके वाक्य का विषय भूमध्यसागर के मुँह पर स्थित एक चट्टान और उसके विषय में एक वर्तमान ऐतिहासिक बात है। यह साफ है कि चट्टान की सत्ता उसके विचार करने से स्वतन्त्र है। किंतु यह भी उसके विचार करने से स्वतन्त्र है कि चट्टान पर अंगरेजों का अधिकार है; यदि ऐसा नहीं होता तो उसका वाक्य सत्य नहीं होता। तो भी उस पर किन्हीं का अधिकार होना प्रत्यक्ष का विषय नहीं है।

३—परिशिष्ट

तर्कशास्त्र में चित्री-करण

ऊपर हम देख चुके हैं कि वाक्य के रूपों को समझने में किस प्रकार चित्रों का उपयोग किया जा सकता है। स्विट्ज़रलैण्ड के एक प्रसिद्ध गणितज्ञ तथा तर्कशास्त्री लियोनहर्ड युलर ने (ई० १७०७–१७८३) चित्री-करण की जो विधि बताई उसका प्रचार अधिक हुआ है। वह इस प्रकार है—

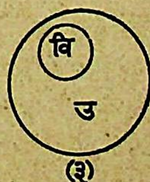
पदों के व्यक्तिबोध को यदि चक्रों से सूचित करें तो देखेंगे कि निम्न पाँच चित्रों में किन्हीं दो पदों के सभी सम्भव सम्बन्ध सूचित किए जा सकते हैं—



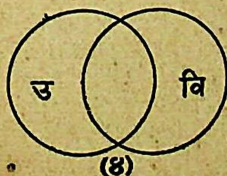
(१)



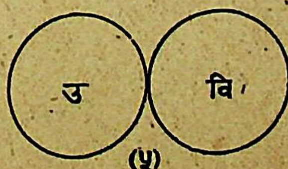
(२)



(३)



(४)



(५)

'आ' वाक्य—सभी 'उ' 'वि' हैं—केवल पहले दो चित्रों में व्यक्त हो सकता है।

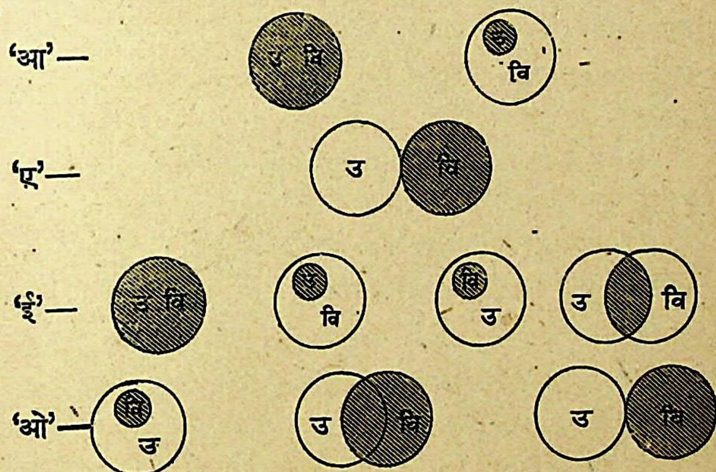
'ए' वाक्य—कोई 'उ' 'वि' नहीं है—केवल अन्तिम चित्र में व्यक्त होता है।

'ई' वाक्य—कुछ 'उ' 'वि' हैं—अन्तिम को छोड़ पहले चारों चित्रों में व्यक्त हो सकता है। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि इस वाक्य में 'कुछ का अर्थ यह नहीं है कि 'कुछ ही' किंतु इसका अर्थ है कि, कम से कम कुछ। कुछ 'उ' 'वि' हैं—यह वाक्य इतना भर सूचित करता है कि वक्ता को सभी 'उ' के विषय में जानकारी नहीं है। हो सकता है कि सभी 'उ' 'वि' हों, किंतु यहाँ वक्ता को केवल कुछ ही 'उ' के 'वि' होने की बात मालूम है। अतः उक्त वाक्य का अर्थ यह नहीं है कि, कुछ ही 'उ' 'वि' हैं, किंतु इसका अर्थ यह है कि, कम से कम कुछ 'उ' 'वि' अवश्य हैं। हो सकता है कि सभी 'उ' 'वि' हों, किंतु वक्ता को यह मालूम नहीं। इसी कारण, यह वाक्य पहले और दूसरे चित्रों से भी व्यक्त किया जा सकता है।

'ओ' वाक्य—कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं—पहले दो को छोड़ शेष तीन चित्रों से व्यक्त हो सकता है।

इस चित्रीकरण में सबसे बड़ी कठिनाई इस कारण होती है कि एक ही चित्र से वाक्य के दो भिन्न रूपों का भी व्यक्त होना सम्भव होता है। अतः किसी चित्र को देख कर ही यह नहीं कहा जा सकता कि इसका अर्थ क्या है। फिर भी, इन स्थानों में इनका बड़ा उपयोग है—

(१) किसी वाक्य में विधेय का अंश निश्चय करने में। वाक्य के चार रूपों को निम्न प्रकार देखें, जिनके विधेय का वह भाग काला कर दिया गया है जिसके विषय में यहाँ कहना अभिप्रेत है—

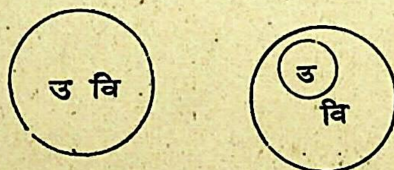


इन्हें देखने से पता चलता है कि 'आ' और 'ई' वाक्यों के विधेय कुछ अवस्थाओं में केवल एक ही अंश में काले हैं, किंतु 'ए' और 'ओ' वाक्यों के विधेय सभी अवस्थाओं में पूर्णतः काले हैं। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि निषेधात्मक वाक्यों के विधेय सर्वथा सर्वांशी होते हैं; किंतु विधानात्मक वाक्यों के विधेय वैसे नहीं होते।

(२) वाक्यों के परस्पर भेद को व्यक्त करने में भी इन चित्रों का बड़ा उपयोग है। 'आ' और 'ओ', इन दो विरुद्ध वाक्यों के चित्रों को देखने से साफ पता चलता है कि (क) इनमें कोई चित्र समान नहीं है, और यह कि (ख) इनमें सभी सम्भव चित्र चले आते हैं, कोई छूटता नहीं। यह इस बात को बड़ा साफ कर देता है कि दो विरुद्ध वाक्य एक साथ सत्य नहीं हो सकते, और यह कि उनमें एक अवश्य सत्य होगा। फिर, 'आ'

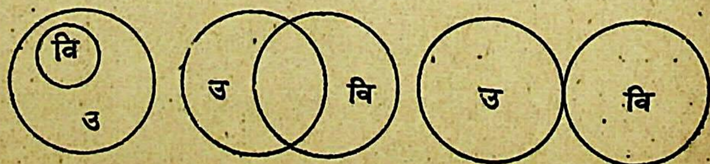
और 'ई', इन दो 'समावेश वाक्यों' के चित्रों को देखने से मालूम होता है कि पहले में वह बात आ गई है जो दूसरे में है, बल्कि उससे अधिक बात भी, क्योंकि उसमें और अधिक सम्भव संयोगों की गुंजायश नहीं है। इसी तरह, दूसरे भेद भी समझे जा सकते हैं।

(३) वाक्यों के व्यत्यस्त रूप क्या होंगे यह समझने में भी यह चित्रीकरण सहायक हो सकता है। 'आ' वाक्य का 'विषम व्यत्यय' ही हो सकता है, यह इस चित्र से भली भाँति समझ में आ जाता है। 'आ' वाक्य— सभी 'उ' 'वि' हैं—के यही दो चित्र हो सकते हैं—



इनसे हम 'वि' के विषय में क्या जान सकते हैं? पहले चित्र के अनुसार तो—सभी 'वि' 'उ' हैं। किंतु दूसरे के अनुसार—कुछ 'वि' 'उ' हैं। किसी अवस्था में हमें पता नहीं हो सकता है कि वहाँ इनमें कौन सत्य है; अतः इतना ही कहा जा सकता है कि—कुछ 'वि' 'उ' हैं।

फिर, इस चित्रीकरण से यह भी साफ समझ सकते हैं कि 'ओ' वाक्य का कैसे व्यत्यय हो नहीं सकता। कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं—इस वाक्य को केवल इन चित्रों में व्यक्त कर सकते हैं—



इन चित्रों को देखने से 'वि' के विषय में क्या ज्ञात होता है? तीनों के अर्थ इस प्रकार होते हैं—(क) सभी 'वि' 'उ' हैं; (ख) कुछ 'वि' 'उ' हैं; तथा कुछ 'वि' 'उ' नहीं हैं; (ग) कोई 'वि' 'उ' नहीं है। इन अर्थों में बड़ी असंगति मालूम होती है। तब, 'वि' के साथ सत्य होने वाली किसी बात का पता नहीं लगता।

(४) अनन्तरानुमान के दूसरे मिश्र रूपों को भी समझने में चित्रों का उपयोग है। उदाहरणार्थ, सभी 'उ' 'वि' हैं, इस वाक्य को लेकर पूछ सकते हैं कि इसके आधार पर 'नहीं-उ' या 'नहीं-वि' के विषय में क्या जान सकते हैं? इस वाक्य के यही दो चित्र हो सकते हैं—





इन चित्रों से 'नहीं-वि' के विषय में ज्ञात होता है कि—(क) कोई 'नहीं-वि' 'उ' नहीं है; (ख) कोई 'नहीं-वि' 'उ' नहीं है।

और, 'नहीं-उ' के विषय में ज्ञात होता है कि—(क) कोई 'नहीं-उ' 'वि' नहीं है; (ख) कुछ 'नहीं-उ' 'वि' नहीं हैं। इस तरह, किसी भी अवस्था में निष्कर्ष निकल सकता है कि—कुछ 'नहीं-उ' 'वि' नहीं हैं।

'ए', 'ई', 'ओ' वाक्यों के विषय में भी चित्रीकरण का यही उपयोग किया जा सकता है।

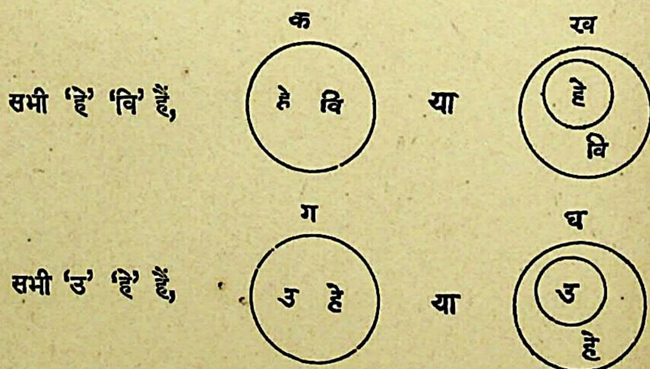
(५) न्यायवाक्य की सिद्धि या असिद्धि समझने में भी इन चित्रों का उपयोग होता है। 'बार्बारा' के सिद्ध रूप का चित्रीकरण करके देखें। उसका रूप है—

सभी 'हे' 'वि' हैं,

सभी 'उ' 'हे' हैं,

∴ सभी 'उ' 'वि' हैं।

इसके आधारवाक्यों के चित्र इस प्रकार होंगे—

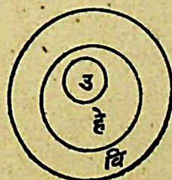


इनके आधार पर निष्कर्ष निकालने के लिए इन चित्रों को परस्पर मिलाकर देखना होगा कि सभी अवस्थाओं में 'उ' और 'वि' का क्या सम्बन्ध ठीक ठहरता है। जो होगा वही निष्कर्ष है। इनके चार संयोग होंगे—

१. क+ग = 

२. क+घ = 

३. ख+ग = 

४. ख+घ = 

इन अवस्थाओं में 'उ' या तो 'वि' को पूरा-पूरा छाप लेता है, या उसके अन्तर्गत होता है। अतः इनके आधार पर निष्कर्ष निकलता है कि—सभी 'उ' 'वि' हैं।

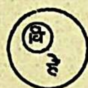
फिर, एक दूसरा उदाहरण सिद्ध न्यायवाक्य 'बोकार्डो' का लें, जो बड़ा जटिल प्रतीत होगा। इसके आधारवाक्य हैं—

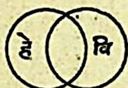
कुछ 'हे' 'वि' नहीं हैं,

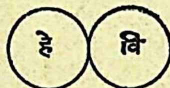
सभी 'हे' 'उ' हैं,

यहाँ, विधेयवाक्य के निम्न तीन चित्र होंगे—

(क) (ख) (ग)







और, उद्देशवाक्य के निम्न दो चित्र होंगे—

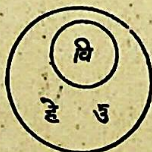
(घ) (च)



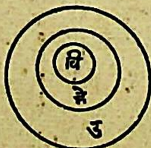


इनको परस्पर मिलने से छः संयोग होंगे—

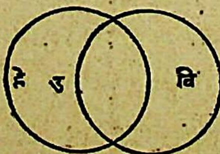
क + घ =

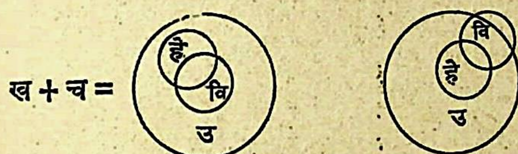


क + च =

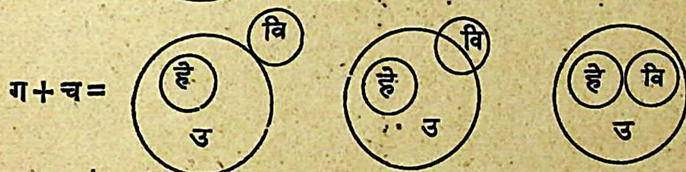


ख + घ =

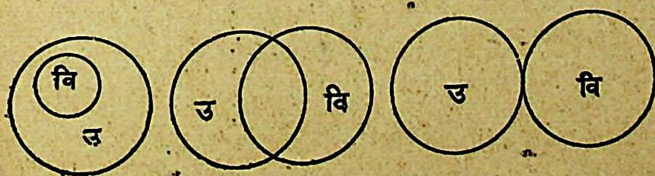








यदि 'हे' का विचार छोड़ दें, तो ऊपर के नव चित्रों में से 'उ' और 'वि' के सम्बन्ध के सूचक केवल तीन ही रह जाते हैं—



इनके आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि—कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं।

यह तो ठीक है कि चित्रीकरण की यह विधि अत्यन्त जटिल हो जाती है। प्रारम्भ में ही यदि न्यायवाक्य के सभी रूपों के चित्रीकरण का प्रयास करते तो यह, विद्यार्थी को और भी उलझन में डाल देता। किंतु, इस विधि से पदों तथा वाक्यों के परस्पर सम्बन्ध एक वार समझ लेने से जो स्पष्टता हो जाती है उसका भी अपना विशेष प्रयोजन है।

४—परिशिष्ट

अनन्तरानुमान

§ १—अरस्तू द्वारा प्रामाणिकता का प्रतिपादन

अरस्तू 'ए' वाक्य के व्यत्यय की प्रामाणिकता प्रतिलोमविधि से सिद्ध करता है। कोई 'क' 'ख' नहीं है, ∴ कोई 'ख' 'क' नहीं है; क्योंकि यदि यह नहीं होता तो कोई 'ख'—मान लें 'ग'—'क' होता। तब 'ग' 'क' भी होता और 'ख' भी। किंतु यह मूल वाक्य के प्रतिकूल हो जाता है।

इसी तरह वह 'आ' वाक्य का व्यत्यय भी प्रामाणिक सिद्ध करता है। सभी 'क' 'ख' हैं, ∴ कुछ 'ख' 'क' हैं। यदि यह निष्कर्ष ठीक नहीं है, तो इसका विरुद्ध रूप—कोई 'ख' 'क' नहीं है—ठीक होगा। इसका व्यत्यय होगा—कोई 'क' 'ख' नहीं है। किंतु यह मूल आधारवाक्य के प्रतिकूल है, अतः ठीक नहीं हो सकता। इससे सिद्ध हुआ कि वह निष्कर्ष ठीक था। इसी तरह, 'ई' वाक्य के व्यत्यय की भी प्रामाणिकता सिद्ध की जा सकती है।

अरस्तू के इस प्रयास में कोई बल नहीं है। विरोध और मध्ययोग-परिहार के सिद्धान्तों को छोड़ इस साधन में और कुछ नहीं है। इसमें सबसे बड़ा दोष यह है कि अनन्तरानुमान की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए वह उसी का आधार ग्रहण करता है।

§ २—अनन्तरानुमान का परंपरानुमान में रूपान्तर

केवल एक आधारवाक्य से निष्कर्ष निकालने की विधि को अनन्तरानुमान, और अनेक आधारवाक्यों से निष्कर्ष निकालने की विधि को

परंपरानुमान कहते हैं। यहाँ यह विचार करें कि अनन्तरानुमान की प्रामाणिकता परंपरानुमान के सहारे कहाँ तक करना सम्भव है।

(१) एक प्राचीन युनानी तर्कशास्त्री, अफ्रोडिसियस का अलक्जेण्डर, 'ए' वाक्य के व्यत्यस्त को सिद्ध न्यायवाक्य 'फेरीओ' के रूप में ला कर इस तरह सिद्ध करता है—

व्यत्येय 'ए' वाक्य—कोई 'क' 'ख' नहीं है,

∴ कोई 'ख' 'क' नहीं है।

यदि यह निष्कर्ष ठीक नहीं है तो इसका विरुद्ध रूप—कुछ 'ख' 'क' है—ठीक होगा; और तब यह न्यायवाक्य उपस्थित होता है—

कोई 'क' 'ख' नहीं है,
कुछ 'ख' 'क' हैं,
∴ कुछ 'ख' 'ख' नहीं हैं।

यह असम्भव है। अतः ऊपर का निष्कर्ष ठीक था।

(२) अरस्तू ने जो 'ए' वाक्य के व्यत्यय को सिद्ध करने की कोशिश की है उसमें भी एक न्यायवाक्य बन जाता है—

'ग' 'ख' है,
'ग' 'क' है,
∴ कुछ 'क' 'ख' हैं।

(३) आ वाक्य के परिवर्तित-व्यत्यय को 'कामेनेस्' न्यायवाक्य के रूप में इस तरह ला कर सिद्ध कर सकते हैं—

सभी 'क' 'ख' हैं,
कोई 'नहीं-ख' 'ख' नहीं है,
∴ कोई 'नहीं-ख' 'क' नहीं है।

अथवा

प्रतिलोम-विधि से—

सभी 'क' 'ख' हैं,

∴ कोई 'नहीं-ख' 'क' नहीं है।

यदि यह निष्कर्ष ठीक नहीं है तो इसका विरुद्ध रूप—कुछ 'नहीं-ख' 'क' हैं—अवश्य ठीक होगा। तब, यह न्यायवाक्य बनता है—

सभी 'क' 'ख' हैं,   दारीई

कुछ 'नहीं-ख' 'क' हैं,

∴ कुछ 'नहीं-ख' 'ख' हैं,

जो असम्भव है।

§. ३—इन विधियों में अनुमान की मात्रा कहाँ तक ?

प्रसिद्ध तर्कशास्त्री जे० एस० मिल अनन्तरानुमान पर आक्षेप करते हुए कहता है कि इन विधियों को अनुमान मानना ही गलत है, क्योंकि इनमें वाक्य के अर्थ को केवल दूसरे पर्याय-वाक्य से सूचित करने के अलावा कुछ नहीं होता। ज्ञात के आधार पर अज्ञात के विषय में निष्कर्ष निकालना अनुमान का अपना प्रयोजन है। अनन्तरानुमान में कोई ऐसा निष्कर्ष नहीं निकलता; इसका निष्कर्ष तो आधार का वाक्यान्तर-मात्र है। इस कारण, इन विधियों का अध्ययन भाषा का विषय होना चाहिए, तर्कशास्त्र का नहीं।

अनुमान इस बात का व्यञ्जक है कि यहाँ विचार में कोई गति हुई है। और, विचार में गति तभी होती है जब विचार के विषयों में किसी सम्बन्ध की अनुभूति हो। विचारक के अपने मन की ही बातों से विचार की कोई गति उत्पन्न नहीं होती। विचार की गति का अर्थ है किसी नये विषय का परामर्श प्राप्त होना। यदि अपने ही विषय पर विचार चेष्टित होता रहा तो उसमें गति कैसी !!

यदि महात्मा गांधी के चित्र को देखकर हमारे मन में हो कि चर्खा

का प्रचार अवश्य होना चाहिए तो यह कोई अनुमान नहीं कहा जा सकता। मेरा मित्र मेरे साथ है, इसलिए मैं अपने मित्र के साथ हूँ—यह भी अनुमान का उदाहरण नहीं हो सकता। गांधी जी के चित्र से जो चर्खे का विचार हुआ वह किसी नये विषय का परामर्श नहीं है; वह तो केवल साहचर्य-जनित उद्‌बुद्ध स्मृति मात्र है। दूसरे उदाहरण में भी विचार की गति हुई नहीं कही जा सकती, क्योंकि विचार की चेष्टा का विषय वही रहा है—हम दोनों का साथ।

समावेश

सामान्य वाक्य से समाविष्ट का निष्कर्ष भी अनुमान नहीं कहा जाना चाहिए; क्योंकि जब समाविष्ट वाक्य अपने सामान्य में सन्निहित ही है तो इसे ज्ञान के प्रसार का कोई उदाहरण नहीं कह सकते। किंतु, यह ध्यान में रखना चाहिए कि निष्कर्ष की अत्यन्त स्पष्टता अनुमान के निषेध की आधार नहीं हो सकती। निष्कर्ष अपने आधार में अनुगत रहता है यह बात भी अनुमान के निषेध का आधार नहीं हो सकती, क्योंकि सभी आधार-वाक्य अपने निष्कर्ष के व्यञ्जक होते हैं।

संकेतों के उपयोग से समस्या

अनन्तरानुमान की विधियों को समझने के लिए संकेतों का उपयोग किया जाता है। किंतु अमुक दृष्टान्त में अनुमान है या नहीं यह जानने के लिये पहले यह जानना आवश्यक है कि उन संकेतों का अर्थ क्या है। व्यत्यय-परिवर्तन-व्यत्यय की संयुक्त विधि से सांकेतिक निष्कर्ष इस प्रकार निकाल सकते हैं—कोई 'क' 'ख' नहीं है, ∴ कोई 'ख' 'क' नहीं है, ∴ सभी 'ख' 'नहीं-क' हैं, ∴ कुछ 'नहीं-क' 'ख' हैं। यदि इसका मूल वाक्य हो—कोई गाय मांसाहारी नहीं है, तो इसका अन्तिम निष्कर्ष होगा—कुछ गाय से इतर प्राणी मांसाहारी हैं। इससे इस निष्कर्ष के रूप की प्रामाणिकता पर कोई आशंका नहीं होती। किंतु, यदि मूलवाक्य हो—कोई

मनुष्य दो बार नहीं मरता, तो इसका अन्तिम निष्कर्ष होगा—कुछ मनुष्येतर दो बार मरते हैं। इसका मूलवाक्य बड़ा ठीक है, क्योंकि यह साफ है कि मनुष्य एक ही बार मरते हैं। उससे यह निष्कर्ष भी शास्त्रीय विधियों के अनुकूल ही निकाला गया है। तब, इस असम्भव परिणाम पर कैसे पहुँचे ? भला, किसी प्राणी के दो बार मरने की कल्पना भी कैसे कर सकते हैं ! यह कठिनाई इसी लिए उपस्थित हो गई कि हम यह धारणा लिए थे कि वाक्य उद्देश और विधेय पदों से सूचित होने वाले व्यक्तियों की उसी रूप में वास्तविक स्थिति भी बताते हैं। किंतु, ऐसा न मान कर सांकेतिक वाक्य को केवल उद्देश और विधेय के परस्पर सम्बन्ध का सूचक मानें तो कोई समस्या नहीं उठती। और तब, वाक्य हेतुफलाश्रित रूप में समझा जाता कि—यदि मनुष्य हैं, और दो बार मरने वाले भी हैं तो उनमें कोई सम्बन्ध नहीं है।

दो दृष्टियाँ

विधानात्मक वाक्य में साधारणतः उद्देश और विधेय दोनों से सूचित होने वाले व्यक्तियों की विद्यमानता स्वीकार करके चलते हैं; चाहे वैसे खास व्यक्तियों का हमारे मन में कोई ख्याल हो या न हो ! सभी 'क' 'ख' हैं, इस वाक्य से 'क' जाति के सभी व्यक्तियों के विषय में कहना भी अभिप्रेत हो सकता है, और यह भी कि 'क' के होने और 'ख' के होने में सम्बन्ध है। पहले को ऐतिहासिक दृष्टि और दूसरे को वैज्ञानिक दृष्टि कह सकते हैं। यदि वाक्य वैज्ञानिक दृष्टि से कहा गया हो, तो यह आवश्यक नहीं होता कि वह वैसे व्यक्तियों की विद्यमानता की भी सूचना करे। सभी नदियाँ ऊँची से नीची ओर बहती हैं, इसे वैज्ञानिक दृष्टि से कहा गया वाक्य कह सकते हैं : क्योंकि इसे कहते समय यह आवश्यक नहीं है कि व्यक्तिगत नदियों का ख्याल हो। ऊँची से नीची ओर बहना पानी का स्वभाव है। अतः, नदी के अपने स्वभाव में यह बात निहित है कि वह

नीचे की ओर बहेगी। सभी नदियाँ ऊँची से नीची ओर बहती हैं, यह कोई ऐतिहासिक सूचना नहीं है, किंतु वैज्ञानिक सत्य की अभिव्यक्ति है। ऐसे वाक्य को हेतुफलाश्रित रूप में रखने से इसकी वैज्ञानिकता साफ मालूम पड़ती है : जैसे, यदि कोई नदी है तो नीचे की ओर बहेगी ! किसी ऐतिहासिक दृष्टि से कहे गये सामान्य वाक्य को इस प्रकार हेतुफलाश्रित रूप नहीं दे सकते। भारतवर्ष के सभी बड़े लाट अंगरेज हैं, इसे यह रूप नहीं दे सकते कि—यदि कोई भारतवर्ष का बड़ा लाट है तो अँगरेज है। क्योंकि बड़ा लाट कोई दूसरी जाति का भी हो सकता था। वैज्ञानिक दृष्टि से कहे गए विशेष वाक्य का रूप होना चाहिए, 'क' 'ख' हो सकता है। कुछ 'क' 'ख' हैं, इस विशेष वाक्य के कहने के समय यह प्रकट होता है कि 'क' जाति के कुछ खास व्यक्ति ख्याल में रख कर कहा गया है। वैज्ञानिक दृष्टि से कहे गए एक सामान्य वाक्य का उदाहरण लें—सर्वज्ञ पशु-पक्षी की भाषा भी समझते हैं। यहाँ, यह शंका करने की आवश्यकता नहीं है कि क्या कोई सर्वज्ञ हो सकता है, अथवा क्या पशु-पक्षी की भी भाषा होती है ! हो सकता है कि दोनों न होते हों। तो भी, उक्त वाक्य का अभिप्राय तुच्छ नहीं समझा जायगा। इस वाक्य की सार्थकता यह व्यक्त करने में है कि यदि कोई सर्वज्ञ हो, और यदि पशु-पक्षी की भाषा हो तो वह उसे अवश्य समझ लेगा।

उसी तरह, कोई मनुष्य दो बार नहीं मरता, इस वाक्य को वैज्ञानिक दृष्टि से लें तो हमें इसकी खोज करने की आवश्यकता नहीं है कि क्या कोई दो बार भी मर सकता है अथवा नहीं। और तब, वह समस्या नहीं खड़ी होती जो ऊपर हुई है।

व्यत्यय में अनुमान की मात्रा कहाँ तक ?

इतनी बात सामने रख कर, विचार करें कि वाक्य के चार रूपों के व्यत्यय में कहाँ तक अनुमान की मात्रा प्राप्त होती है। 'ई'—कुछ भार-

तीय नेता समाजवादी हैं, यह एक विशेष-विधानात्मक 'ई' वाक्य है। इसका व्यत्यस्त होगा, कुछ समाजवादी भारतीय नेता हैं। यह अत्यन्त स्पष्ट है। बाबू जयप्रकाश नारायण आदि कुछ लोगों को मैं जानता हूँ जो भारतीय नेता भी हैं और समाजवादी भी हैं। तब, चाहे वाक्य के उद्देश को 'कुछ भारतीय नेता' बनाऊँ या 'कुछ समाजवादी' एक ही बात है। इस तरह, यहाँ व्यत्येय से व्यत्यस्त का लाभ करने में विचार में कोई गति नहीं हुई। यदि उन खास व्यक्तियों के साथ उक्त वाक्य के उद्देश तथा विधेय को अलग-अलग रख कर विचार करें तो अलबत्ता अनुमान का कुछ रूप बन सकता है।

बाबू जयप्रकाश नारायण आदि व्यक्ति भारतीय नेता हैं,
बाबू जयप्रकाश नारायण आदि व्यक्ति समाजवादी हैं,
∴ कुछ समाजवादी भारतीय नेता हैं।

किंतु यह न्यायवाक्य का उदाहरण हुआ, अनन्तरानुमान का नहीं।

'आ'—सभी घोड़े पशु हैं, यह एक सामान्य-विधानात्मक 'आ' वाक्य है। इसका व्यत्यस्त होगा—कुछ पशु घोड़े हैं। यों तो देखने से मालूम होता है कि इसमें नयी बात का पता चला है, यह कि सभी घोड़ों के विषय में जान कर कुछ पशुओं के विषय में अनुमान किया गया है। किंतु तनिक विचार कर देखने से पता चलेगा कि इसमें भी यथार्थतः विचार में कोई गति नहीं हुई है। सभी घोड़े पशु हैं, यह कहने के समय ही हमने यह अनुभव किया था कि 'पशु' का विस्तार घोड़े तक ही सीमित नहीं है, और यह कि गाय बकरी आदि दूसरे पशु हैं जो घोड़े नहीं हैं, और, पशु होने का अर्थ नहीं है कि यह घोड़ा ही होगा। अतः, 'आ' वाक्य के उद्देश और विधेय से यदि उन व्यक्तियों का बोध होता हो तो इसके व्यत्यस्त में किसी अनुमान की बात दिखाई नहीं देती।

'आ' वाक्य जब वैज्ञानिक दृष्टि से कहा गया हो जिसके उद्देश और विधेय से उन व्यक्तियों का न बोध हो कर उनके स्वभाव का बोध होता

हो, तो उसके व्यत्यस्त में अनुमान की मात्रा प्राप्त होगी। सर्वज्ञ पशु-पक्षी की भाषा को समझते हैं, इस वाक्य का व्यत्यस्त हुआ—कुछ 'पशु-पक्षी की भाषा समझने वाले' 'सर्वज्ञ' हैं। इससे यह ज्ञान प्राप्त होता है कि कुछ ऐसे लोग हैं जिनमें सर्वज्ञता और पशु-पक्षी की भाषा समझ सकना दोनों गुण पाये जाते हैं।

किंतु, यह अनुमान व्यत्यय-विधि के कारण न प्राप्त होकर हेतुफलाश्रित न्याय से प्राप्त हुआ है; क्योंकि इसमें हेतु और फल से रूप में आने वाले दो स्वभावों के सम्बन्ध के आधार पर निष्कर्ष निकाला गया है। ऊपर देख चुके हैं कि उक्त वाक्य का यथार्थ भाव हेतुफलाश्रित रूप में इस तरह प्रकट होता है—यदि कोई सर्वज्ञ है, तो वह पशु-पक्षी की भाषा समझता है। मिश्र न्यायवाक्य के नियम के अनुसार फल का विधान करके हेतु का विधान नहीं कर सकते। फल का विधान करके केवल इतना कह सकते हैं कि हेतु हो सकता है। अतः, यहाँ यही कह सकते हैं कि—पशु-पक्षी की भाषा समझने वाला सर्वज्ञ हो सकता है। ऊपर देख चुके हैं कि इसका अर्थ हुआ कि कुछ 'पशु-पक्षी की भाषा समझने वाले' 'सर्वज्ञ' हैं।

'ए'—सामान्य-निषेध 'ए' वाक्य यदि शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से कहा गया हो तो उसके व्यत्यय में विचार की कोई गति नहीं होती। कोई घोड़ा गाय नहीं है, या कोई गाय घोड़ा नहीं है, दोनों एक ही बात है। घोड़ा और गाय का सर्वथा पार्थक्य दोनों में समान है। यह कोई अनुमान नहीं कहा जा सकता। बल्कि इस तरह व्यत्यय करने में वाक्य के तात्पर्य में अन्तर पड़ने का भय रहता है। सामान्य-निषेध वाक्य अपने उद्देश के व्यक्तियों की विद्यमानता का आश्वासन देता है, विधेय के व्यक्तियों की विद्यमानता का नहीं। कोई मनुष्य दो बार नहीं मरता है; या कोई पशु आँख से नहीं सुनता है—इन वाक्यों में 'मनुष्य' या 'पशु' के व्यक्तियों की विद्यमानता का आश्वासन तो प्राप्त है, किंतु ये यह नहीं सूचित करते

कि ऐसे भी प्राणी-विद्यमान हैं जो दो बार मरते हों, या जो आँख से सुनते हों। इन वाक्यों के व्यत्यस्त में बड़ा अनर्थ हो जायगा, क्योंकि उसमें उनके विधेय उद्देश होकर विद्यमान समझे जायेंगे। उनके व्यत्यस्त रूप होंगे—कोई दो बार मरने वाले प्राणी मनुष्य नहीं हैं, या कोई आँख से सुनने वाले प्राणी पशु नहीं हैं। इसका तात्पर्य मूल वाक्य से भिन्न हो गया। यह अनुमान नहीं हो सकता।

परिवर्तन में अनुमान की मात्रा

'परिवर्तनानुमान' का आधार है 'मध्ययोगपरिहार का नियम'। 'क' या तो 'ख' है, या 'नहीं-ख' है। यदि 'क' 'ख' है, तो वह 'नहीं-ख' नहीं है: और यदि वह 'नहीं-ख' है तो 'ख' नहीं है। ऊपर देख चुके हैं कि निष्कर्ष निकालने की यह विधि 'वैकल्पिक न्यायवाक्य' की है—

'क' या तो 'ख' है, या 'नहीं-ख' है;
'क' 'ख' है
∴ 'क' 'नहीं-ख' नहीं है।

अथवा

'क' या तो 'ख' है, या 'नहीं-ख' है;
'क' 'नहीं-ख' है
∴ 'क' 'ख' नहीं है।

इस तरह, यह साफ है कि परिवर्तनानुमान यथार्थ में विकल्प-न्यायानुमान है, अनन्तरानुमान नहीं। सभी मनुष्य द्विपद हैं, इसका जब परिवर्तन करते हैं कि कोई मनुष्य गैर-द्विपद नहीं है, तब इसका विधेयवाक्य अवगत रहता है कि—मनुष्य या तो द्विपद है, या गैर-द्विपद।

५—परिशिष्ट

न्यायवाक्य की उपयोगिता तथा प्रामाणिकता पर दार्शनिक मिल् की आपत्ति

(१) दार्शनिक मिल का कहना है कि तीन अवयवों वाले न्यायवाक्य के जिन संयोगों का अध्ययन तर्कशास्त्र बड़े महत्व से करता है वैसे बने बनाए रूप यथार्थतः हमारे विचार करने की प्रक्रिया में कभी नहीं आते। वह इस अध्ययन को एकदम निरर्थक नहीं बताता। उसके अनुसार इसकी उपयोगिता केवल इस बात में कही जा सकती है कि हम अपने किसी विचार को, यदि उसकी प्रामाणिकता के विषय में संदेह हो, इन रूपों में ला कर परीक्षा कर सकते हैं कि यह संगत है या असंगत। इस प्रकार, न्यायवाक्य का उपयोग विचार की कसौटी के रूप में भले ही हो, किंतु विचार के दिग्दर्शक के रूप में कभी नहीं है।

मिल के अपने शब्दों में—"न्यायवाक्य की उपयोगिता इस बात में नहीं है कि उसी के अनुसार हमारे तर्क नित्य, या प्रायः, हुआ करते हैं; किंतु वह इस बात में है कि उससे हमें उन रूपों का ज्ञान हो जाता है जिनमें हम अपने तर्कों को ढाल सकते हैं, और, यदि उसमें कोई असंगति हो तो उसे स्पष्ट कर सकते हैं।" हेर्संचेल्, वेवेल, वेन आदि तर्कशास्त्रियों ने मिल की इस आपत्ति को स्वीकार किया है।

समीक्षा

इसके विरुद्ध मैन्सल, डे मोर्गन, मार्टिनिउ, डा० राय, सर हैमिल्टन

आदि कुछ दूसरे तर्कशास्त्रियों ने मिल की उक्त आपत्ति का विरोध किया है। उनका कहना है कि—

यह ठीक है कि हमारे दैनिक विचार न्यायवाक्य के बने-बनाए रूपों में नहीं आते, किंतु इससे न्यायवाक्य की उपयोगिता को कोई आँच नहीं पहुँचती। जब न्यायवाक्यों के संयोग विचार-संगति के प्रतीक हैं तब उनके महत्व को स्वीकार करना ही होगा। तर्कशास्त्र का कर्तव्य यह बताना नहीं है कि हमारे विचार की प्रक्रिया क्या है। यह तो मानसशास्त्र का विषय है। तर्कशास्त्र तो विधायक शास्त्र है: वह यह अध्ययन करता है कि हमारे विचार के रूप कैसे होने चाहिए, यदि हम ठीक विचार करना चाहते हैं। इन दो शास्त्रों के क्षेत्र अलग न समझ कर ही मिल महोदय ने उक्त आपत्ति की है।

* * *

(२) मिल् महोदय की दूसरी आपत्ति यह है कि—

"सारे अनुमान विशेष से विशेष के होते हैं। सामान्य वाक्य तो ऐसे ही पूर्व-प्राप्त अनुमानों के योग हैं, जिनमें और भी नये अनुमानों का समावेश कर सकते हैं। फलतः, न्यायवाक्य का विधेयवाक्य ऐसे ही योग का एक सूत्र है। और निष्कर्ष-वाक्य की निष्पत्ति उस सूत्र से नहीं, किंतु उस सूत्र के अनुसार होती है।" इस तरह मिल ने न्यायवाक्य के सामान्य-वाक्य वाले अवयव की सामान्यता के आधार का अपलाप किया है।

समीक्षा

यह ठीक है कि कुछ अवस्थाओं में हमारे अनुमान विशेष से विशेष के होते हैं; किंतु यह मानना भारी भूल होगा कि सारे अनुमान ऐसे ही होते हैं, और यह कि अनुमान में सामान्यता के आधार का कोई स्थान ही

नहीं है। इसके विपरीत, विशेष से विशेष के अनुमान में भारी खतरा है; और यह तभी दूर हो सकता है जब उसका आधार कोई सामान्य हो।

एक आदमी का बुखार अमुक दवा से अच्छा होता देख कर दूसरे किसी को भी बुखार आने पर वह दवा भले ही दे दें, किंतु यह खतरे से खाली नहीं है। यह खतरा तभी दूर हो सकता है जब हमें उस खास बुखार की जाति का ज्ञान हो जाय, और इसका कि इस जाति के बुखार को हटाने की ताकत इस दवा में कैसे है। इस तरह कार्य-कारण के सम्बन्ध पर आश्रित जो व्याप्ति (= सामान्य) बनी है वही न्यायवाक्य में आधार का काम करती है।

मिल का यह कहना ठीक नहीं है कि न्यायवाक्य में जिस सामान्य का प्रयोग होता है वह पूर्व-प्राप्त विशेष अनुमानों का योग मात्र है। यदि सामान्य ऐसा हो तो यथार्थ में तर्कशास्त्र की दृष्टि से उसका महत्त्व अत्यन्त अल्प हो। किंतु, यथार्थ में न्यायवाक्य का आदर्श सामान्य तो वह व्याप्ति है जो कार्य-कारण के सम्बन्ध पर स्थापित की गई है। यह सामान्य न्याय-वाक्य में आधार का काम करता है। तर्कशास्त्री वेल्टन लिखता है—"ऐसी अवस्था में भी जब हम प्रत्यक्षतः एक या दो विशेष के आधार पर ही निष्कर्ष निकाल लेते हैं सचमुच में हमारे अनुमान का आधार वह सामान्य धर्म होता है जो सभी में समान रूप से प्राप्त है। और, यही न्यायवाक्य में सामान्य विधेयवाक्य के रूप में व्यक्त हो सकता है।"

(३) मिल महोदय की तीसरी आपत्ति यह है कि न्यायवाक्य का निष्कर्ष तो अपने सामान्य आधार-वाक्य में अवगत ही रहता है। जब हम न्यायवाक्य उपस्थित करते हैं कि—

सभी मनुष्य मरणशील हैं,
सुकरात मनुष्य है,
∴ सुकरात मरणशील है;

तो कोई नई बात सिद्ध नहीं करते : क्योंकि, "सुकरात मरणशील है" यह निष्कर्ष तो "सभी मनुष्य मरणशील हैं" इसी आधारवाक्य में सिद्ध था। तब, न्यायवाक्य में एक तरह सिद्ध-साधन[1] भर है।

समीक्षा

ऊपर देख चुके हैं कि न्यायवाक्य में जो सामान्य आधारवाक्य है वह विशेषों का योग मात्र नहीं है, किंतु वह कारण-कार्य के सम्बन्ध पर स्थापित व्याप्ति है। यही व्याप्ति निष्कर्ष का आधार होता है। इसे विशेषों का योग मात्र समझना भारी भूल है। जब विज्ञानवेत्ता विशेष में पैठ कर उसके 'स्वरूप' को पकड़ लेता है तब पूरे विश्वास के साथ किसी व्याप्ति की स्थापना करता है। न्युटन ने वृक्ष से एक फल गिरते देखा, इतने से उसने सभी भौतिक पदार्थों में जो आकर्षण-शक्ति काम कर रही है उसे समझ लिया। न्युटन ने एक विशेष फल गिरने की घटना में उस सामान्य धर्म का दर्शन कर लिया जिसके बल पर उसने घोषणा की कि 'सभी भौतिक पदार्थ में आकर्षण शक्ति है'। इस व्याप्ति को प्राप्त करने के लिए क्या न्युटन ने हजारों फल गिरा कर देखा था!! बागीचे के माली तो सदैव वृक्ष से फल गिरते देखते हैं, किंतु उन्हें इस व्याप्ति का दर्शन नहीं होता। प्रस्तुत ग्रन्थ के दूसरे भाग में हम 'व्याप्ति-विधि' का अध्ययन करेंगे, कि विशेषों की परीक्षा से सामान्य पर कैसे पहुँचते हैं।

---

[1] Petitio Principii.

इस प्रकार से स्थापित सामान्य वाक्य ही न्यायवाक्य में ऐसा आधार बनता है जिससे निष्पन्न हुआ निष्कर्ष पूरा भरोसा वाला होता है। यहाँ तक कि, 'युरेनस' ग्रह की गति में कुछ परिवर्तन देख कर ज्योतिषशास्त्री ने घोषणा की कि अमुक दिशा में अमुक प्रकार का एक दूसरा ग्रह होना चाहिए जिसके प्रभाव से इसकी गति में यह परिवर्तन होता है। और, बाद में सचमुच 'नेपचुन' ग्रह वहाँ पाया गया।

"सभी मनुष्य मरणशील हैं, सुकरात मनुष्य है, ∴ सुकरात मरणशील है" इस साधारण न्यायवाक्य में भी जो विधेयवाक्य है वह क्या विशेष-घटनाओं का योग मात्र है? नहीं, वह उस सामान्य सत्य का कथन करता है, जो अन्यथा हो ही नहीं सकता। इस सामान्य सत्य को समझने के लिए हजारों मरते लोगों को देखने की जरूरत नहीं है। यहाँ जो 'सुकरात का मरणशील होना' निष्कर्ष निकाला गया है वह इस आधार पर कि 'सुकरात' में भी वही मनुष्य-साधारण अपूर्णता थी जिस कारण वह मरणशील होता है। यहाँ, निष्कर्ष-वाक्य एक घटना मात्र नहीं है, किंतु यह एक सत्य की सिद्धि है जो 'सुकरात' के साथ लागू है।

मिल जो कहता है कि निष्कर्ष-वाक्य विधेयवाक्य में अवगत है उससे तो उद्देशवाक्य निरर्थक ठहरता है। किंतु, हम देख चुके हैं कि न्यायवाक्य में उद्देशवाक्य एक अनिवार्य अवयव है।

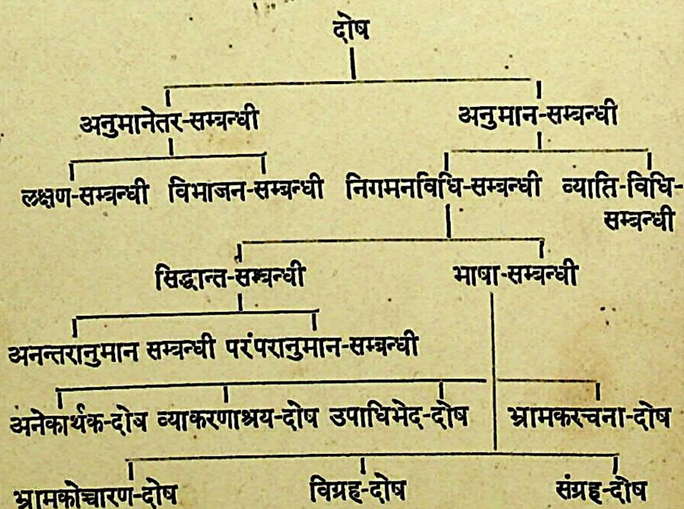
फिर, यदि प्रत्येक न्यायवाक्य 'सिद्ध-साधन' मात्र होता तो उसकी प्रक्रिया से कोई नई जानकारी प्राप्त करना सम्भव न होता; विधेयवाक्य के सुनते ही साथ साथ निष्कर्ष का भी ज्ञान हो जाता। तब, अनुमान एकदम निष्प्रयोजन हो जाता। किंतु, हम सभी जानते हैं कि ज्ञान के विकास में अनुमान बड़ा भारी साधन है। यह ठीक है कि निष्कर्षवाक्य की सत्यता आधारवाक्यों की सत्यता में निहित है, क्योंकि यदि यह ऐसी न होती तो हम उसे जान भी नहीं सकते। इतने से यदि कोई यह समझ

ले कि आधारवाक्य की जानकारी में निष्कर्षवाक्य की भी जानकारी निहित है तो यह उसकी भूल होगी। न्यायवाक्य को 'सिद्ध-साधन' मात्र बता कर मिल ने यही भूल की है। बात यह है कि आधारवाक्य की सत्यता की जानकारी से निष्कर्षवाक्य की सत्यता की जानकारी प्राप्त होती है। इसी से अनुमान हमारे ज्ञान के विकास का आवश्यक मार्ग है।

६—परिशिष्ट

निगमन-विधि में होने वाले दोष[1]

तर्कशास्त्र उन नियमों का अध्ययन करता है, जिनका पालन करना प्रामाणिक विचार के लिए आवश्यक है। इन नियमों का जहाँ उल्लंघन हुआ वहाँ विचार सदोष हो जाता है। अतः, दोषों की भी संख्या उतनी ही होगी जितनी संख्या तर्कशास्त्र के सिद्धान्तों तथा नियमों की है। दोषों के कितने प्रकार हो सकते हैं यह निम्न तालिका से प्रकट होगा—



[1] Fallacies in Deductive Reasoning.

'लक्षण' तथा 'विभाजन' के प्रकरणों में देख चुके हैं कि उनके क्या क्या नियम हैं, और उनके उल्लंघन से क्या क्या दोष उपस्थित होते हैं [पृ० ६२–७५]। उन्हें यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं है।

अनुमान के व्याप्ति-विधि-सम्बन्धी दोषों का अध्ययन ग्रन्थ के दूसरे भाग में करेंगे।

निगमन-विधि सम्बन्धी दोष दो प्रकार के होते हैं—सिद्धान्त-सम्बन्धी और भाषा-सम्बन्धी। अनन्तरानुमान और परंपरानुमान के प्रकरणों में उनके भेद-प्रभेदों के जो नियम देख चुके हैं उनके उल्लंघन से जितने दोष उपस्थित होते हैं, सभी सिद्धान्त-सम्बन्धी दोष हैं। उनका निरूपण भी उनके अपने अपने स्थानों में हो ही गया है।

भाषा-सम्बन्धी दोष सात प्रकार के होते हैं—

(१) भिन्नार्थक-दोष[1]—न्यायवाक्य का पहला साधारण नियम है कि उसमें केवल तीन ही पद होंगे। प्रत्येक पद दो दो बार प्रयुक्त होता है। अब, यदि उनमें कोई—विधेयपद, या हेतुपद, या उद्देशपद—दो जगहों पर दो अर्थों में प्रयुक्त हो तो 'चतुष्पाद-दोष' हो जाता है [देखिए पृ० १६१]। इसी दोष को 'भिन्नार्थक-दोष' कहते हैं।

(२) व्याकरणाश्रय-दोष[2]—समान प्रकृति से सिद्ध शब्दों में भी बहुधा घोर अर्थवैषम्य हो जाता है; और उससे बड़ा ऊटपटांग निष्कर्ष निकल जाता है। जैसे—

दाता होना बड़ा अच्छा है,
वह इञ्जन में कोयला देता है,
∴ वह बड़ा अच्छा है।

---

[1]Fallacy of Equivocation.
[2]Fallacy of Paronymous Terms.

यहाँ हेतुपद में समान 'देना' धातु का प्रयोग हुआ है, किंतु दोनों के अर्थ में बड़ी विषमता है।

(३) उपाधि-भेद-दोष[1]—न्यायवाक्य का हेतुपद यदि आधारवाक्यों में समान उपाधि के प्रसंग में न लिखा गया हो तो बड़ा अनर्थ हो सकता है। इसे 'उपाधि-भेद-दोष' कहते हैं। जैसे—

मनुष्य-वध करने वाला मृत्युदण्ड का भागी है,
सिपाही मनुष्य-वध करने वाला है
∴ सिपाही मृत्युदण्ड का भागी है।

इस युक्ति में 'उपाधि-भेद-दोष' है, क्योंकि यहाँ विधेयवाक्य में "मनुष्य-वध करना" साधारण शान्ति-काल की उपाधि में समझा गया है, और उद्देशवाक्य में वही रण-क्षेत्र की उपाधि में समझा गया है।

(४) भ्रामक-रचना-दोष[2]—कभी कभी वाक्य-रचना ऐसी भ्रामक होती है कि उसका ठीक अर्थ क्या है यह पता नहीं चलता। जैसे—

नेवला साँप नहीं खाता,

इस वाक्य का अर्थ यह भी हो सकता है कि 'नेवला साँप को नहीं खाता' और यह भी कि 'नेवला को साँप नहीं खाता'। इसे 'भ्रामक-रचना-दोष' कहते हैं।

इस दोष का उदाहरण ज्योतिषी की उस प्रसिद्ध भविष्यद्वाणी में है जिसे वह किसी गर्भिणी स्त्री की संतान के विषय में करता है। वह एक कागज पर लिख कर रख छोड़ता है कि—"लड़का न लड़की"। स्त्री को यदि लड़का पैदा हुआ तो उसे खोल कर पढ़ देता है—लड़का, न लड़की: और यदि लड़की पैदा हुई तो उसे पढ़ देता है - लड़का न, लड़की।

---

[1] Fallacy of Accident.

[2] Fallacy of Amphibology.

(५) भ्रामकोच्चारण-दोष[1]—वाक्य के किसी खास शब्द पर जोर दे कर उच्चारण करने से भी कभी कभी अर्थ का अनर्थ हो जाता है। "आपस में मत लड़ो" यह एक साधारण शिक्षा है। अब, यदि कोई इसे 'आपस' शब्द पर खूब जोर दे कर पढ़े तो इसका यह अर्थ हो जायगा कि—आपस में तो मत लड़ो, किंतु दूसरे से लड़ने में कोई हानि नहीं। इस दोष को 'भ्रामकोच्चारण-दोष' कहते हैं।

(६) विग्रह-दोष[2]—जो वाक्य संग्रहार्थक है उसे विग्रह के अर्थ में ले लें तो यह दोष उपस्थित होता है। जैसे—

सभी लड़के इस शहतीर को उठा सकते हैं,
मैं लड़का हूँ।
∴ मैं इस शहतीर को उठा सकता हूँ।

यहाँ विधेयवाक्य संग्रहार्थ है। "सभी लड़के" का अर्थ है—सभी लड़के मिल कर। इसे विग्रह के अर्थ में समझ लिया गया है, यह कि—सभी लड़के अलग अलग। इस दोष को 'विग्रह-दोष' कहते हैं।

(७) संग्रह-दोष[3]—जो वाक्य विग्रहार्थक है उसे संग्रह के अर्थ में ले लें तो यह दोष उपस्थित होता है। जैसे—

यहाँ के सभी पहलवान एक सेर से कम ही खाते हैं,
राम, हरि, गौरी और मोहन यहाँ के पहलवान हैं,
∴ वे एक सेर से कम ही खायेंगे।

यहाँ विधेयवाक्य विग्रहार्थक है। "सभी पहलवान" का अर्थ है—सभी पहलवान अलग अलग। इसे संग्रह के अर्थ में समझ लिया है, यह कि—सभी एक साथ। इस दोष को 'संग्रह-दोष' कहते हैं।

---

[1] Fallacy of Accent. [2] Fallacy of Division.
[3] Fallacy of Composition.

७—परिशिष्ट

(प्रश्नावली[1])

१—तर्कशास्त्र का विषय

(१) तर्कशास्त्र का क्षेत्र क्या है ? इसका अध्ययन किस प्रकार उपयोगी है ? क्या यह हमारे तर्क को निर्दोष बना देता है ?

(२) जब वह भी, जिसने तर्कशास्त्र का अध्ययन कभी नहीं किया है, ठीक-ठीक तर्क कर लेता है, तब तर्कशास्त्र की क्या आवश्यकता ? समझाइए।

(३) "तर्कशास्त्र अध्ययन करने के पूर्व भी हम काफी सप्रमाण विचार कर सकते हैं, अतः विचार में प्रमाणता लाने के लिए इस शास्त्र के अध्ययन का कोई मूल्य नहीं"—इस कथन की परीक्षा कीजिए।

(४) 'ज्ञान' के स्वरूप का निरूपण कीजिए। इसके भिन्न-भिन्न 'रूप' और 'मार्ग' क्या हैं ? क्या सभी ज्ञान तर्कशास्त्र के अध्येय विषय हैं ?

(५) प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान में क्या भेद है ? इनमें तर्कशास्त्र का अपना अध्येय विषय कौन है ?

(६) तर्कशास्त्र किसकी परीक्षा करता है—विचार की, या विषय की, या भाषा की ? पूर्ण रूप से प्रकाश डालिए।

(७) वस्तुवाद, प्रत्ययवाद और भाषावाद—तर्कशास्त्र में जो ये तीन मत हैं उनकी व्याख्या कीजिए।

२—तर्कशास्त्र, रूप-विषयक और विषय-विषयक

(८) 'सत्य' क्या है ? रूपविषयक और विषय-विषयक सत्य के भेद को समझाइए। तर्कशास्त्र दोनों में किसका अध्ययन करता है ?

(९) तर्कशास्त्र क्या विचार की 'अन्तः संगति' का ही अध्ययन करता है, या विचार से वस्तु के संवाद का भी ?

---

[1] प्रायः परीक्षा के प्रश्नपत्रों से संगृहीत।

I. THE PROBLEM OF LOGIC.

(I) Determine the scope of Logic, and indicate the uses of its study. Does it render a man free from error ?

(2) Can you say that the study of Logic is useful when persons who have never studied it reason accurately ? Give reasons for your answer.

(3) Discuss the statement that much valid thought precedes the study of Logic, hence the study of Logic is valueless for the purpose of valid thought.

(4) Determine the character of knowledge, indicating its different forms and sources. Does all knowledge come within the province of Logic ?

(5) Distinguish between Immediate and Mediate Knowledge. Which of them constitutes the proper subject-matter of Logic ?

(6) What does Logic deal with, with thought, thing or language ? Discuss fully.

(7) Explain Realism, Conceptualism and Nominalism as schools of Logic.

2. LOGIC AS FORMAL AND MATERIAL.

(8) What do you understand by truth ? Distinguish between Formal and Material Truth. Which of them constitutes the proper subject-matter of Logic ?

(9) Fully discuss the question whether Logic deals only with the consistency of thought or with truth of thought as well.

(१०) रूपविषयक और विषयविषयक तर्कशास्त्र में क्या अन्तर है ? हमारे प्रतिदिन के जीवन में उनका क्या उपयोग है ?

(११) यह कहने का क्या अर्थ है कि, 'तर्कशास्त्र को केवल विचार के रूपों से मतलब है' ?

३—शास्त्र या विद्या

(१२) तर्कशास्त्र क्या है, शास्त्र या विद्या, या दोनों ? विचार कीजिए।

(१३) शास्त्र और विद्या में क्या अन्तर है ? और, समझाइए कि तर्कशास्त्र को 'शास्त्रों का शास्त्र' क्यों कहते हैं।

४—तर्कशास्त्र का दूसरे शास्त्रों से सम्बन्ध

(१४) "तर्कशास्त्र सादर्श अथवा विधायक शास्त्र है।" स्पष्ट समझाइए।

(१५) क्षेत्र और विधि में, तर्कशास्त्र मानसशास्त्र से किस प्रकार भिन्न है ? समझाइए।

(१६) तर्कशास्त्र से तत्वशास्त्र का क्या सम्बन्ध है ? समझाइए।

५—विचार

(१७) 'विचार' क्या है; और 'विचार' का भाषा से क्या सम्बन्ध है ?

(१८) 'प्रत्यय' का स्वरूप क्या है ? स्पष्ट समझाइए कि प्रत्यय कैसे बनते हैं, वे मन में कैसे बने रहते हैं, और दूसरों पर उन्हें किस प्रकार प्रकट कर सकते हैं।

(१९) विचार के रूप और विषय में क्या अन्तर है ? विचार की रूपविषयक और विषयविषयक प्रामाणिकता में क्या अन्तर है ? समझाइए।

(10) Distinguish between Formal and Material Logic and indicate their uses in the practical affairs of life.

(11) What do you understand by saying that 'Logic is concerned with the forms of thinking ?'

3. LOGIC AS SCIENCE AND ART.

(12) What is Logic ? Is it a science or an art, or both ? Discuss.

(13) Distinguish between a Science and an Art, and explain why Logic has been called the Science of Sciences.

4. RELATION OF LOGIC TO OTHER SCIENCES.

(14) 'Logic is a normative or regulative science.' Fully explain.

(15) Contrast the Province and Method of Logic with those of Psychology.

(16) Explain the relation of Logic to Metaphysics.

5. THOUGHT.

(17) Explain what is meant by thought, and what is the relation of Thought to Language.

(18) Explain the nature of the Logical concepts. Explain how concepts are formed, and by what means they are retained in the mind and communicated to others.

(19) Distinguish between (*a*) the form and matter of thought; and (*b*) between formal and material validity of thought.

(२०) तर्कशास्त्र का व्याकरण से क्या सम्बन्ध है ? समझाइए ।

६—पद-विचार

(२१) 'शब्द' और 'पद' में क्या अन्तर है ? क्या वे तर्कशास्त्र के अध्येय हैं ? यदि हाँ तो कैसे ?

(२२) 'पद' और 'नाम' में क्या सम्बन्ध है ? 'पद' की पहचान क्या है ?

(२३) पद का 'विस्तार' उसकी 'गहनता' से किस प्रकार भिन्न है ? यह कहने का क्या अर्थ है कि जब एक में वृद्धि होती है तो दूसरे में ह्रास होता है; और यह कहाँ तक ठीक है ?

(२४) 'व्यक्तिबोध' में किन व्यक्तियों का, और 'स्वभावबोध' में किन धर्मों का बोध होता है ?

(२५) " 'व्यक्तिबोध' की दृष्टि से 'जाति' में 'उपजातियाँ' अन्तर्गत होती हैं; किंतु 'स्वभावबोध' की दृष्टि से उल्टे 'उपजाति' में 'जाति' चली आती है ।" यह कैसे ?

(२६) निम्न पदों का तर्कशास्त्रीय परिचय दीजिए—महाविद्यालय; काशी-विश्वविद्यालय; संसार का सर्वोच्च शिखर; पूरा अन्धापना; अन्धा आदमी; सद्गुण; राममोहन; विद्यार्थी; निस्तेज ।

(२७) पद के 'संग्राहक' और 'विग्राहक' प्रयोग में क्या अन्तर है ? इस में कैसे भ्रम उत्पन्न होता है, दो उदाहरण दे कर समझाइए ।

(20) Explain the relation of Logic to Grammar.

6. TERMS.

(21) Distinguish between Words and Terms. Do they come within the province of Logic ? If so, how ?

(22) Exhibit the relation between Terms and Names, and sum up the characteristics of aTerm.

(23) Explain the distinction between the intension and the extension of Terms. What is the meaning of the statement that as the one increases the other decreases, and what are the limits to the accuracy of the statement.

(24) What individuals are contained in the denotation and what attributes are contained in the connotation of a Term.

(25) "From the denotative point of view the species is contained in the genus, but from the connotative point of view the genus is contained in the species." Explain.

(26) Describe the Logical character of the following terms–(1) College; (2) Banaras Hindu University; (3) the Highest Mountain in the World; (4) Perfect Blindness; (5) Blind Person; (6) Virtue; (7) Ram Mohan; (8) Student; (9) Spiritless.

(27) Explain and distinguish between collective and distributive uses of Terms. Give two examples to illustrate the errors which arise from their confusion.

(२८) इन प्रश्नों पर विचार कीजिए—

(क) व्यक्तिवाचक संज्ञा क्या स्वभावबोधक पद है ?

(ख) क्या भाववाचक पदों के भी स्वभावबोधक और निःस्वभावबोधक दो विभाग होंगे ? वे व्यक्तिवाचक होते हैं या जातिवाचक ?

(ग) विशेषण द्रव्यवाचक पद हैं या भाववाचक ?

(२९) ऐसा कहने में क्या दोष है कि—यह जरूर कलम है, क्योंकि यह पेन्सिल नहीं है ? तर्कशास्त्र की दृष्टि से इस उदाहरण में क्या अभिव्यक्त होता है ?

७—लक्षण

(३०) 'शास्त्रीय लक्षण' के रूप में किन बातों का होना आवश्यक है ? उसकी सीमायें क्या हैं ?

(३१) 'सदोष लक्षण' के कितने प्रकार हैं ? उदाहरण दे कर समझाइए ।

(३२) 'लक्षण' का लक्षण क्या है ? सविस्तार व्याख्या कीजिए ।

(३३) पद के व्यक्तिबोध और स्वभावबोध से उसके 'लक्षण' का क्या सम्बन्ध है ?

(३४) इन लक्षणों की परीक्षा कीजिए—

(क) मनुष्य बिना पाँख वाला प्राणी है

(ख) मनुष्य खाना पकाने वाला प्राणी है

(ग) मनुष्य हँसने वाला प्राणी है

(घ) चावल एक चीज है जो भारतवर्ष में खाई जाती है

(ङ) विनोद का ख्याल करे और दिखावे गम्भीरता, यही हास्य है

(च) न्यूनकोण-त्रिभुज वह है जिसका एक कोण न्यून हो

(छ) मनुष्य एक बहुश्रुत प्राणी है

(ज) समकोण-त्रिभुज वह है जिसमें एक कोण सम हो, और दो कोण न्यून हों

(28) Discuss the following:—

(*a*) Are proper names connotative ?

(*b*) Are abstract terms divisible into connotative and non-connotative ? Are they singular or general ?

(*c*) Are adjectives concrete or abstract ?

(29) What is the fallacy in the statement—it must be a pen, because it is not a pencil ? Fully explain the Logical significance underlying this example.

7. DEFINITION.

(30) What are the formal conditions and limits of a Logical Definition ?

(31) State and exemplify the various kinds of faulty definitions.

(32) Define 'Definition', and explain the same fully.

(33) What has the Definition of a term to do with the connotation and denotation of the same ?

(34) Test the following definitions—

1. Man is a featherless animal.
2. Man is a cooking animal.
3. Man is a laughing animal.
4. Rice is an article which is used as food in India.
5. Humour is thinking in jest while feeling in earnest.
6. An acute-angled triangle is that which has an acute angle.
7. Man is a learned animal.
8. A right-angled triangle is that which has a right angle and two acute angles.

(झ) आक्सीजन एक गैस है

(ञ) शक्ति वह है जो गति उत्पन्न करे

(ट) समबाहु-त्रिभुज वह त्रिभुज है जिसके तीनों कोण बराबर हों

(ठ) सुख का न होना दुःख है

(ड) ताँबा गुलाबी रंग का एक धातु है, जिसमें औरों की अपेक्षा अधिक आवाज होती है, और जो लोहा को छोड़ सभी से अधिक चीमड़ है

(ढ) प्राणभूत व्यापारों का योग ही जीवन है

(ण) एक अजीब मिजाज का होना ही झक्कीपना है

(त) त्रिभुज एक समक्षेत्र है जो तीन बराबर सीधी रेखाओं से घिरा होता है

८—विभाग

(३५) 'शास्त्रीय विभाजन' के नियमों को लिखिए और उनकी व्याख्या कीजिए। उन नियमों के उल्लंघन से जो दोष उत्पन्न होते हैं उन्हें भी समझाइए।

(३६) 'लक्षण' और 'विभाजन' की प्रक्रियाओं में क्या सम्बन्ध है? शास्त्रीय विभाजन के उपयोग और सीमायें क्या हैं?

(३७) इन विभाजनों की परीक्षा कीजिए—

(क) 'कलम' के दो विभाग—लोहे की और पाँख की।

(ख) 'प्राणी' के दो विभाग—रीढ़ वाले और बेरीढ़ वाले।

(ग) 'भौतिक पदार्थ' के इतने विभाग—घन, तरल, भारी और हलका।

(घ) 'रंग' के इतने विभाग—सफेद, काला और हरा।

(ङ) 'भारतीय' के इतने विभाग—धनी, गरीब, मलेरिया-रोग-ग्रस्त और क्षय-रोग-ग्रस्त।

(च) 'प्रकाश' के इतने विभाग—कृत्रिम, लाल और चाँदनी।

9. Oxygen is a gas.

10. Force is that which produces motion.

11. An equilateral triangle is a triangle with three equal angles.

12. Pain is the absence of pleasure.

13. Copper is an orange-coloured metal, more sonorous than any other, and the most elastic of any, except iron.

14. Life is the sum of vital functions.

15. Eccentricity is a peculiar idiosyncracy.

16. A triangle is a plane figure enclosed by three equal straight lines.

8. DIVISION.

(35) State and explain the rules of Logical Division, and point out the faults that arise from their violation.

(36) Explain the relation between Definition and Division, and point out the uses and limits of the later.

(37) Test the following divisions :—

(*a*) Pens into Steel pens and Quill pens.
(*b*) Animals into vertibrate and invertibrate.
(*c*) Material bodies into solids, liquids, heavy and light.
(*d*) Colour into whiteness, blackness and greenness.
(*e*) Indians into rich, poor, malarious, consumptive.
(*f*) Lights into artificial light, red light and moon light.

(छ) 'पद' के इतने विभाग—व्यक्तिवाचक, भाववाचक और स्वभाववाचक।

(ज) 'मनुष्य' के इतने विभाग—सभ्य, लम्बे, ईमानदार और पादरी।

(झ) 'मनुष्य' के इतने विभाग—पुरुष, स्त्री और बच्चे।

(ञ) 'कुर्सी' के इतने विभाग—पैर, पीठ और आसन ।

(ट) 'मनुष्यता' के इतने विभाग—शरीर, मन और आत्मा।

(ठ) 'व्याकरण' के इतने विभाग—वाक्यविचार और पदविचार।

(ड) 'किताब' के इतने विभाग—सदाचारी, दुराचारी और पट्ठ।

(ढ) 'ट्रेन' के इतने विभाग—लोकल और बिजली से चलने वाली।

(ण) 'ग्रेट ब्रिटेन' के इतने विभाग—इङ्गलैण्ड, स्काटलैण्ड और वेल्स।

(त) 'साँप' के इतने विभाग—जहरीले और अहिंसक।

(थ) 'कालेज' के इतने विभाग—साइन्स, आर्ट और कानून के।

(द) 'किताब' के इतने विभाग—अच्छी, कीमती और बेकार।

(ध) 'मनुष्य' के इतने विभाग—दुष्ट और मूर्ख।

६—वाक्य

(३८) 'अध्यवसाय', 'शास्त्रीय वाक्य' और 'लौकिक वाक्य' में क्या अन्तर है, समझाइए। इनमें तर्कशास्त्र किसका अध्ययन करता है ?

(३९) तर्कशास्त्र में वाक्य का क्या अभिप्राय है ? वाक्य के अङ्ग कौन हैं; और इनमें परस्पर क्या सम्बन्ध है ?

(४०) वाक्य में विधेय कितने प्रकार के पदार्थ हो सकते हैं; तथा विधेय-पद के उद्देश-पद के साथ कितने प्रकार के सम्बन्ध हो सकते हैं ?

(g) Terms into singular, abstract and connotative.
(h) Men into civilised, tall, honest and clergyman.
(i) Human beings into men, women and children.
(j) Chair into legs, back and seat.
(k) Human nature into body, mind and siprit.
(l) Grammar into Syntax and Prosody.
(m) Books into moral, immoral and clever.
(n) Trains into local and electric.
(o) Great Britain into England, Scotland and Wales.
(p) Snakes into poisonous and harmless.
(q) Colleges into Science, Arts and Law Colleges.
(r) Books into good, expensive and worthless,
(s) Men into knaves and fools.

9. PROPOSITION.

(38) Distinguish carefully between a Judgment, a Proposition and a Sentence; and explain what does Logic deal with.

(39) What is meant by a Proposition in Logic ? What are its parts, and how are the parts related to each other ?

(40) What do you mean by Categories and Predicables; how can they be studied in relation to Proposition ?

(४१) सविस्तार समझाइए कि 'वाक्य के अभिप्राय' का क्या अर्थ है।

(४२) विधान के भिन्न-भिन्न सिद्धान्त क्या हैं ? किस सिद्धान्त को आप ठीक समझते हैं ?

(४३) अरस्तू ने विधेय के पदार्थों की, तथा उसके सम्बन्धों की जो अलग-अलग सूची बनाई है वे एक दूसरे से किस प्रकार भिन्न हैं ? उदाहरण दे कर सम्बन्धों के शास्त्रीय महत्व को समझाइए।

(४४) वाक्य के 'यथार्थ' और 'शाब्दिक' अन्तर के विचार में विधेय पद के सम्बन्धों का विचार किस प्रकार अन्तर्गत होता है ?

(४५) वाक्य कितने प्रकार के हैं ? उनमें परस्पर क्या सम्बन्ध है ?

(४६) एकवचनात्मक वाक्य का 'अंश' क्या है ? इन शब्दों के प्रयोग में जो भ्रामकता है उसे साफ समझाइए—'कुछ', 'कोई', 'सभी', 'विरले', 'बहुतेरे', और 'अधिकांश'।

(४७) 'बलाबल' की दृष्टि से हेतुफलाश्रित वाक्य का क्या स्थान है ?

(४८) क्या यह कहना ठीक है कि सभी वाक्य विधानात्मक और निरपेक्ष ही होने चाहिए ?

(४९) वाक्यों में विधेय पद के 'अंश' का निश्चय कहाँ तक हो सकता है ? इसके सिद्धान्त की परीक्षा कीजिए।

(५०) 'वाक्य में पदों के विस्तार' से क्या समझते हैं ? सिद्ध कीजिए कि विधेयपद का विस्तार वाक्य के 'गुण' पर निर्भर करता है।

(५१) 'भेद-सूचक वर्ग' बनाइए, और उसे स्पष्ट समझाइए।

(41) Fully explain what do you mean by the Import of Proposition.

(42) What are the theories of Predication ? Which theory do you think to be right ?

(43) What distinguishes Aristotle's list of Predicables from his list of Categories ? Explain, with illustrations, the scientifically important implications of the former.

(44) Have the Predicables anything to do with the distinction between Real and Verbal Proposition ?

(45) How many kinds of Propositions are there ? What is the mutual relation amongst them ?

(46) What is the Quantity of the Singular Propositions ? Bring out clearly the ambiguities attaching to the words "Some", "Any", "All", "Few", "Many" and "Most".

(47) What is the modality of a hypothetical proposition ?

(48) Is it correct to say that all propositions must be affirmative and categorical ?

(49) Discuss briefly the theory of the Quantification of the Predicate.

(50) What is meant by Distribution of Terms in a Proposition ? Show that the distribution of the predicate depends upon the quality of the proposition.

(51) Draw the Square of Opposition and explain it.

१०—अनुमान

(५२) अनुमान क्या है ? अनन्तरानुमान और परंपरानुमान में क्या भिन्नता है ? सोदाहरण व्याख्या कीजिए ।

(५३) (क) 'विरुद्ध वाक्यों' के सहारे सिद्ध कीजिए कि दोनों के दोनों 'उपभेदक वाक्य' एक साथ असत्य नहीं हो सकते ।

(ख) 'उपभेदक वाक्यों' के सहारे सिद्ध कीजिए कि दोनों के दोनों 'भेदक वाक्य' मिथ्या हो सकते हैं ।

(५४) क्या एक ही वाक्य के आधार पर निष्कर्ष निकालना सम्भव है ? यदि हाँ, तो कितने प्रकार से ? उन विधियों के नाम और संक्षिप्त परिचय लिखिए ।

(५५) अनन्तरानुमान के स्वरूप का निरूपण कीजिए । क्या यह सचमुच अनुमान की कोटि में आता है ?

(५६) 'सम व्यत्यय' और 'विषम व्यत्यय' में क्या अन्तर है ? 'निषेध-मुख से व्यत्यय' क्या है ?

(५७) 'परिवर्तित-व्यत्यय' और 'विपर्यय' में क्या अन्तर है ? ये परंपरानुमान के रूप हैं, या अनन्तरानुमान के ? क्या सभी वाक्यों के परिवर्तित-व्यत्यय और विपर्यय होंगे ? उदाहरण दे कर समझाइए ।

(५८) 'विपर्यय' क्या है ? इसके कितने रूप हैं ? वास्तविक उदाहरण दे कर समझाइए ।

(५९) 'ओ' वाक्य का व्यत्यय करना, और 'ई' वाक्य का परिवर्तित-व्यत्यय करना क्यों सम्भव नहीं है ? वास्तविक उदाहरण दे कर समझाइए ।

(६०) "सभी 'मनुष्य' 'मरणशील' हैं", इस वाक्य से जितने अनन्तरानुमान के निष्कर्ष निकल सकते हैं निकालिए ।

10. INFERENCE.

(52) What is meant by Inference ? Explain, illustrate and examine the distinction between Immediate and Mediate Inference.

(53) (a) Prove by means of the contradictory propositions that the sub-contrary propositions both cannot be false.

(b) Show by means of the sub-contrary propositions that the contrary propositions may both be false.

(54) Is it ever possible to derive a conclusion from a single premise ? If it is, name and define the different ways of doing it.

(55) Indicate the character of Immediate Inference. Can it properly be regarded as an inference ?

(56) Distinguish between Simple Conversion and Conversion by limitation. What is Conversion by Negation ?

(57) Distinguish between Contraposition and Inversion. Are they forms of mediate or immediate inference ? Can every proposition be contraposed or inverted ? Illustrate your answer by examples.

(58) What is Inversion, and what are its different forms ? Illustrate with an example.

(59) Explain why the proposition 'O' cannot be converted, and the proposition 'I' cannot be contraposed.

(60) Draw all the conclusions you can by immediate inference from 'All men are mortal'.

(६१) न्यायवाक्य क्या है स्पष्ट समझाइए। न्यायवाक्य की रचना क्या है ? इसके कितने प्रभेद हैं ?

(६२) अरस्तू के मत से न्यायवाक्य की तर्कप्रणाली का मूलभूत सिद्धान्त क्या है ? समझाइए।

(६३) न्यायवाक्य के कितने अवयव होते हैं ? उनके क्या नाम हैं, और क्यों ?

(६४) न्यायवाक्य में कितने पदों का प्रयोग होता है ? यदि उनकी संख्या में न्यूनाधिक हो तो क्या हानि ? न्यायवाक्य के अवयवों में उनके स्थान की क्या अवस्था है ?

(६५) न्यायवाक्य में हेतुपद क्या काम करता है ? यह समझाइए कि हेतुपद को कम से कम एक बार सर्वांशी होना क्यों आवश्यक है।

(६६) "न्यायवाक्य हेतुफलाश्रित-स्वरूप का होता है"—इसका क्या माने साफ-साफ लिखिए। सिद्ध कीजिए कि असत्य वाक्यों के आधार पर भी सत्य निष्कर्ष निकल सकता है। सत्य वाक्यों के आधार पर क्या असत्य निष्कर्ष निकल सकता है ?

(६७) न्यायवाक्य के 'क्रम' का क्या अर्थ है ? 'क्रमों' की संख्या क्या है ? उनकी अपनी-अपनी विशेषतायें और प्रयोग क्या हैं ?

(६८) न्यायवाक्य का 'संयोग' क्या है ? संभव 'संयोग' कितने हैं ? 'संभव' और 'सिद्ध' संयोगों में क्या अन्तर है ?

(६९) किन-किन विधि से 'सिद्ध संयोग' निश्चय किए जा सकते हैं ? समझाइए।

(७०) क्या दो विशेष वाक्यों के आधार पर निष्कर्ष निकल सकता है ? यदि हाँ, तो कैसे ? सोदाहरण लिखिए।

(61) Fully explain what is Syllogim, and how it is constructed. How many kinds of Syllogism are there ?

(62) What, according to Aristotle, is the basic principle of Syllogistic reasoning ? Fully explain.

(63) How many propositions are there in a Syllogism ? What are their names, and Why ?

(64) How many terms are there in a Syllogism ? What is the harm if they are more or less ? Is there any definite arrangement of their locations in the Syllogism ?

(65) What is the function of the "middle term" in a Syllogism ? Explain why the middle term should be distributed at least once.

(66) Clearly explain what do you mean by the 'hypothetical character of syllogism'. Show that false premises of a syllogism may lead to a true conclusion. Can a false conclusion be derived from true premises ?

(67) What do you mean by a Figure ? How many Figures are there ? Indicate the peculiarities and uses of the different Figures.

(68) What is a mood ? How many possible moods are there ? Distinguish between 'possible' and 'valid' moods.

(69) In what different ways can the valid Moods be determined ? Explain.

(70) Can a conclusion be drawn from two particular propositions ? If so, how ? Give concrete example to prove your answer.

(७१) न्यायवाक्य में पदों के विस्तार के सम्बन्ध में जो साधारण नियम हैं उनका उल्लेख करके उन्हें सिद्ध कीजिए।

(७२) कुछ तर्कशास्त्रियों ने विचार किया है कि प्रत्येक न्यायवाक्य-'क्रम' अपने-अपने खास लक्ष्य की सिद्धि करते हैं—यह कहाँ तक ठीक है ?

निम्न बातों के लिए कौन 'क्रम' अधिक उपयोगी हैं—(क) प्रतिवादी के निष्कर्ष का खण्डन करने के लिए, (ख) किसी निषेधात्मक निष्कर्ष की स्थापना के लिए, (ग) सामान्य निष्कर्ष सिद्ध करने के लिए ?

(७३) पहले 'क्रम' में 'ओ'-'ओ'-'आ', तीसरे 'क्रम' में 'आ'-'ए'-'ई', और चौथे 'क्रम' में 'आ'-'ई'-'ई' संयोग क्यों असिद्ध होते हैं ?

(७४) निम्न अवस्थाओं में किसी न्यायवाक्य के विषय में क्या निश्चय किया जा सकता है—(क) यदि एक ही पद एक ही बार सर्वांशी हो, (ख) यदि एक ही पद दो बार सर्वांशी हो, (ग) यदि केवल दो पद, एक-एक बार, सर्वांशी हों ?

(७५) 'शुद्ध-हेतुफलाश्रित न्यायवाक्य' से क्या समझते हैं ? उसकी शुद्धि-अशुद्धि की परीक्षा कैसे की जाती है ? वास्तविक उदाहरण दे कर समझाइए, और उसे 'निरपेक्ष' रूप में ले आवें।

(७६) न्यायवाक्य की परीक्षा करने की कौन-कौन सी विधियाँ हैं ? 'रूपान्तर-करण' की विधि क्या है ? उदाहरण दे कर समझाइए।

(७७) 'ए'-'आ'-'ओ', 'ए'-'आ'-'ए', 'ओ'-'आ'-'ओ', और 'आ'-'ए'-'ए'—इन न्यायवाक्यों के वास्तविक उदाहरण उन क्रमों में दीजिए जिनमें ये सिद्ध होते हैं, और उन्हें पहले क्रम में ले आइए।

(71) State and prove the General Rules that relate to the distribution of terms in a Syllogism

(72) Explain—'Logicians have thought that each figure was best suited for certain special purposes'. Which figure is most convenient (*a*) for overthrowing an adversary's conclusion, (*b*) for establishing a negative conclusion, (*c*) for proving a universal conclusion ?

(73) Wherefore is OAO invalid in Fig. I, AEI in Fig. III and AII in Fig. IV ?

(74) What can be determined respecting a Syllogism under each of the conditions—

(*a*) When only one term is distributed, and that only once;

(*b*) When only one term is distributed, and that twice;

(*c*) When two terms only are distributed, each only once ?

(75) What is a Pure Hypothetical Syllogism ? How do you test it ? Give concrete examples, and reduce it to the Categorical form.

(76) What are the different methods of testing Syllogism ? Explain and illustrate the method of testing Syllogism by Reduction.

(77) Give concrete examples of EAO, EAE, OAO and AEE in the Figures in which they are valid, and reduce them to the First Figure.

(७८) न्यायवाक्य के साधारण नियमों से इनकी सिद्धि कीजिए—

(i) यदि 'उद्देशवाक्य' निषेधात्मक हो, तो हेतुपद केवल एक बार सर्वांशी होता है।

(ii) चौथे 'क्रम' में कोई आधारवाक्य विशेष-निषेधात्मक नहीं हो सकता है, और न निष्कर्ष सामान्य विधानात्मक हो सकता है।

(iii) यदि आधारवाक्य में 'वि' विधेय हो, तो उद्देशवाक्य विधानात्मक ही होगा। और यदि आधारवाक्य में 'उ' विधेय हो तो निष्कर्ष सामान्य विधानात्मक नहीं हो सकता।

(iv) सिद्ध न्यायवाक्य-संयोग में यदि 'हे' दो बार सर्वांशी हो, तो उसके दोनों आधारवाक्य सामान्य होंगे, और निष्कर्ष विशेष होगा।

(v) निषेधात्मक 'संयोग' में, विधेयवाक्य विशेष-विधि नहीं हो सकता।

(vi) जिस न्यायवाक्य का उद्देशवाक्य सामान्य-निषेधात्मक है उसका निष्कर्ष भी (यदि 'संयोग' 'मन्द' न हो) वैसा ही होगा।

(vii) यदि उद्देशवाक्य में 'उ' विधेय हो, और विधेयवाक्य में 'वि' उद्देश्य हो, तो निष्कर्ष सामान्य-विधि नहीं हो सकता।

(viii) पहले 'क्रम' में, निष्कर्ष का 'गुण' विधेयवाक्य के अनुकूल होगा; और 'अंश' उद्देशवाक्य के।

(ix) यदि एक भी आधारवाक्य विशेष हो, तो 'हे' दो बार सर्वांशी नहीं हो सकता।

(x) केवल तीसरे क्रम में ही, 'ओ' विधेयवाक्य हो सकता है; और, केवल दूसरे 'क्रम' में ही वह उद्देशवाक्य हो सकता है।

(78) Prove the following by the general syllogistic rules—

(*i*) If the minor premise be negative, the middle term is but once distributed.

(*ii*) In the Fourth Figure neither of the premises can be particular negative, nor the conclusion universal affirmative.

(*iii*) When the major term is predicate in its premise, the minor premise must be affirmative; also when the minor term is predicate in its premise, the conclusion cannot be universal affirmative.

(*iv*) If the middle term be twice distributed in useful Moods, the syllogism has universal premises and particular conclusion.

(*v*) In a negative Mood, the major premise cannot be particular affirmative.

(*vi*) In a syllogism with the minor premise universal negative, the conclusion (unless weakened) must also be the same.

(*vii*) The conclusion cannot be universal affirmative, when the minor term is predicate in the minor premise and the major term subject in the major.

(*viii*) In the First Figure the conclusion must have the quality of the major and the quantity of the minor premise.

(*ix*) The middle term cannot be distributed twice when a premise is particular.

(*x*) An O proposition can be the major premise only in the Third Figure, and the minor premise only in the Second.

(xi) निष्कर्ष से कम से कम एक 'पद' अधिक आधारवाक्यों में अवश्य सर्वांशी होता है।

(xii) निष्कर्ष में जितने पद सर्वांशी हों उससे दो से अधिक पद आधारवाक्यों में सर्वांशी नहीं हो सकते ।

(xiii) आधारवाक्यों में 'सर्वांशी' पदों की संख्या निष्कर्ष में वैसे पदों की संख्या से एक से अधिक नहीं हो सकती ।

(xiv) यदि उद्देशवाक्य निषेधात्मक हो, तो विधेयवाक्य अवश्यमेव सामान्य होगा; और यदि विधेयवाक्य विशेष हो तो उद्देशवाक्य अवश्यमेव निषेधात्मक होगा ।

(७९) हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष न्यायवाक्य के मूल नियम क्या हैं ? उन्हें प्रमाणित कीजिए। उनके उल्लंघन से क्या दोष उत्पन्न होते हैं ? वे दोष निरपेक्ष-न्यायवाक्य के किन दोषों के समकक्ष हैं ? उदाहरण दे कर समझाइए ।

(८०) 'विधायक' और 'विघातक' हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष न्यायवाक्य क्या हैं ? वास्तविक उदाहरण दे कर समझाइए ।

(८१) वैकल्पिक-निरपेक्ष न्यायवाक्य के स्वरूप की व्याख्या कीजिए । उसके भिन्न रूपों को दिखाइए, तथा उनके नियमों को सकारण समझाइए ।

(८२) 'मेण्डक-प्रयोग' क्या है ? इसके कितने रूप होते हैं ? उदाहरण दे कर स्पष्ट समझाइए ।

(८३) 'मेण्डक-प्रयोग' की शुद्धि के लिए रूप-विषयक और विषय-विषयक किन-किन बातों की पूर्ति होनी चाहिए, उल्लेख कर के समझाइए ।

(*xi*) There must be at least one more term distributed in the premises than in the conclusion.

(*xii*) The number of distributed terms in the premises cannot exceed those in the conclusion by more than two.

(*xiii*) The number of undistributed terms in the premises cannot exceed those in the conclusion by more than one.

(*xiv*) A negative minor premise necessitates a universal major, and a particular major premise precludes a negative minor.

(79) Prove the rules of inference applicable to Hypothetical Categorical Syllogisms. What fallacies arise from this violation ? To what Categorical fallacies do they correspond ? Illustrate your answer.

(80) Explain and illustrate the Modus Ponens and Modus Tollens of Hypothetical Categorical Syllogism.

(81) Explain the nature of Disjuctive Categorical Syllogisms. Exhibit their different forms, giving their rules, and the reason for them.

(82) Explain and illustrate the nature of Dilemmatic argument, what are its various forms ?

(83) State and explain the formal and material conditions of a valid Dilemma.

(८४) गलत 'मेण्डक प्रयोग' को किन विधियों से परास्त कर सकते हैं ? इसी सिलसिले में बताइए कि, 'प्रत्याख्यानविधि' क्या है। एक वास्तविक उदाहरण ले कर उसका प्रत्याख्यान कीजिए।

(८५) क्या मिश्र-न्यायवाक्य अनन्तरानुमान के रूप कहे जा सकते हैं ? पूर्ण विवेचन कीजिए।

(८६) 'संक्षिप्त-न्यायवाक्य' क्या है ? 'संक्षिप्त-न्यायवाक्य के रूप' से आप क्या समझते हैं ? उन रूपों को स्पष्ट दिखलाइए।

(८७) 'युक्ति-माला' क्या है ? 'उपकारक' और 'उपकृत' न्याय-वाक्य में क्या अन्तर है ? 'उपकारक-गामी' और 'उपकृत-गामी' युक्ति-मालाओं के अन्तर को समझाइए।

(८८) 'अनुलोम-युक्तिमाला' क्या है ? यह कितनी तरह की होती है ? प्रत्येक के वास्तविक उदाहरण दीजिए।

(८९) 'प्रतिलोम-युक्तिमाला' क्या है ? यह कितने प्रकार की होती है ? उदाहरण दे कर समझाइए।

(९०) शास्त्रीय अनुमान में किस बात की पूर्ति होनी चाहिए ? 'न्यायवाक्य' क्या शास्त्रीय अनुमान का रूप है ?

(९१) "न्यायवाक्य के विरुद्ध जो यह आक्षेप लगाया जाता है कि इसमें स्वाश्रय-दोष है, उसका कारण बात को ठीक न समझ सकना है"—विवेचन कीजिए।

(९२) "सभी अनुमान विशेष से विशेष का होता है", इस कथन की परीक्षा कीजिए।

(84) What are the different ways of refuting a faulty Dilemma? Fully explain in this connection what do you mean by 'Rebutting a Dilemma.' Take a concrete example of the Dilemma and rebut it.

(85) Are mixed syllogism forms of Immediate Inference? Discuss.

(86) What is an Enthymeme? What do you mean by the Order of an Enthymeme? What are the different orders?

(87) What is meant by a Train of Syllogistc Reasoning? Distinguish between a Prosyllogism and an Episyllogism, and between a Prosyllogistic Train and an Episyllogistic Train.

(88) What is a Sorites? Exhibit the different kinds of Sorites, and give a concrete example of each.

(89) What is an Epicheirema? Explain the different forms of Epicheirema, illustrating your answer by examples.

(90) In what does Logical Inference consist? Is the syllogism a form of Logical Inference?

(91) "The charge against the Syllogism that it involves the 'petitio principii' is founded on a misunderstanding." Discuss.

(92) 'All inference is from particulars to particulars.' Test this statement.

अनुक्रमणी

(काले अक्षरों में छपे शब्द व्यक्तिवाचक संज्ञायें हैं)

अकर्तृक वाक्य । ८६
अकबर । ८१
अच्छी हिन्दी । १०
अतिव्याप्त लक्षण । ३५
अतिव्याप्ति । ६५
अधिक । ८४
अध्यवसाय । ३३, ३४, ७७
अध्यवसाय की सम्बद्धता । २७३
अध्यवसाय में प्रक्रिया । २७१
अध्यवसाय या वाक्य । ९०
अनन्तरानुमान । १२०
अनन्तरानुमान और परंपरानुमान । १२१
अनन्तरानुमान से इन नियमों का सम्बन्ध । २८२
अनुक्तांश वाक्य । ९०
अनुचित विधेय । १७६, १७७, १८०, १८४, १९१, १९२, १९७
अनुज्ञात्मक वाक्य । ८०
अनुभय संक्षिप्त युक्तिमाला । २६२
अनुभय संकुल । २६४
अनुमान । २०, २१, २२, २३
अनुलोम । २५४
अनुलोम युक्तिमाला । २५५
अनुलोम विधि । २०२
अनेक । ८४
अनेकशब्दात्मक । ५०
अन्त्य जाति । ६०
अन्य साधारण वाक्य । ८५
अन्योन्याश्रय-दोष । ६७
अभाव । ५४
अभाव पद । ५५
अभावात्मक विभाग । ७५
अमन्द । २२२
अमेरिका । ४८
अपवादांश । ९९
अपवादात्मक वाक्य । ८६, ९९
अपूर्ण विपर्यय । ३५
अरस्तू । १, ३०, २००
अरस्तू और गोक्लेनियस । २५९
अरस्तू के मत से । २५७

अलबर्ट्स मॅग्नस् । ३७
अलंकार-दोष । ६७
अलैंगिक । १२३
अल्डरिच । ३७
अवगति-क्षेत्र । ६१, ७४
अवस्था । ७८
अव्यय । ७७
अव्यवहित अनुमान । १२३
अव्याप्त विभाग । ७२
अव्याप्ति-दोष । ६६
अंश की दृष्टि से । ९२
असमूहवाचक । ५२
असर्वांशी । १०५
असर्वांशी हेतु । १७९
असाधारण । ६५
असाधारणता । ६४
अस्वभाववाचक । ५७
आ । १०१
आउ ओवि एदो ईनहीं । १०८
आकस्मिक । ६२
आकस्मिक धर्म । ६३, ७९, १०४
आठ रूपों की स्थापना । १०८
आधारवाक्य । २४, १२०
आधारवाक्यों के सम्भव संयोग । १६०
आनन्तर्य । ८८
आ-नि-आ । १०९
आ-नि-ई । १०९
आप्तवचन । २०-३
आभिधार्मिक विभाग । ६९, ७१
थोमसन, आर्चबिशप । ११०
आवश्यक मात्र । २२१
आवश्यकाधिक । २२१
आ-वि-आ, समव्याप्तिक । ११२
आ-वि-ई, विषम व्याप्तिक । ११२
आ-वि-आ । १०९
आ-वि-ई । १०९
आश्रय-आश्रित का सम्बन्ध । ९६
आसन्न उपजातियाँ । ७३
आसन्नजाति-आसन्नउपजाति । ५९
आस्था की दृष्टि से । ९२

इच्छार्थ । ८०
इञ्जीनियरिङ्ग । २९

ई । १०१
ई-नि-आ । १०७
ई-नि-ई । १०९
ई-वि-आ । १०९, ११३, ११४

उत्तम क्रम । २००
उत्तम संयोग । २००

उदाहरण । १५१
उद्देश । ८०
उद्देशवाक्य । १४८, १५३, १५४
उद्देशपद के सम्बन्ध में विधेयपद । ७८
उद्देश्य-विधेय-संयोजक । ४०
उपजाति । ४७, ७९, १०४
उपजातियों में बाँट देना । ७०
उपकारकगामी युक्तिमाला । २५६
उपकारक न्यायवाक्य । २५५
उपकृतगामी युक्तिमाला । २५५
उपकृत न्यायवाक्य । २५५
उपनय । १५१
उपनियम, न्यायवाक्य । २२६
उपपत्ति । १५२
उपभेदक । ११६
उपभेदवन्ता । ११८
उभय संकुल । २६५
उभय संकुल संक्षिप्त प्रतिलोम न्यायमाला । २६५
उभय सम्बद्ध । १२२
ऊहा । ३३, ३४,

———

ए । १०१
एकशब्दात्मक । ५०
एण्टिस्थेनेस । २८९
एथेन्स नगर की माता । २४६
एपिमेनाइडेस । २७८
ऍम्पसन । २४२
एवरेष्ट । १०६
एकवचनात्मक वाक्य । १००
कभी नहीं । ८४
कम से कम कुछ । ९७
क्रम । २८
कला । २८, २९
कल्पना । २८९
कल्पनावाद । ७, ८
काकोरी की डकैती । २८८
कामेस्ट्रेस् । १८२, १८४, १८६, १९९, २०५, २१०, २२३
कार्भेथ रीड । १५२
काल । ७८
कुछ । ८४
कुछ ही । ९७
कुरान । २४३
केलारेण्ट । १७७, १७९, १९९, २०४, २०५, २०८, २१३, २२३
केवल, सिर्फ ही । ८५
केसारे । १८३, १८४, १८६, १९९, २०४, २०९
केसारो । २२३

कोई कोई । ८४
कोई भी । ८४
कामेनेस । १९४, १९७, १९९, २०८, २१७, २२०, २२१, २२३
कोई मुश्किल से । ८५
कोलम्बस । ४८
क्रम । १५९
क्रिया । ७८
क्रीट । २७८
गुण । ७८
गुण और अंश दोनों की सम्मिलित दृष्टि से । ९०
गैलेनियन क्रम । २०१
गोक्लेनियस के मत से । २५८
घटकपद । १२३
चतुर्थक्रमसिद्धसंयोग । १९७
चित्रीकरण की समीक्षा । ११५
चेतना । ३२, ३४
जाति । ४७, ७०, ७९
जाति-उपजाति । ५७
जातिवाचक । ५०
जिब्राल्टर । २९२
जेवन । २७४
ज्योतिष शास्त्र । २, ११
ज्ञान । १९, २०, २२
ज्ञापक वाक्य । १०४
झूठे हैं का कुतर्क । २७७
डाक्टर मार्टिनिड । ८९
"डिकोटोमी" । ७४
"डक्टम डी ओम्नि एट नल्लो" । २८५
डी० मोरगन । २८२
तदात्मभाव । २७०, २७१, २८५
तद्भिन्नपरिहार । २७०, २७२, २७५, २८५
तर्कशास्त्र और तत्वशास्त्र । ३४
तर्कशास्त्र के लक्षण । ३५
तर्कशास्त्र या तर्कविद्या । २८
तर्कशास्त्र-सौन्दर्यशास्त्र-कर्तव्यशास्त्र-मानसशास्त्र । ३२
तात्पर्य की दृष्टि से । ९२, १०२
तीन धर्म । ६२
तृतीय क्रम सिद्धसंयोग । १९०, १९७
दारीई । १७६, १७९, १९९, २०६, २०८, २१०
दाराप्ती । १८७, १९३, १९९, २०६, २१२, २२२, २२३
दातीसी । १८८, १९३, १९९, २१४
दिशा । ७८
दीमारीस । १९०, १९३, १९९, २०६, २१३, २१८, २२३

दुर्बोध-दोष । ६७
दूरस्थजाति-दूरस्थउपजाति । ५९
द्रव्य । ७८
द्रव्य-बोध । ४३
द्रव्य-वाचक । ५३
द्वितीय क्रम-सिद्ध-संयोग । १८४
दोस्कामोक्स । २०३
धर्मवाद । ८९
नये पदों की उत्पत्ति । ४७
नाम । २८७
नामवाद । ८
निगमन । १५५
निगमनविधि । ९, २३, २४, १२१, १४९
निगमनवाक्य । २४, २६
नियमों में परस्पर सम्बन्ध । २८१
निरपेक्ष । १४२
निरपेक्षवाक्य । ९३
निषेध । ५४
निषेध पद । ५४
निषेध मुख । ६७
निषेध मुख से व्यत्यय । १२७
निषेध वाक्य । ९६
निषेध सूचक 'नहीं' शब्द । ९७
निषेध शब्द । ८२
निषेधात्मक दोष । ६८
निषेधसूचक स्वर । १०१
निष्कर्ष वाक्य । १२०, १४९
निश्चयपूर्वक । ८४
निश्चित वाक्य । १०२
नीम हकीम । २९
न्यायवाक्य । १४८
न्यायवाक्य के प्रकार । १५५
न्यायवाक्य में चार क्रम । १५७
न्यायवाक्यावली । २५५
न्यायवाक्यसन्निपात । २५५
न्यूटन । ३१, ४८
पक्ष । १५१, १५४
पक्षधर्मता । १५५
पद । ४१, २८७
पद के दो बोध । ४२
पदयोग्य । ४१
पदव्यत्यय । १२४
पदशब्द । २८८
पदसंयोज्य । ४२
पदायोग्य । ४२
पदार्थ । ७७
पदों का विभाजन । ४९
पदों में परस्पर भेद । ६०
पदों में परस्पर सम्बन्ध । ५७
परस्पर रूपान्तर । ४
परस्पर व्याप्त विभाग । ७३

परिमाण । ७८
परिवर्तन । १२८
परिवर्तित । १२९
परिवर्तित व्यत्यय । १३१
परिवर्तित व्यत्यय, सीधा सम्भव नहीं । १३४
परिवर्तित व्यत्यस्त । १३२
परिवर्तित व्यत्येय । १३२
परिवर्त्य । १२९
परिस्थिति । ७८
पर्यायोक्ति दोष । ६७
पालि भाषा । २४०
पूर्ण विपर्यय । १३५
पोर्ट रॉयल लॉजिक । २७
प्रतिज्ञा । १५१, १५३
प्रतिज्ञात वाक्य । १०२
प्रतिलोम । २५४
प्रतिलोम युक्तिमाला । २५६
प्रतिलोम विधि । २०२
प्रतिलोम विधि से रूपान्तरकरण । २०९
प्रत्यक्ष । २०
प्रत्यय । ३३, ३४, २८७
प्रत्याख्यान विधि । २५१
प्रत्येक । ८३
परिचायक पद । १२३
प्रथम क्रम-सिद्ध-संयोग । १७९
प्रमाणशास्त्र । ५१
प्रश्नात्मक वाक्य । ८०
प्राच्य और पाश्चात्य पद्धतियों में न्यायवाक्य । १५१
प्रायः । ८४
प्रोटेगोरस । २४७
फलविधान दोष । २३६
फाक्सोको । २०३, २०५
फेरीओ । १७८, १७९, १९९, २०५, २०८, २०९, २१४, २२४
फेरीसोन । १८९, १९३, १९९, २१६
फेलासोन । १८९, १९३, १९९, २१४, २२२
फेसापो । १९५, १९७, १९९, २०८, २१८, २२१, २२२
फेस्टीनो । १८३, १८४, १८६, १९९, २०५
फ्रेसीसोन । १९५, १९७, १९९, २०८, २१९, २२०, २२१
बलाबल की दृष्टि से । १०२, १४०
बहुतेरे । ८७
बारोको । १८२, १८४, १८६, १९९, २०३, २०५, २११
बार्बारा । १७५, १७९, १९९, २१२,